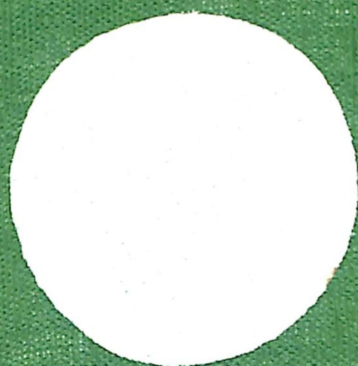
प्राकृत-प्रवेशिका

Introduction to Prakrit

आल्फ्रेड सी. वूल्नर

॥ अनुवादक ॥

बनारसीदास जैन



PRĀKRIT PRAVESIKĀ

OR

INTRODUCTION TO PRAKRIT

BY

ALFRED C. WOOLNER, M. A. (*Oxon.*), C. I. E.,
F. A. S. B.,

Principal, Oriental College, Lahore.

Translated into Hindi by

BANARSI DAS JAIN, M. A., Ph. D.,
Department of Hindi, Panjab University, Lahore.



Oriental Books Reprint Corporation
Book Publishers, 10-B, Subhash Marg, Delhi-6.

Second edition December, 1968
First published 1933
by The University of the Panjab, Lahore.



Exclusively Distributed by
MUNSHIRAM MANOHARLAL
ORIENTAL PUBLISHERS, & BOOKSELLERS
POST BOX 1165. NAI SARAK, DELHI-6.

PUBLISHED BY MRS. NIRMAL D. JAIN FOR ORIENTAL BOOKS REPRINT CORPORATION, POST BOX 1165, 10-B SUBHASH MARG, DELHI-6 AND PRINTED BY S. K. MEHRA AT TAJ OFFSET PRESS, DELHI-6

प्राकृत-प्रवेशिका

(INTRODUCTION TO PRAKRIT)

लेखक

श्री आल्फ्रेड सी० वूल्नर

एम. ए. (आक्सन), सी. आई. ई, एफ. ए. एस. बी.,

प्रिन्सिपल—ओरियण्टल कालेज, लाहौर

अनुवादक

बनारसीदास जैन, एम. ए., पी-एच. डी.

अध्यक्ष—हिन्दी विभाग,

पञ्जाब यूनिवर्सिटी, लाहौर ।

150/-

अनुवादक का वक्तव्य।

मूल ग्रन्थ के उद्देश्य का उल्लेख तो ग्रन्थकार ने अपने "उपोद्घात" में ही कर दिया है। अतः उसके दोहराने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। परन्तु मूल ग्रन्थ अङ्गरेज़ी भाषा एवं रोमन लिपि में होने के कारण केवल हिन्दी-संस्कृत जानने वालों के लिए पूर्णतया उपयोगी नहीं हो सकता था। भारत में प्राकृत का अभ्यास प्रायः जैन साधुओं तक ही परिमित है क्योंकि उनके धार्मिक साहित्य का अधिकांश इसी भाषा में है। अतः इन महानुभावों तथा इतर प्राकृत प्रेमी जनों की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए ग्रन्थकर्ता (पञ्जाब विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर महोदय) ने इसके हिन्दी अनुवाद की आयोजना की।

मेरे नेत्ररोग के कारण प्रूफ़ संशोधन का कार्य दूसरे सज्जनों से कराए जाने में अनुवाद के उत्तरार्द्ध में कई स्थलों पर मूल एवं नोटों में कुछ अशुद्धियां रह गई हैं जो आशा है अगले संस्करण में दूर कर दी जायंगी।

कृष्ण नगर लाहौर।
आषाढ शु० १५, सं० १९९०

बनारसीदास जैन।

गन्थआरेण णिअगुरुणो सिरि-

आर्थर एण्टनी मैक्डानल-

आचारिअ-णरिन्दस्स बइल्लातित्थत्थस्स

णाम

सव्वाइं उवआरणाइं सुमरिअ

इमस्स पोत्थस्स आदिम्मि

ससिणेहं

लिहिदं

[ए० सी० यूल्नर]

पहले संस्करण का उपोद्घात

संस्कृत की उच्च परीक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों में प्रायः एक न एक नाटक अवश्य सन्निविष्ट होता है, जिसका बहुत सा अंश प्राकृत में होता है। परीक्षक चाहे कुछ ही सोचते हों, व्यवहार में विद्यार्थी संस्कृत छाया को पढ़ते हैं जो अधिकांश संस्करणों में उन्हें उसी पृष्ठ पर उपलब्ध हो जाती है। कम से कम आरम्भ वे इसी ढंग से करते हैं; पीछे से प्राकृत पढ़ते समय किन्हीं सदृशताओं एवं कतिपय भिन्नताओं को पाते हैं—ऐसी दशा में सम्भव है कि वे किसी ऐसे सन्दर्भ को पहचानने में समर्थ हो जावें जिसके संस्कृत रूपान्तर और कदाचित् अङ्ग्रेजी अनुवाद से वे पहले से ही परिचित हों। उच्चतर श्रेणियों के विद्यार्थी तक प्राकृत स्थलों को पढ़ते समय जरा सा भी अटकने पर नीचे दी हुई 'छाया' पर दृष्टिपात करते हैं। फलतः किसी भी प्राकृत का निश्चित ज्ञान शायद ही किसी विद्यार्थी को होता हो। इसमें विद्यार्थियों का कोई दोष नहीं है। जिन संस्कृत संस्करणों को वे काम में लाते हैं उनके प्राकृत स्थल प्रायः अशुद्ध होते हैं, और अनुसन्धान के लिये कोई ऐसी सुगम पुस्तक नहीं है जिसमें उन्हें निश्चित नियम उपलब्ध हो सकें। इस प्राकृत-प्रवेशिका का एक उद्देश्य संस्कृत नाटकों के शौरसेनी और माहाराष्ट्री पाठों का अधिक ध्यान और व्युत्पत्ति-पूर्वक अनुशीलन करने के लिये विद्यार्थियों के हाथ में एक पथ-प्रदर्शक रखना है।

किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य वैदिक काल से आज तक की विशाल आर्य भारती के इतिहास के विद्यार्थियों को सहायता पहुँचाना है। भारतीय विद्यार्थी को आरम्भ में कम से कम एक आधुनिक भारतीय आर्य भाषा का घनिष्ठ ज्ञान होता है। स्कूल में वह जिस संस्कृत को पढ़ता है उसके द्वारा वह प्राचीन

भाषा के साहित्यिक और परिवर्तन रहित स्थिर रूप से परिचित हो जाता है। यदि उसे विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ने का अवसर प्राप्त हो तो उसको पता लगेगा कि वेदों की भाषा भारतीय आर्य भाषाओं की कहीं अधिक प्राचीन अवस्था की परिचायक है। इसके लिए शुद्ध पाठ और अनुसन्धान के अनेकों ग्रन्थ प्राप्य हैं।

संस्कृत की अपेक्षा मध्यकालीन भाषाओं की अधिक उपेक्षा की गई है। स्वयं भारतवर्ष में मध्यकालीन प्राकृतें संस्कृत की अपेक्षा वास्तविक अर्थ में "मृत" भाषाएं हैं। भारतवर्ष से बाहर विद्वानों ने पाली को, जो प्राचीनतम बौद्ध धर्म-ग्रन्थों की भाषा है, इस युग की सुलभ प्रतिनिधि स्वरूपिणी पाया है। भारतीय आर्य-भाषा विज्ञान के विद्यार्थी को भिन्न भिन्न प्राकृतों की प्रमुख विशेषताओं का स्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है। आशा की जाती है कि इस प्रयोजन के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा।

अध्ययन-सरणी—शायद सब से अच्छी युक्ति यह है कि आरम्भ में किसी एक प्राकृत का गहन अध्ययन किया जाय, और बाद को इसे आदर्श मान कर इसके साथ दूसरी प्राकृतों की तुलना की जाय। भारतीय वैयाकरणों की यही सरणी थी; उन्हों ने माहाराष्ट्री को अपना आदर्श माना था। किन्तु माहाराष्ट्री का एकमात्र उपलब्ध गद्य जैनों द्वारा लिखा गया था, और वह भी उस बोली में नहीं जिसमें नाटकों के गीत हैं। पाली के अध्ययन के लिए उत्तम साधन विद्यमान हैं। किन्तु पाली इतनी प्राचीन है कि मध्ययुगीन प्राकृतों का अभ्यास उससे प्रारंभ नहीं किया जा सकता। और हमारे पाठ्यविषयों में वह एक पृथक् विषय है और साधारणतया बौद्ध धर्म के अध्येताओं के लिए ही उपयुक्त समझी जाती है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के विद्यार्थी को वस्तुतः पहले पहल नाटकों में ही प्राकृत से साक्षात्कार होता है, जिस में अधिकांश शौरसेनी

होती है। इस कारण और अन्य कारणों से विषय का सामान्य वर्णन करते हुए शौरसेनी और महाराष्ट्री पर विशेष ज़ोर देना उचित समझा गया है।

इस पुस्तक का उपयोग करने वाले अध्येताओं को चाहिए कि पहले सामान्य प्रकरणों को पढ़ें और फिर दोनों प्रधान प्राकृतों को दृष्टि-केन्द्र में रख कर वर्णविज्ञान और व्याकरण के अध्यायों का अनुशीलन करें। अधिक महत्त्वपूर्ण अवतरण मोटे अक्षरों में छापे गये हैं*, और हो सके तो इन्हें कण्ठस्थ कर लेना चाहिए। फिर १–११ उद्धरणों में पूर्णतया पारंगत हो कर अध्येता को अपना संचित ज्ञान किसी भी नाटक में जिसे वह पढ़ रहा हो घटित करना चाहिए।

इस के उपरान्त भाषा विज्ञान-विषयक अध्ययन आरम्भ होना चाहिए। इस में अनेकों अवस्थाओं और बोलियों की तुलना करनी चाहिए जिस प्रकार कि वे ४–१० अध्यायों में वर्णन की गई हैं और १५वें और उससे आगे अन्त तक के उद्धरणों से विशद की गई हैं।

पाली और पुरानी प्राकृत के नमूनों का प्रयोजन अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिए प्रोत्साहनमात्र है।

प्राचीन काल से शब्दों की ऐतिहासिक अनवच्छिन्नता दिखाने के लिए यत्र तत्र आधुनिक रूपों का उल्लेख कर दिया गया है। विद्यार्थी स्वयं कहीं अधिक शब्दों के साथ अपनी मातृभाषा के शब्दों का सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं।

अनुक्रमणिका का प्रयोजन अंशतः अनुसन्धान की सुविधा और अंशतः ऐसा साधन उपस्थित करना है जिससे विद्यार्थी रूपों की व्युत्पत्ति में अपनी योग्यता को परख सकें और उन्हें प्रकरण से बाहर असम्बद्ध दशा में पहचान सकें।

व्युत्पत्ति जैसी सान्दिग्ध बातों में, जहां विद्वानों में मतभेद है,

* हिन्दी अनुवाद में रेखाङ्कित कर दिये गए हैं। (अनुवादक)

साधारणतया पिशल के कथन को ही प्रामाणिक माना गया है। विवाद को साधारणतया दूर ही रक्खा गया है, और जहां प्रतिस्पर्धिनी उपपत्तियों और विवाद-ग्रस्त स्थलों का कोई निर्देश किया गया है यह केवल विद्यार्थियों में गवेषणा-विषयों का उद्बोधन कराने के लिए है, जिन में अभी उनका उद्योग अपेक्षित है।

भारतीय नाटकों और भारतीय भाषाविज्ञान के अध्ययन को सुगम बनाने के अतिरिक्त यह भी आशा की जाती है कि इस छोटी सी पुस्तक के द्वारा हमारे कतिपय विद्यार्थी और ग्रैजुएट भारतीय विचार और साहित्य के उस विशाल क्षेत्र में रुचि प्रदर्शित करेंगे जो संस्कृत के मण्डल से बाहर स्थित है। इस के ज्ञान के विना मध्यकालीन भारत के जीवन का उचित प्रतिबिम्ब हृद्गत करना असम्भव है।

गुलमर्ग,
१९१७

ए० सी० वूल्नर

दूसरे संस्करण का उपोद्घात

पहला संस्करण यूरपीय महायुद्ध के समय प्रकाशित किया गया था। नागरिक और सामरिक कर्तव्यों से यथाकथंचित् अवकाश निकाल कर प्रूफ पढ़े गये थे। इस दूसरे संस्करण में मुद्रण की बहुत सी अशुद्धियां दूर की गई हैं। इसी बीच भारतीय आर्य भाषाओं के इतिहास में महत्त्वपूर्ण परिवर्धन हो चुके हैं। वर्गीकरण और साहित्य के अध्याय अधिक समयानुकूल कर दिये गये हैं। जब यह पुस्तक प्रथम प्रकाशित हुई थी तब से भारतीय विश्वविद्यालयों में प्राकृत के प्रति अधिकाधिक रुचि बढ़ती गई है और तत्सम्बन्धी ज्ञान की साधारण स्थिति उन्नत हो चुकी है। बहुत से विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषाओं के इतिहास पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। इस बात को दृष्टि में रखते हुए अशोक के शिलालेखों की प्रारम्भिक प्राकृत और उत्तर-कालीन अपभ्रंश के सम्बन्ध में भी कुछ कहा गया है।

प्रूफों के पढ़ने और दूसरे भाग के मुद्रापण के लिए मैं ओरियंटल कालेज के हिन्दी लेक्चरार, अपने मित्र और सहयोगी डा० बनारसीदास जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०, का जो कभी मेरे शिष्य थे, बहुत आभारी हूं। इन्होंने बहुत सी उपयोगी बातों का उद्बोधन भी किया है।

ओरियंटल कालेज,
लाहौर, १६२८।

ए० सी० वूल्नर

नागरी और रोमन अक्षरों की तालिका।

यूरोप में छपा पाली साहित्य तथा बहुत सा प्राकृत साहित्य रोमन अक्षरों में है। इस कारण प्राकृत-अभ्यासी के लिए रोमन अक्षर जानना अत्यावश्यक है। इसी हेतु से यहां नागरी-रोमन अक्षर तालिका दी जाती है—

स्वर— अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ

a ā i ī u ū ṛ ṝ ḷ ḹ

ए ऐ ओ औ

e ai o au

नोट (१)—ऋ, ॠ; ऌ, ॡ; ऐ और औ का प्रयोग प्राकृत में नहीं होता। ये वर्ण केवल संस्कृत में व्यवहृत होते हैं।

(२)—प्राकृत अइ, अउ के लिए वास्तव में aï, aü लिखना चाहिये परन्तु साधारणतया ai, au ही लिखे जाते हैं। चूंकि प्राकृत में ऐ, औ होते नहीं इसलिए इस में ai, au से ऐ, औ का भ्रम नहीं होता।

(३)—प्राकृत में कभी कभी ए, ओ (विशेष कर संयुक्त या द्विर्भूत वर्ण के पूर्व) से ह्रस्व ए, ओ का बोध होता है। ऐसी दशा में रोमन में ĕ, ŏ लिख देते हैं।

(४)—अनुनासिकता प्रकट करने के लिए स्वर के ऊपर यह चिह्न (ँ) लगाया जाता है जैसे साँग=sā̃g(a).

व्यञ्जन—

क्, ख्, ग्, घ्, ङ्। च्, छ्, ज्, झ्, ञ्।

k kh g gh ṅ c ch j jh ñ

ट् ठ् ड् ढ् ण्। त् थ् द् ध् न्।

ṭ ṭh ḍ ḍh ṇ t th d dh n

प्, फ्, ब्, भ्, म्। य्, र्, ल्, व्।

p ph b bh m y r l v

श्, ष्, स् ह् । (ं) अनुस्वार, (ः) विसर्ग ।
ś ṣ s h ṃ ḥ

नोट (१)—प्राकृत में परसवर्ण नासिक्य के स्थान में प्रायः अनुस्वार का प्रयोग होता है ।

(२) हिन्दी ड़ तथा मराठी ळ् के लिए भी रोमन में ṛ, ḷ आते हैं । ये संकेत ऋ और लृ के भी हैं जो प्रायः संस्कृत में ही प्रयुक्त होते हैं ।

(३) प्राकृतों में कुछ न कुछ उच्चारण भेद भी अवश्य होगा । अनुमान किया जाता है कि महाराष्ट्री में शायद 'च' का उच्चारण मराठी "च" (जैसा चा शब्द में) के उच्चारण से मिलता था । मागधी में "अ" का उच्चारण बंगला के "अ" के उच्चारण से मिलता था ।

अभ्यास के लिए उद्धरण नं० १८ (पृ० २१०) का कुछ पाठ रोमन अक्षरों में दिया जाता है ।

taṃ ca kuo vi nāūṇa niggao nayarīo sūri, aṇavarayaṃ ca gacchanto patto Saga-kūlaṃ ṇāma kūlaṃ tattha je sāmantā, te Sāhiṇo bhaṇṇanti; sāmantā-'hivai sayala narinda-vanda-cūḍāmaṇī so Sāhāṇusāhī bhaṇṇai. tao Kālaga-sūrī ṭhio egassa sāhiṇo samīve, āvajjio ya so manta-tantāīhiṃ. io ya aṇṇayā kayāi tassa Sāhiṇo sūri-samanniyassa harisa harisabhara-nibbharassa nāṇāviha-viṇoehiṃ ceṭṭhamāṇassa samāgao paḍihāro, vinnattaṃ ca teṇa, jahā: "sāmi! Sāhānusāhi-dūo duvāre ciṭṭhai." Sāhiṇā bhaṇiyaṃ: 'lahuṃ pavesehi." pavesio ya vayaṇeṇa antaraṃ eva nisanno ya diṇṇâsṇe. tao dūeṇa samappiyaṃ uvāyaṇam taṃ ca daṭṭhūṇa nava-pāusa-kāla-nahayalaṃ va andhāriyaṃ va andhāriyaṃ vyaṇaṃ Sāhiṇā.

विषय सूची ।

विषय पृष्ठ

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

प्राकृतप्रवेशिका ।

प्रथम भाग ।

पहिला अध्याय ।

विषय-निर्देश ।

उत्तर भारती अर्थात् भारतवर्षीय आर्य भाषाओं का इतिहास सुगमता के लिये तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है— प्राचीन, मध्यम, और आधुनिक ।

(१) प्राचीन युग की भाषा के उदाहरण साहित्य में (क) ऋग्वेद की भाषा और (ख) अर्वाचीन वैदिक साहित्य की भाषा हैं। इसी युग से सम्बन्ध रखने वाली वे लोक-भाषाएं हैं जिन के आधार पर (ग) इतिहास ग्रन्थों (रामायण, महाभारत) की काव्य भाषा, (घ) पाणिनि पतञ्जलि की अतीव संमार्जित (संस्कृत) साहित्यक भाषा और उन के पश्चात् कालिदास तथा आज तक के उत्तरलेखकों की संस्कृत भाषा ने जन्म पाया ।

(२) मध्यम युग की भाषा के साहित्यक उदाहरण पाली और प्राकृत हैं। इसके अंतर्गत वे सब भाषाएं हैं जो उस समय से लेकर जब कि विशेष वर्णविकारों तथा कुछ व्याकरणिक परिवर्तनों ने तत्कालीन भाषा को ऐसा रूप दे दिया था कि वह देखने में प्राचीन भारती से प्रत्यक्ष भिन्न प्रतीत होने लगी विक्रम की बारहवीं शताब्दी तक प्रचलित थीं। तत्पश्चात् और भी वर्णविकार होने से

तथा पुरातन व्याकरण सर्वथा छिन्न भिन्न हो जाने से एक नूतन प्रकार की भाषा का विकास हुआ जो आधुनिक भाषा से मिलती जुलती थी।

इस युग के विषय का हमारा ज्ञान कई प्रकार के ऐसे साधनों से सङ्कलित किया गया है जो भिन्न २ देश तथा काल से सम्बन्ध रखते हैं। इन साधनों के अन्तर्गत प्राचीन लेख तथा साहित्य ग्रन्थ हैं। लेखों में महाराज अशोक की धर्म लिपियां सब से प्रसिद्ध हैं। साहित्य के अन्दर बौद्ध धर्म की दक्षिणी अर्थात् हीनयान सम्प्रदाय के पाली ग्रन्थ, जैन धर्म के प्राकृत ग्रन्थ, प्राकृत खण्डकाव्य, महाकाव्य, नाटक और प्राकृत व्याकरण शामिल हैं।

(३) तृतीय या आधुनिक युग का प्रारम्भ-काल परिच्छिन्न रूप से निश्चित नहीं किया जा सकता। यह काल प्राकृत के सब से अर्वाचीन रूप अर्थात् अपभ्रंश जिसे बारहवीं शताब्दी में होनेवाले श्री हेमचन्द्राचार्य ने वर्णन किया है उसके और आधुनिक भाषाओं की सब से पुरानी कविता के कहीं बीच था। हिन्दी का सब से प्राचीन काव्य "प्रिथिराज रासौ" है जिसे लाहौर के रहनेवाले कवि चंद बरदाई ने (वि सं० १२५० के लगभग) लिखा था।

मध्यम युग को फिर तीन अवस्थाओं में विभक्त कर सकते हैं— (१) पुरानी प्राकृत, (२) मंझली प्राकृत, और (३) पिछली प्राकृत या अपभ्रंश।

(१) पुरानी प्राकृत के अन्तर्गत हैं—

(क) विक्रम पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर विक्रम की तीसरी शताब्दी के मध्य तक के शिला लेख। इन लेखों की भाषा में समय और देश के अनुसार कुछ २ भेद है।

(ख) हीनयान सम्प्रदाय के त्रिपिटक तथा महावंश, जातक आदि बौद्ध ग्रन्थों की पाली भाषा।

जातकों में गद्य की अपेक्षा गाथाओं की भाषा कुछ प्राचीन है।

(ग) प्राचीन जैन आगम की भाषा।

(घ) प्रारम्भ काल के नाटकों तथा मध्य एशिया से मिले हुए अश्वघोष कृत नाटक-खण्डों की भाषा।

(२) मंझली प्राकृत के अन्तर्गत हैं—

(क) दक्षिणापथ के मधुर गीतों की महाराष्ट्री भाषा।

(ख) शौरसेनी, मागधी आदि अन्य नाटकीय प्राकृतें जो कालिदास और उस के उत्तरवर्ती कवियों के नाटकों में प्रयुक्त तथा व्याकरण ग्रन्थों में वर्णित मिलती हैं।

(ग) अर्वाचीन जैन ग्रन्थों की प्राकृत।

(घ) पैशाची प्राकृत। कहा जाता है कि "बृहत्कथा" की रचना इसी प्राकृत में हुई थी परन्तु अब केवल व्याकरण ग्रन्थों में ही इस का उल्लेख मिलता है।

(३) अपभ्रंश—साहित्य के लिये अपभ्रंशों का प्रयोग कुछ अधिक नहीं होता था। ये साधारण लोक-भाषा के उस रूप के उदाहरण हैं जो उसने उस समय धारण कर लिया था जब नाटकीय प्राकृतें व्यवहार में प्रचलित न रही थीं, और वैयाकरणों ने संमार्जित करके उन्हें स्थिर रूप दे दिया था। जिस समय हेमचन्द्र ने पश्चिम भारत की एक अपभ्रंश विशेष का वर्णन किया उस समय शायद वह भी अप्रचलित हो चुकी थी।

प्रस्तुत पुस्तक में साधारण तौर पर भारतवर्ष की भाषा के द्वितीय अथवा मध्यम युग का वर्णन है और विशेष करके मंझली प्राकृत अवस्था का, उसमें भी प्रधानतया नाटकीय प्राकृतों का।

"प्राकृत" शब्द के विविध अर्थ।

"प्रकृति" शब्द से व्युत्पन्न "प्राकृत" शब्द के अर्थ के दो मार्ग हैं। [१] इसका अधिक यथार्थ अर्थ है "प्रकृति से निकला हुआ

या प्रकृति से संबंध रखनेवाला अर्थात् किसी वस्तु के मूलरूप से निकला हुआ और उसके विकार रूप विकृति का प्रतिपक्षी है"। [सांख्य दर्शन में प्राकृत शब्द का अर्थ है "प्रकृति अर्थात् मूल तत्त्व से निकला हुआ"]। [२] दूसरा कुछ व्यापक सा अर्थ है, सहज (नैसर्गिक), साधारण, लौकिक, ग्रामीण"।

बहुत सम्भव है कि पहिले पहिल "प्राकृत" शब्द (शौरसेनी–पाउद, माहाराष्ट्री–पाउअ) सर्व साधारण की नैसर्गिक या मातृ· भाषा को अति परिष्कृत और सिद्ध "संस्कृत" भाषा से पृथक् करने के लिये अपने इसी व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ होगा।

मध्यम कालीन व्याकरण और अलंकार ग्रन्थों में प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार मिलती है—"प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं, तत आगतं वा=प्राकृतम्"—अर्थात् मूल भाषा है संस्कृत, उस में होनेवाली, या उस से निकली हुई है प्राकृत। यह व्युत्पत्ति ऐतिहासिक दृष्टि से चाहे सत्य न हो तो भी देखने में यह सब प्रकार से समीचीन प्रतीत होती है क्योंकि व्यवहार में हम संस्कृत शब्दों को मूल मानकर उनसे फिर प्राकृत रूप सिद्ध करते हैं। ऐसा होते हुए भी आधुनिक भाषा-विज्ञान हम को एक आवश्यक अपवाद सूत्र जोड़ने पर बाधित करता है—अर्थात् हम संस्कृत शब्दों को उसी सीमा तक मूल मानते हैं जहां तक कि वे प्राचीन भारती के रूपों को प्रकट करते हैं। परन्तु कभी कभी प्राकृत रूप को सिद्ध करने के लिये प्राचीन भारती के उचित रूप का द्योतक शब्द संस्कृत में या तो सर्वथा ही मिलता नहीं, और अगर मिलता है तो केवल किसी अर्वाचीन ग्रन्थ में जहां स्पष्टतया वह किसी प्राकृत शब्द से संस्कृत रूप बनाया गया होगा।

यदि हम संस्कृत के अन्दर वैदिक तथा प्राचीन भारती युग की समस्त लोक-भाषाओं को शामिल करलें तो यह कहना ठीक होगा कि सब प्राकृतें संस्कृत से निकली हैं; परन्तु यदि संस्कृत से हमारा

अभिप्राय केवल पाणिनीय संस्कृत का हो तो यह कहना ठीक न होगा कि कोई भी प्राकृत संस्कृत से निकली है, सिवाय इसके कि मध्यदेश की शौरसेनी प्राकृत मध्यदेश की उसी प्राचीन लौकिक भारती से निकली है जिस के आधार पर प्रायः संस्कृत बनी है। पाश्चात्य विद्वानों ने प्राकृत शब्द का प्रयोग इन अर्थों में किया है—

(१) वे विशेष भाषाएं जिनका भारतवर्ष में प्राकृत शब्द से उल्लेख किया जाता है। जैसे—माहाराष्ट्री, या संस्कृत नाटकों के प्राकृत अंश।

(२) मध्यम भारती युग की भाषाएं (कभी २ पाली और पूर्व-कालीन उत्कीर्ण लेखों की भाषाओं को प्राकृत से पुरानी अवस्था की होने के कारण पृथक् भी कर दिया जाता है)।

(३) साहित्यक और शिष्ट भाषा से भिन्न सहजन्य लोक भाषा के लिये। इस अन्तिम अर्थ में कई लेखक प्राकृत के तीन भेद करते हैं—प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्राकृतें जो तीनों बड़े युगों की सहजन्य लोक भाषाएं थीं*। लौकिक भाषा के इन उत्तरोत्तर रूपों के आधार पर कई एक साहित्यक भाषाओं का जन्म हुआ जो समय पाकर परिवर्तन से मुक्त हो स्थिर रूप हो गईं और अपने २ समय की तथा सदा परिवर्तन-शील लोक-भाषाओं के साथ २ व्यवहृत होती रही हैं।

---

* भारतीय भाषाओं के अद्वितीय विद्वान् सर् जॉर्ज ग्रियर्सन का यह मन्तव्य है।

अध्याय दूसरा।

प्राकृतें।

पाली को छोड़कर प्रधान साहित्यक प्राकृतें ये हैं—

महा० = माहाराष्ट्री
शौ० = शौरसेनी } नाटकीय प्राकृतें।
माग० = मागधी

अमा० = अर्धमागधी
जैम० = जैन महाराष्ट्री } जैन साहित्य की प्राकृतें।
जैशौ० = जैन शौरसेनी

अप० = अपभ्रंश

नाटकीय प्राकृतें

माहाराष्ट्री सब से उत्तम प्राकृत गिनी जाती थी। महाकवि दण्डी अपने काव्यादर्श में लिखता है—महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः (अ० १, श्लो० ३५)। अर्थात् कवि लोग महाराष्ट्र देश में प्रचलित माहाराष्ट्री प्राकृत को सब से उत्तम मानते थे। प्राकृत व्याकरणों में सब से पहिले इसी का वर्णन रहता है। दूसरी प्राकृतों के विषय में उन के विशेष नियम देकर कह दिया जाता है। "शेषं माहाराष्ट्रीवत्"। अर्थात् शेष माहाराष्ट्री की भांति जानो।

नाटकों के स्त्री पात्र बात चीत तो शौरसेनी में करते हैं परन्तु अपने गीत माहाराष्ट्री में गाते हैं। माहाराष्ट्री के गीत महाराष्ट्र देश की सीमा को लांघकर बहुत दूर तक प्रचलित हो गए थे।

इसी भाषा में "गउडवहो" आदि प्राकृत महाकाव्यों की रचना हुई है। दक्षिणी कवियों की इस भाषा में स्वर-मध्यवर्ती व्यञ्जनों के लोप का नियम अन्य प्राकृतों की अपेक्षा अधिक लागू है [देखिये पैरा १०]। गीतों की साहित्यक भाषा में ऐसा होना स्वाभाविक बात है क्योंकि गीत में राग की मधुरता और रस प्रधान होते हैं। शब्दों या शब्दरूपों की परिच्छिन्नता गौण रहती है। यह भी नहीं समझना चाहिये कि माहाराष्ट्री केवल कवि कल्पित भाषा है। महाराष्ट्र देश की प्राचीन लौकिक भाषा इसका आधार भूत है, और इस की कई एक विशेषताएं ऐसी हैं जो आधुनिक मराठी में अब तक विद्यमान हैं।

शौरसेनी प्राकृत मध्यदेश की भाषा थी। इसका यह नाम इसलिये पड़ा कि यह मथुरा के आस पास शूरसेन देश में प्रचलित थी। संस्कृत नाटक की यह सामान्य प्राकृत है। स्त्रीपात्र और विदूषक इसी में संभाषण करते हैं। कर्पूरमञ्जरी में तो राजा भी इसी में बोलता है। औरों की अपेक्षा यह प्राकृत पाणिनीय संस्कृत से अधिक समान है। इस का विकास उसी देश में हुआ जिस में संस्कृत का; और यह भी उसी लौकिक भाषा की संतान है जो बहुत करके संस्कृत की आधार भूत है। इस प्रकार यह संस्कृत और हिन्दी [या पश्चिमी हिन्दी जो साहित्यक हिन्दी का आधार भूत है] के बीच एक मध्यम अवस्था को प्रकट करती है। परन्तु संस्कृत से अपनी घनिष्ठ समानता के कारण शौरसेनी कुछ दबी सी रही। इस पर संस्कृत का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहा और यह स्वतन्त्रता से अधिक उन्नति न कर पाई।

मागधी पूर्व प्रान्त की प्राकृत है। इसका केन्द्र प्राचीन मगध देश था जिस से कुछ ही परे आजकल विहारी भाषा की "मगही" बोली बोली जाती है। नाटकों में मागधी को नीच पात्र बोलते हैं। मागधी की उपभाषाएं भी पाई जाती हैं। जैसे—मृच्छकटिक में ढक्की उपभाषा। वर्ण विकार में यह प्राकृत अन्य प्राकृतों से बहुत

भेद रखती है। इस में संस्कृत 'स' को 'श' और 'र' को 'ल' हो जाता है। 'य' यथास्थित रहता है बल्कि 'ज' का भी 'य' होजाता है। अकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दों का प्रथमा एकवचन एकारान्त बनता है। [अन्य विशेषताओं के लिये देखिये अध्याय १०]। जहां और प्राकृतों में 'हत्थो' [सं० हस्तः] रूप होता है वहां मागधी में 'हश्ते' रूप है। और प्राकृतों में "सो राआ" [सं० स राजा], मागधी में "शे लाआ"।

जैन प्राकृतें

प्राचीन जैन सूत्रों की रचना अर्धमागधी में हुई। यह प्राकृत शूरसेन और मगध के बीच (अवध के पास) के प्रदेश की लौकिक भाषा का साहित्यक रूप है। इस का उच्चारण कुछ अंशों में मागधी से मिलता है। शौरसेनी की अपेक्षा इस के अन्दर पुराने व्याकरणिक रूप अधिक पाए जाते हैं और यह संस्कृत के प्रभाव से बहुत बची है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आगम-बाह्य ग्रन्थ माहाराष्ट्री के एक रूपान्तर में रचे हुए हैं। इस प्राकृत को जैन माहाराष्ट्री कहते हैं।

दिगम्बर सिद्धान्त ग्रन्थों की भाषा कितने ही अंशों में शौरसेनी से मिलती है, अतः इसे जैन शौरसेनी कहते हैं।

अपभ्रंश

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भारतवर्ष में इन अर्थों में हुआ है—

(१) संस्कृत को शुद्ध और शिष्ट भाषा मानकर जो रूप भी उस से किसी अंश में भिन्न हो।

(२) साहित्यक प्राकृतों से पृथक् लौकिक भाषाओं के लिये चाहे वे आर्य हों या अनार्य।

(३) इन लौकिक भाषाओं के साहित्यक रूप के लिये।

व्याकरण ग्रन्थों में केवल एक ही साहित्यिक अपभ्रंश अर्थात् नागर अपभ्रंश का विस्तृत वर्णन मिलता है और वह गुजरात प्रान्त की दिखाई पड़ती है। विद्वानों का कहना है कि सिंध देश की व्राचड अपभ्रंश भी इसी से मिलती जुलती थी। कभी २ प्रधान प्राकृतों के ढक्की आदि रूपान्तरों का अपभ्रंश शब्द से उल्लेख किया जाता है। जिन जिन प्रदेशों में प्रधान प्राकृतें प्रचलित थीं अगर वहां बोली जाने वाली अपभ्रंशों में लेख, ग्रन्थ आदि कुछ सामग्री विद्यमान होती तो भारतीय भाषाओं के इतिहास की एक भारी त्रुटि पूर्ण होजाती। तथापि जो कुछ सामग्री मिलती है उस से अपभ्रंशों की उच्चारण तथा व्याकरण सम्बन्धी सामान्य प्रवृत्तियों को जान कर हम प्रधान प्राकृतों और आधुनिक भाषाओं के बीच के अंतर की पूर्ति कर सकते हैं। खोज करने पर अपभ्रंश के दिन प्रतिदिन नये नये ग्रन्थ मिलते जाते हैं और इन से हेमचन्द्र कृत व्याकरण में दिये हुए अपभ्रंश व्याकरण की वृद्धि हो रही है।

नाटक में भिन्न भिन्न प्राकृतों के प्रयोग पर प्राकृत साहित्य का वर्णन करते समय ग्यारहवें अध्याय में विचार किया जायगा। दूसरी छोटी प्राकृतों, पैशाची प्राकृतों तथा उत्कीर्ण लेखों में प्रयुक्त प्राकृतों के विस्तृत वर्णन तथा उन के परस्पर सम्बन्ध के विषय में प्राकृतों का वर्गीकरण करते समय दसवें अध्याय में विचार किया जायगा।

तीसरा अध्याय ।

प्राकृत के सामान्य लक्षण ।

प्राचीन भारती की भांति पाली और प्राकृत संश्लेशात्मक भाषाएं रहीं । परन्तु प्राचीन भारती की अपेक्षा इन की रूप-रचना बहुत कुछ सरल हो गई थी । इन में विभक्ति तथा लकार रूपों की संख्या कम होती जाती थी । इतर वेदों की अपेक्षा ऋग्वेद में इन रूपों का बड़ा वैविध्य है । पाणिनीय संस्कृत में से कई एक रूप जो ब्राह्मण ग्रन्थों में पाए जाते थे लुप्त हो गए हैं । बहुत से ऐसे रूप जो गीत और नाटकीय माहाराष्ट्री तथा शौरसेनी में नहीं मिलते पाली और पुरानी अर्धमागधी में विद्यमान हैं । अंततः अपभ्रंश में प्राचीन रूप-रचना के बचे खुचे रूपों के शीघ्र होनेवाले विनाश की सूचना मिलती है । समय आ रहा था जब कि प्रातिपदिक के लगने वाले विभक्ति-प्रत्ययों की संख्या केवल दो या तीन ही रह जाए और एक काल और दो कृदन्तों को छोड़ क्रिया के शेष रूप नष्ट हो जाएं । रूप-रचना के इस प्रकार छिन्न भिन्न हो जाने से वाक्य का अर्थ संदिग्ध रहने लगा और इस अर्थ संदिग्धता को दूर करने के लिये नए उपायों की सृष्टि हुई और प्राचीन भाषा के अवशेषों से आधुनिक विश्लेषात्मक भाषाओं का जन्म हुआ ।

इतना सरल हो जाने पर भी शेष प्राकृत व्याकरण उसी ढंग का है जैसा कि संस्कृत व्याकरण । प्राकृत व्याकरण में संज्ञा, विशेषण और सर्वनाम की रूपरचना को समरूप बनाने की अर्थात् अकारान्त संज्ञा के रूपों के ढंग पर लाने की एक बड़ी बलवान् प्रवृत्ति देखी जाती है । इसी प्रकार क्रिया की रूपरचना में भ्वादिगण के रूपों का अनुकरण देखा जाता है । सम्प्रदान कारक के रूप

लुप्त हो गए हैं । प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन रूप एक समान होते जाते हैं । प्राकृत की मंझली अवस्था तक लङ्, लिट् और विविध प्रकार के लुङ् रूप लुप्त हो चुकते हैं । द्विवचन की आवश्यकता ही नहीं रहती । पुरानी प्राकृत के पश्चात् आत्मनेपदी रूप इक्के दुक्के ही बचे, और वे भी अपने आदिम अर्थ को छोड़ बैठे । ऐसा होने पर भी कारक और क्रिया का अर्थ स्पष्ट करने के लिये कारकाव्यय और सहायक क्रियाओं की अभी तक आवश्यकता नहीं पड़ी । साधारण बोल चाल तथा काव्य निर्माण के लिये आवश्यक सामग्री और शक्ति अपभ्रंश अवस्था तक प्राकृत में विद्यमान रही । महत्त्वशाली और सूक्ष्म विचारों को प्रकट करने के लिये संस्कृत को काम में लाने का रिवाज पड़ गया था । चूंकि पाली, अर्धमागधी और इतर जैन प्राकृतें अपने समय अथवा देश की प्रधान भाषा होने के पद को एक एक कर के खो बैठी थीं इस लिये वे इस रिवाज का सामना न कर सकीं और अंत में इन का स्थान संस्कृत ने छीन लिया ।

उपर्युक्त सरलता के अतिरिक्त प्राकृत में जो और परिवर्तन हुए हैं वे प्रधानतया वर्णविकार अर्थात् उच्चारण से सम्बन्ध रखते हैं। संयुक्त व्यञ्जनों को प्रायः समानादेश हो जाता है । "रक्त" शब्द का "रत्त" हो गया (जैसे लैटिन भाषा के "फ्रुक्तु-स" Fructu-s शब्द का इटालियन भाषा में "फ्रुत्तो" Frutto); सप्त का सत्त हो गया (जैसे-लैटिन "सेप्तम्" septem का इटालियन 'सेत्त' sette)। प्राचीन भारती के कई एक वर्णों का भी प्राकृत में सर्वथा अभाव हो गया है, जैसे—ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ऐ, औ, य, श, ष तथा विसर्ग। इन में से मागधी में य रहता है बलकि "ज" के स्थान में भी 'य' का आदेश हो जाता है । इतर कई प्राकृतों में जहां व्यञ्जन लोप से दो स्वर पास पास रह जाते हैं उन के मध्य 'य' का आगम होता है । 'श' केवल मागधी में रहता है और वहां ष, स के स्थान में भी श का आदेश हो जाता है । ह्रस्व ए, ओ (ऍ, ऑ) ऐसे वर्ण हैं

जो प्राकृत में तो पाए जाते हैं परन्तु जो संस्कृत में व्यवहृत नहीं होते थे। पदान्त व्यञ्जनों का लोप हो जाता है । ह्रस्व* स्वर के पश्चात् दो से अधिक व्यञ्जन और दीर्घ स्वर के पश्चात् एक से अधिक व्यञ्जन नहीं आ सकते थे।

[विस्तार के लिये देखिये अध्याय ४ तथा ५.]

किसी २ शब्द पर इन सब परिवर्तनों का युगपत् ऐसा प्रभाव पड़ा है कि उसका रूप सर्वथा बदल गया है। "बप्पइराअ" शब्द झट से "वाक्पतिराज" का बोध नहीं कराता । "ओइन्न" शब्द "अवतीर्ण" से कितना भिन्न है । यद्यपि कुछ शब्द ऐसे हैं जो सर्वथा संस्कृत के सदृश हैं तथापि अधिक संख्या ऐसे शब्दों की है जो भली प्रकार संस्कृत जाननेवाले को अपने संस्कृत पर्याय का झट बोध करा देते हैं। यह बात न केवल शौरसेनी के विषय में किन्तु दूसरी प्राकृतों के विषय में भी सत्य है।

इस स्थिति को देखकर कहा जा सकता है कि पढ़े लिखे लोग इन विविध प्राकृतों को आपस में समझ लेते थे। जो पुरुष संस्कृत बोल सकता था उस की मातृभाषा इन प्राकृतों में से किसी एक का लौकिक रूप होती थी और वह सब प्रकार की साहित्यिक प्राकृतों को आसानी के साथ समझ सकता था। संस्कृत को न भी जानने वाला पुरुष जो शौरसेनी भाषी होता था बहुत से संस्कृत शब्दों को झट समझ लेता था और संस्कृत वाक्य का स्थूल अर्थ भी ग्रहण कर लेता था। पुरानी अवस्था में तो यह भेद और भी कम था। अगर हम और भी पीछे जाएं तो यह भेद केवल इतना ही रह जाता है जितना शुद्ध और अशुद्ध उच्चारण में होता है, अथवा व्याकरण सिद्ध और असिद्ध रूपों में, अथवा सर्वसम्मत शिष्ट और

* ह्रस्व ए, ओ को प्रकट करने के लिये देवनागरी में कोई चिह्न नहीं। सर् जार्ज ग्रियसर्न नें उलटे 'ए', तथा 'ओ' की उलटी मात्रा का प्रयोग किया है। देखिये 'हिन्दुस्तानी" जनवरी सन् १९३१ पृष्ठ ११० [अनुवादक]।

ग्रामीण भाषा में। यह भेद ऐसा है जो प्रायः एक ही भाषा बोलने वाले पढ़े हुए और अनपढ़ लोगों की बोली में हुआ करता है।

यद्यपि इस अवस्था में भी भेद तो पाया जाता था परन्तु नवीन भाषा ने अभी स्वतन्त्र रूप धारण नहीं किया था। अभी यह इतनी विलक्षण नहीं बन गई थी कि पृथक् भाषा बनकर अपना ही व्याकरण और साहित्य खड़ा कर देती।

प्राकृत प्रवृत्ति के चिह्न तो ऋग्वेद में भी पाए जाते हैं अर्थात् कई शब्दों में ठीक उसी प्रकार का वर्णविकार हुआ है जो आगे चलकर प्राकृतों में देखा जाता है। जैसे—श्रथ् धातु का संप्रसारण करके श्रृथिर रूप बनना चाहिये था परन्तु ऋग्वेद में शिथिर (ऋ को इ आदेश करके जो प्राकृत में प्रायः होता है) पाया जाता है। इस प्रकार के उदाहरणों से यह तो अनुमान नहीं करना चाहिये कि छन्दों की भाषा और तत्कालीन साधारण बोल चाल की भाषा में कुछ अधिक भेद था, बल्कि छन्दों की भाषा में प्राकृत प्रवृत्ति के चिह्न इस बात की सूचना करते हैं कि ऋषि लोग इन रूपों को छन्दोभाषा के ही रूपान्तर समझते थे और उन्हें दोनों प्रकार की भाषा (अर्थात् छन्दोभाषा और साधारण बोल चाल की भाषा) में किसी अन्तर की प्रतीति न होती थी।

यूरोप की रोमक भाषाओं के इतिहास और आर्य भारती के इतिहास में आश्चर्यजनक समानता पाई जाती है। प्राचीन इटालिक की कई बोलियां थीं जिन में से लैटिन जाति की बोली ने मुख्य पद प्राप्त किया। इस तरह लैटिन पहिले सारे इटली देश की और फिर समग्र रोम राज्य की प्रधान भाषा बन गई। यह मध्यम युग में (आठवीं से पंदरहवीं शताब्दी तक) ईसाई धर्म की सब से बड़ी सम्प्रदाय की भाषा बनी और जब तक यूरोप की आधुनिक भाषाओं ने अपना आधिपत्य न जमा लिया तब तक विज्ञान और दर्शन की भाषा बनी रही। जिस प्रकार भारतवर्ष में भिन्न २ प्रान्तों के शिक्षित

लोगों की सांझी भाषा संस्कृत थी इसी प्रकार यूरोप में चिरकाल तक लैटिन सांझी भाषा रही ।

इस के अतिरिक्त धार्मिक भाषा होने के कारण पादरी लोग सर्वदा लैटिन बोलते थे । साधारण लोग भी इसके कतिपय वाक्य याद कर लेते थे । उस समय का वैद्य या अध्यापक चाहे कितना ही थोड़ा क्यों न पढ़ा हो, कुछ न कुछ लैटिन बोलने की चेष्टा ज़रूर करता था । वर्णविकार और अनुरूपता आदि ने प्राचीन व्याकरण को इतना सरल बना दिया कि आख़िरकार अर्थ में सन्देह मिटाने के लिये कारकान्वय और सहायक क्रिया का प्रयोग करना पड़ा ।

इस बात पर भी कुछ विचार किया गया है कि उन परिवर्तनों का जो आर्य भारती की प्राकृत अवस्था में दिखाई देते हैं क्या कारण था । बोलने में श्रमलाघव, नगरों तथा राज सभाओं द्वारा भाषा का उत्तरोत्तर सम्मार्जन, गरम जल वायु का शैथिल्योत्पादक प्रभाव, जिन अनार्य जातियों ने आर्य भाषा को अपनाया उन की अपनी बोली का प्रभाव—ये सब कारण भारत तथा यूरोप में काम करते रहे होंगे ।

चौथा अध्याय।

वर्णविकार।

असंयुक्त व्यञ्जन।

§ १—आदिम। साधारण नियम यह है कि न्, य्, श् और ष् को छोड़कर शब्द के आदिम असंयुक्त व्यञ्जन में कोई परिवर्तन नहीं आता। परन्तु—

न् का ण् हो जाता है (देखिये पैरा ७)। य् का ज् हो जाता है (मागधी के सिवाय) जधा=यथा (माग० यधा); जइ=यदि, शौ० जदि, (माग० यइ, यदि); जोगी=योगी। श् और ष् का स् हो जाता है (पैरा ८)।

§ २—जब असंयुक्त व्यञ्जन किसी समास के दूसरे या तीसरे शब्द की आदि में हो तो प्रायः उस में वही विकार आता है जो स्वर मध्यवर्ती असंयुक्त व्यञ्जन में आता है। बहुधा उपसर्ग के परे धातु के आदि व्यञ्जन में कोई परिवर्तन नहीं आता—पुत्त=पुत्र, परन्तु आर्यपुत्र से अज्जउत्त बनता है। महा० पआसेइ=प्रकाशयति शौ० आअदं वा आगदं=आगतम् (महा० आअअं वा आगअं)।

§ ३—निपातों की भी यही दशा है। किं उण=किं पुनः, वि=(अ)पि; अ=च। तावत् और ते (सर्वनाम मध्यम ६१) के आदि त् को शौ० और माग० में स्वर मध्यवर्ती त् की भांति द् हो जाता है। मा दाव=मा तावत्; ण दे=न ते, पिदुणो दे=पितुस्ते, तदो दे=ततस्ते।

§ ४—कई प्राकृतों में "भू" धातु से व्युत्पन्न शब्दों में भ् का ह् हो जाता है।

महा० होइ=भवति [शौ० भोदि]।

शौ० हविस्सदि, माग० हविश्शदि=भविष्यति, शौ०, माग० होदव्व=भावितव्य।

§ ५—कभी २ फ् जब समस्त पद के दूसरे शब्द के आदि में हो तो वैसा ही रहता है।

शौ० चित्रफलअ=चित्रफलक, बहुफल, सफल।

§ ६—महाप्राण विधि।

क् के स्थान में ख् खुज्ज=कुब्ज; √खेल=√क्रीड्। [संस्कृत में भी "खेलने, हिलने" के अर्थ में खेल् धातु रामायण में मिलता है। यह खेल् संस्कृत में प्राकृत से लिया गया है]

प् के स्थान में फ्—शौ० फणस, महा० पणस=पनस "एक प्रकार का फल" श्, ष्, का महाप्राण छ् हो जाता है। जैसे अमा० छाव, पा० छाप=शाव या शाव। महा० अमा० छ=षद् छट्ठ=षष्ठ।

§ ७—उच्चारण के स्थान परिवर्तन के उदाहरण।

दन्त्य के स्थान में तालव्य—महा० चिट्ठइ, शौ० चिट्ठदि, माग० चिष्ठदि=तिष्ठति।

दन्त्य के स्थान में मूर्धन्य—महा० ढंख=ध्वाङ्क्ष "काग"। न् के स्थान में ण—णूणं=नूनम्, णअण=नयन।

§ ८—श्, ष्, स्,—इन तीनों के स्थान में दन्त्य स् हो जाता है। [परंतु मागधी में तालव्य श् होता है]।

§ ९—स्वरमध्यवर्ती व्यञ्जन। स्वरमध्यवर्ती क्, ग्, च्, ज्, त्, द् का प्रायः लोप हो जाता है।

महा० लोअ=लोक, सअल=सकल, अणुराअ=अनुराग, जुअल=युगल, णअर=नगर, पउर=प्रचुर, भोअण=भोजन, रसाअल=रसातल, हिअअ=हृदय।

का सर्वदा लोप होता है।

विओअ=वियोग, पिअ=प्रिय।

नोट—लुप्त व्यञ्जन के स्थान में य् का उच्चारण होता था जिस का प्रयत्न बहुत लघु होता था (लघुप्रयत्नतर-यकार)। यह यकार संस्कृत और मागधी के यकार की अपेक्षा बहुत कम श्रुति-गोचर होता था और लिखने में प्रकट नहीं किया जाता था परन्तु जैन लिपिकार अपने ग्रन्थों में इसे प्रकट करते थे। यथा—अमा० हियय=हृदय।

§ १०—स्वरमध्यवर्ती असंयुक्त व्यञ्जनों को लोप करने का नियम गीतों की महाराष्ट्री में बहुत लागू हुआ जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अर्थों में अस्पष्टता आ गई। कइ शब्द कति, कवि या कपि का रूप हो सकता है। उअअ (=उदक) आदि शब्द स्वरों की लड़ी से रह गये हैं और मूल शब्द का सब स्वरूप खो बैठे हैं। व्यञ्जनों का यह लोप इस बात को प्रकट करता है कि अंग्रेजी भाषा के व्यञ्जनों की अपेक्षा भारती व्यञ्जन बहुत निर्बल थे। प्रतिदिन व्यवहार में आने वाली भाषायें कुछ सुरक्षित रहीं। हेम-चन्द्र के कथनानुसार अपभ्रंश में स्वरमध्यवर्ती " क्, त्, प् " का लोप नहीं हुआ किन्तु वे क्रम से " ग्, द्, ब्, " बन गए। अप० णाअगु=नायकः, आगदो=आगतः, सभलउं=सफलकम्। किसी २ प्राकृत शब्द में भी यह परिवर्तन मिलता है। प्राचीन प्राकृत में (जैसे पाली में) क्, त्, प्, वैसे ही रहते हैं अथवा कभी ग्, द्, ब बन जाते हैं। सागल=साकल।

§ ११—उदाहरण—

शौरसेनी-अदिधि=अतिथि, कधेदु=कथयतु, पारिदोसिअ= पारितोषिक, भोदि=भवति, कधिदो=कथितः, किराद=किरात.

आणेदि=आनयति, तदो=ततः, किद=कृत, गद=गत, सक्कद=संस्कृत, सरस्सदी=सरस्वती।

मागधी—पालिदोशिअ=पारितोषिक, शाअदं=स्वागतम्, हगे=*अहक जो अहम् शब्द से बना है। अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री—असोग=अशोक, लोग=लोक, आगास=आकाश।

पाली—लोक, गच्छति, रूप।

§ ११—स्वरमध्यमवर्ती 'त्' का यह विकार नाटकीय शौरसेनी और महाराष्ट्री में एक लाक्षणिक भेद है—

शौरसेनी	माहाराष्ट्री	संस्कृत
जाणादि	जाणाइ	जानाति
एदि	एइ	एति
हिद	हिअ	हित
पाउद	पाउअ	प्राकृत
मरगद	मरगअ	मरकत
लदा	लआ	लता
ठिद	ठिअ	स्थित
पहुदि	पहुइ	प्रभृति
सद	सअ	शत
एदं	एयं	एतद्

§ १३—स्वरमध्यवर्ती ख्, घ्, थ्, ध्, फ्, और भ्, को प्राकृत में प्रायः ह्, हो जाता है। यथा—मुह=मुख, सही=सखी, मेह=मेघ, लहुअ=लघुक, जूह=यूथ, रुहिर=रुधिर, वहू=वधू, सहर=शफर, अहिणव=अभिनव, णह=नभस् या=(नख)।

§ १४—यहां भी शौरसेनी, मागधी तथा अन्य कई उपप्राकृतें अघोष थ् के स्थान में ध् का आदेश करती हैं। यथा—

शौ० अदिधि, कधेदु, तधा, अध, जधा=यथा। माग० यधा=यथा, तधा। (पाली में अघोष थ्, बना रहता है। यथा—अथ, यथा, तथा)।

शौरसेनी और माहाराष्ट्री में यह एक और लाक्षणिक भेद है। यथा—

शौरसेनी	माहाराष्ट्री	संस्कृत
अध	अह	अथ
मणोरध	मणोरह	मनोरथ
कधं	कहं	कथम्
णाध	णाह	नाथ

§ १५—किसी २ शब्द में स्वरमध्यवर्ती व्यञ्जन लोप होने (§ ६) अथवा ह् बनने (§ १३) के स्थान में द्विर्भाव को प्राप्त होजाता है। यथा—शौ० उज्जु=ऋजु, माह० णक्ख=नख, माह० शौ० एक्क=एक।

नोट १—दूसरे व्यञ्जन भी द्विर्भाव को प्राप्त होते हैं। यथा—जोव्वण=यौवन, तेल्ल=तैल, पेम्म=प्रेमन्।

नोट २—द्विर्भूत व्यञ्जन के पूर्ववर्ती स्वर सदा ह्रस्व होता है। यहां ए, ओ ह्रस्व स्वर हैं (§ ६८)।

नोट ३—महाप्राण व्यञ्जन का द्विर्भाव करते समय उस के पूर्व तत्स्थानीय अल्पप्राण रक्खा जाता है। यथा—क्ख, ग्घ आदि।

कई एक पुस्तकों में महाप्राण व्यञ्जन को ही दो बार लिखते हैं। यथा—ख्ख, छ्छ आदि। यह केवल लिपि भेद है, उच्चारण वही अर्थात् क्ख, ग्घ, च्छ आदि है।

§ १६—ट्, ठ् का प्राकृत में ड्, ढ् हो जाता है। पड=पट, पडाग्र=पटाक, कुडिल=कुटिल, कुडुम्ब=कुटुम्ब, वड=वट, पढण=पठन। किसी २ शब्द में ट् का ड् बनकर फिर ड् का ळ् हो जाता

है (§ २२)। माह० कक्कोळ=कर्कोट, माग० शअळ = शकट (शौ० सअड); माग० यूळक= जूटक (शौ० जूडअ)

§ १७—यदि प् का लोप न हुआ हो तो उसका व् बन जाता है। यथा—रूव=रूप, दीव=दीप (हिं० दीवाली), उवरि=उपरि, उवअरण=उपकरण, उवज्झाअ=उपाध्याय (हिं० ओझा), अवि=अपि, अवर=अपर (हिं० और), ताव=ताप।

§ १८—ब् का व् बन जाता है। यथा—कविल = कबिल, सवर=शबर।

§ १९—महाप्राण विधि। किसी किसी प्राकृत शब्द में संस्कृत क् का ख् हो जाता है (§ ६)। शब्द के मध्य में फिर इस ख् का ह् हो जाता है। यथा—माह० णिहस=निकष, माह० शौ० फलिह= स्फटिक। ट् का ठ् होकर ढ् बन जाता है। यथा—

अमा० वढ=वट। त् का थ् होकर ह् बन जाता है। यथा- माह० भरह=भरत, वसहि=वसति। प् का फ् होकर भ् बन जाता है। यथा—अमा० कच्छभ=कच्छप।

कभी २ न्, म्, ल् भी महाप्राण बन जाते हैं। यथा - माह० ण्हाविअ (शौ० माग० णाविद)=नापित। वास्तव में ण्हाविअ शब्द स्ना धातु से व्युत्पन्न स्नापित शब्द से बना है।

अमा० ल्हसुण (कभी लसुण भी)=लशुन (देखिये § ३०)। कभी महाप्राणत्व का व्यत्यय हो जाता है। जैसे—माह० दिहि= धृति (धृति का पहिले दिथि बना, फिर दिथि का दिहि हो गया) माह० धूआ, शौ० माग० धूदा=दुहिता, शौ० माग० बहिणी=भगिनी. माह० घेत्तुं=ग्रहीतुम् (*घृप्तुम्)।

कभी किसी वर्ण के महाप्राणत्व का लोप होजाता है। जैसे—शौ० संकला=शृङ्खला, परन्तु संखला और सिंखला रूप भी पाए जाते हैं।

§ २०—उच्चारण स्थान का परिवर्तन।

दन्त्य के स्थान मे मूर्धन्य—

पडि=प्रति, माह० पडिअ, शौ० माग० पडिद्=पतित, पढम=प्रथम।

इस प्रकार की मूर्धन्यविधि के अर्धमागधी में बहुत उदाहरण मिलते हैं। जैसे—ओसढ=औषध (माह० शौ० ओसह)। कई प्राकृतों में न् का नियम पूर्वक ण् हो जाता है जैसे—णूणं, णअण।

§ २१—ऊष्म। संस्कृत के तीनों ऊष्म अर्थात् श्, ष् और स् प्राकृत में स् हो जाते हैं (केवल मागधी में सब के स्थान में श् हो जाता है)। जैसे—माह० शौ० असेस=अशेष, माग० केशेशु=केशेषु (शौ० माह० केसेसु)।

§ २२—ड् के स्थान में कई बार ळ् हो जाता है। जैसे—माह० गरुळ=गरुड (शौ० गरुड, माग० गलुड), माह० शौ० कीळा=क्रीडा।

उत्तर भारतवर्ष में मुद्रित तथा लिखित पुस्तकों में ळ् के स्थान में ल् ही व्यवहृत होता है।

§ २३—किसी २ शब्द में त् और द् को ल् अथवा ळ् हो जाता है। जैसे—शौ० अलसी=अतसी, माह० सालवाहण=सातवाहन, माह० शौ० दोहळ=दोहद।

§ २४—ऐसे विशेषण और सर्वनाम शब्दों में द् का र् हो जाता है जिन के अन्त में दृश्, दृश, दृत्त हो *। जैसे—एरिस=ईदृश

* संख्या वाची संयुक्त शब्दों में दश के द् का र् हो जाता है। जैसे—एक्कारस, बारस, तेरस। परंतु चउद्दस, सोलस में नहीं होता। (अनुवादक)

(शौ० ईदिस भी), केरिस, अरणारिस, तुम्हारिस, सरिस ।

§ २५—किसी २ प्राकृत में म् का व् हो जाता है। जैसे—माह० वम्मह=मन्मथ (परन्तु शौ० मम्मध), महा० ओणविअ=अवनत (*अवनमित)।

यह विकार अपभ्रंश में वहुधा पाया जाता है और पूर्ववर्ती स्वर अथवा अन्तस्थ वर्ण को अनुनासिक कर देता है । तब अन्तस्थ अथवा अनुनासिकता का लोप हो जाता है। जैसे – अप० कँवल=कमल, जँउणा=यमुना, णवहिं=नमन्ति । इस विकार के उदाहरण माहाराष्ट्री में भी मिलते हैं । जैसे—चाँउण्डा=शौ० चामुण्डा ।

इसी विकार के आधार पर आधुनिक भाषाओं के शब्द कंवर=सं० कुमार, गाँव=सं० ग्राम (पाली, प्रा० गाम) आदि रूप वनते हैं।

§ २६—मागधी में र् का सदा ल् हो जाता है परन्तु इतर प्राकृतों में ऐसा कभी २ होता है। जैसे—माह० शौ० दलिद्द=दरिद्र, मुहर=मुखर ।

यह विकार माह० और शौ० की अपेक्षा अर्धमागधी में अधिक मिलता है।

§ २७ – कभी किसी विशेष प्राकृत में अथवा विशेष शब्द-गण में श्, ष्, स् का ह् हो जाता है । जैसे – माह० धणुह=धनुस् (धनुष), माह० पच्चूह=प्रत्यूष (अर्थ बालातप), जब अर्थ प्रभात हो तब पच्चूस रूप वनता है। माह० पाहाण=पाषाण, माह० अणुदिअहं (शौ० अणुदिवसं)=अनुदिवसम् ।

भविष्यत् क्रिया के रूपों में । जैसे—माह० णेहिइ=नेष्यति, अमा० गाहिइ=गास्यति, जैमा० पाहामि=पास्यामि, असा० गमिहिइ=गमिष्यति ।

षष्ठी एकवचन के रूपों में । जैसे माग० कामाह=कामस्य, अप० कव्वह=काव्यस्य ।

कुछ सर्वनाम के रूपों में । जैसे—अप० एहो=एष, प्रा० तुम्हे=तुष्मे, माह० ताह, तास, तस्स=तस्य, कभी तासिं के स्थान में तहिं=तस्मिन् ।

यह विकार अपभ्रंश में बहुत अधिक है और इसके द्वारा अर्वाचीन संज्ञा और क्रिया की रूपरचना में कई एक रूपों का समाधान होता है । इस विकार का इतिहास तथा प्रभावक्षेत्र अभी तक निर्णीत नहीं हुआ।

§ २८—कभी २ संस्कृत ह् के स्थान में प्राकृत में ध् आदि महाप्राण व्यञ्जन मिलते हैं । जैसे—शौ० माग० इध, माह० इह=इह (पाली में भी इध है) । यहां शौरसेनी रूप अधिक प्राचीन है । कई बार संस्कृत ह् का मूल घोष महाप्राण व्यञ्जन होता है जैसे देखिये—हन्ति, अघ्नन्, जघान ।

§ २९—अन्तिम व्यञ्जन । अन्तिम स्पर्शों का लोप हो जाता है परन्तु अन्तिम नासिक्य का अनुस्वार बन जाता है। अकार के परे विसर्ग हो तो दोनों का ओ हो जाता है (अः=ओ) । किसी दूसरे स्वर के परे विसर्ग का लोप हो जाता है । कभी २ अन्तिम स्वर को अनुनासिक कर देते हैं । समस्त पदों के अन्तिम व्यञ्जनों के विकार के लिये देखिये सन्धि विषय अध्याय ७ ।

अध्याय पांचवां ।

संयुक्त व्यञ्जन ।

§ ३०—पद के आदि में केवल एक ही (असंयुक्त) व्यञ्जन आ सकता है ।

अपवाद—

१. ण्ह । जैसे--ण्हाण=स्नान ।

२. म्ह । जैसे--म्हि=अस्मि, म्हो, म्ह=स्मः ।

३. समस्त पद में द्वितीय शब्द के आदि में ।

नोट - यदि ण्ह, म्ह को संयुक्त व्यञ्जन न मानकर ण् और म् के महाप्राण रूप समझें तो वे अपवाद न रहेंगे ।

बहुत सी भाषाओं में देखा जाता है कि उनके अन्तिम व्यञ्जन अस्पष्ट होते हैं और अन्तिम स्पर्श अभिनिहित रहते हैं अर्थात् उन को उच्चारण करने में स्थान और करण का स्पर्श खोला नहीं जाता। इस अवस्था में अघोष स्पर्श केवल मौनरूप और घोष स्पर्श केवल अव्यक्त नाद हो जाते हैं। कुछ काल पीछे स्पर्श प्रयत्न भी जाता रहता है और इस प्रकार अभिनिहित स्पर्श का लोप ही हो जाता है। नासिक्य व्यञ्जन का नाद अधिक बलवान् होने के कारण बचा रहता है ।

§ ३१—शब्द के मध्य में कोई संयुक्त व्यञ्जन दो वर्णों से अधिक का नहीं होता, वह भी—

(१) द्विर्भूत होना चाहिये जैसे क्क, क्ख, ग्ग, ग्घ आदि ।

(२) नासिक्य व्यञ्जन के परे तत्स्थानीय स्पर्श जैसे—ङ्क ङ्ख आदि अथवा

(३) ण्ह, म्ह, ल्ह अर्थात् महाप्राण ण्, म्, ल् ।

§ ३२—इस कारण संयुक्त अक्षर या तो समानादेश को प्राप्त होते हैं या स्वर भक्ति द्वारा पृथक् पृथक् होजाते हैं ।

§ ३३—समानादेश का साधारण नियम यह है कि तुल्य बल वालों में द्वितीय व्यञ्जन के सदृश, और अतुल्य बल वालों में बलवत्तर के सदृश आदेश होता है।

बल की अपेक्षा व्यञ्जन इस प्रकार विभक्त किये जा सकते हैं।

(१) प्रत्येक वर्ग के प्रथम चार व्यञ्जन। (सब से अधिक बलवान्)

(२) नासिक्य व्यञ्जन। (नं० १ से उतर कर)

(३) ल्, स्, व्, य्, र् यथाक्रम। (नं० २ से उतर कर)

ह् का स्थान विलक्षण है (§ ५२—५४)

§ ३४—दो स्पर्श। उपर्युक्त नियमानुसार क्+त् का त्त, ग्+ध् का द्ध, द्+ग् का ग्ग आदि हो जाते हैं।

उदाहरण – जुत्त=युक्त, वप्पइराअ=वाक्पतिराज, दुद्ध=दुग्ध, छप्परण=षट्चरण (§ ६), खग्ग=खड्ग, बलक्कार=बलात्कार, उप्पल=उत्पल, उग्गम=उद्गम, सब्भाव=सद्भाव, सुत्त=सुप्त, खुज्ज=कुब्ज (§ ६), सद्द=शब्द, लद्ध=लब्ध।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि जब किसी संयुक्त अक्षर में दो स्पर्श इकट्ठे आवें तो उनमें पहले को दूसरे का समानादेश हो जाता। है। इस आदेश का समाधान यह है कि पहले स्पर्श का उच्चारण अभिनिहित होता;था।

‡ ३५—यदि नासिक्य व्यञ्जन के परे तत्स्थानीय स्पर्श हो तो वह नासिक्य व्यञ्जन बना रहता है और यदि उसके परे अन्य स्थानीय स्पर्श हो तो वह अनुस्वार बन जाता है। जैसे--सङ्खल=शृङ्खल, कौञ्च=क्रौञ्च, कण्ठ, मन्थर, जम्बू; परन्तु दिंमुह=दिङ्मुख, पंति=पङ्क्ति, विंझ=विन्ध्य (§ ४४)

§ ३६—यदि स्पर्श के परे नासिक्य व्यञ्जन हो तो नासिक्य को

स्पर्श का समानादेश होता है। जैसे—अग्गि=अग्नि, विग्घ=विघ्न, सवत्ती=सपत्नी, जुग्ग=युग्म ।

अपवाद—

(१) ज्ञ का रण हो जाता है। जण्ण=यज्ञ, अणहिण्ण=अनभिज्ञ, आणवेदि=आज्ञापयति ।

नोट—कभी समास में ज्ञ का ज्ञ भी बन जाता है। जैसे—मणोज्ञ=मनोज्ञ ।

हेमचन्द्र के मतानुसार मागधी में ज्ञ का ञ्ञ बनता है (प्राकृत व्याकरण पाद ४, सू० २९३)।

(२) माहाराष्ट्री में प्रायः कर के, और अपभ्रंश में सर्वदा आत्मन् का अप्प रूप बनता है जिससे हिं० आप निकलता है। और प्राकृतों में से किसी में अप्प, किसी में अत्त होता है।

(३) द्म का म्म हो जाता है—पोम्म=पद्म (पउम रूप भी बनता है § ५७)।

§ ३७—ल् वाले संयुक्त स्पर्श में ल् को स्पर्शादेश हो जाता है। जैसे-वक्कल=वल्कल, फग्गुण=फल्गुन, अप्प=अल्प, कप्प=कल्प, (अपवाद-जल्प् धातु को जम्प् अथवा जप्प् आदेश होता है), पवंग=प्लवंग ।

§ ३८ - स्पर्श तथा ऊष्म का संयोग। इस में स्पर्श अघोष ही हो सकता है। जब ऊष्म पहिले हो तो इसे स्पर्शादेश होकर दोनों स्पर्श महाप्राण बन जाते हैं। जैसे—स्त का त्थ हो जाता है। लेकिन अगर ऊष्म किसी समास में प्रथम शब्द का अन्तिम वर्ण हो और स्पर्श दूसरे शब्द का आदि वर्ण, तो स्पर्श का महाप्राण बन जाना ज़रूरी नहीं, ख़ासकर जब कि पहिला शब्द दुस् आदि कोई उपसर्ग हो ।

श्च का च्छ हो जाता है। अच्छरिअ=आश्चर्य, पच्छा=पश्चात्, परन्तु निच्चल=निश्चल, दुच्चरिअ=दुश्चरित।

(मागधी में श्च वैसा ही रहता है, माग० निश्चल)।

ष्क और ष्ख को क्ख हो जाता है। शौ० पोक्खर=पुष्कर; सुक्ख=शुष्क, इस शब्द में प्रायः महाप्राणत्व नहीं होता। [प्रा० सुक्क; देखिये पंजा० सुक्का। अनुवादक] माह० चउक्क, शौ० चदुक्क=चतुष्क, माह० शौ० दुक्कर=दुष्कर, √णिक्कम्=√निष्क्रम् आदि।

ष्ट और ष्ठ का ट्ठ हो जाता है। दिट्ठि=दृष्टि, सुट्ठु=सुष्ठु। (अपवाद--वेढ√वेष्ट्, परन्तु देखिये पाली वेठति)। ष्प और ष्फ का प्फ हो जाता है। पुप्फ=पुष्प, णिप्फल=निष्फल।

स्त और स्थ का त्थ हो जाता है। थण=स्तन, अत्थि=अस्ति, हत्थ=हस्त, अवत्था=अवस्था, काअत्थअ=कायस्थक। उपसर्ग दुस्—दुत्तर=दुस्तर। कभी त्थ को मूर्धन्यविधि होजाती है। माह० शौ० अट्ठि=अस्थि।—स्था धातु में कभी त्थ और कभी ठ होता है। शौ० थिद, ठिद, माह० थिअ, ठिअ=स्थित; माह० शौ० ठाण (माह० कभी थाण भी)=स्थान; शौ० थिदि, ठिदि, माह० थिइ, ठिइ=स्थिति।

स्प और स्फ का प्फ हो जाता है। फंस=स्पर्श (§ ४६); फळिह=स्फटिक; अमा० फुसइ=स्पृशति।

§ ३६—जिस संयुक्त अक्षर में स्पर्श पहिले और ऊष्म पीछे हो, उस का च्छ बन जाता है। जैसे—अच्छि=अक्षि, रिच्छ=ऋक्ष, माह० छुहा=क्षुधा, मच्छर=मत्सर, वच्छ=वत्स (वृक्ष का भी यही रूप होता है); अच्छरा=अप्सरा, जुगुच्छा=जुगुप्सा।

§ ४०—क्ष को प्रायः क्ख आदेश होता है। शौ० खत्तिअ=क्षत्रिय, खित्त=क्षिप्त, अक्खि=अक्षि, णिक्खिविदुं=निक्षेप्तुम्, सिक्खिद=शिक्षित, दक्खिण=दक्षिण।

किसी शब्द में एक प्राकृत में क्ख आदेश, दूसरी में च्छ आदेश होता है। माह० उच्छु, शौ० इक्खु=इक्षु, माह० कुच्छि, शौ० कुक्खि=कुक्षि; माह० पेच्छइ, शौ० पेक्खदि=प्रेक्षते, माह० शौ० सारिच्छ, शौ० सारिक्ख भी=* सादृक्ष।

कभी क्ष को ज्झ आदेश होता है। शौ० पज्झरावेदि=* प्रक्षरापयति, माह० शौ० झीण=क्षीण (खीण रूप भी मिलता है)।

नोट—पिशल महाशय क्ष के इन तीनों आदेशों के लिये क्ष के भिन्न २ मूल मानते हैं। (१) मूल क्ष (=अबस्ता ख़्श) को क्ख आदेश, (२) शृष से व्युत्पन्न क्ष (=अवस्ता श) को च्छ आदेश (३) यृज़ से व्युत्पन्न क्ष को ज्झ आदेश होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शृष कठिनतालव्य स्पर्श और उसके अनन्तर तत्स्थानीय ऊष्म था। यृज में यही घोष वर्ण थे। क्ष में कोमल तालव्य स्पर्श (जिह्वामूलीय या कण्ठ्य) तथा ऊष्म थे। क्ष में जो ष है वह भी भारतीय मूर्धन्य ष से कुछ भिन्न था। अभी इस बात के अनुसन्धान की आवश्यकता है कि 'ष' और 'क्ष' का उच्चारण किस प्रकार का था, और पारसीक भाषा में ख् तथा श् में क्या भेद था। शिलालेख तथा अन्य साधनों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में यह भेद स्थानीय था अर्थात् च्छ आदेश पश्चिम तथा पश्चिमोत्तर में और क्ख आदेश पूर्व देश में होता था।

§ ४१—समस्त पदों में जब त् पहिले शब्द का अन्तिम वर्ण और श् अथवा स् दूसरे शब्द का आदि वर्ण हो तो त्श् और त्स् को स्स् आदेश हो जाता है। कभी स्स् के पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ

करके स्स् को स् आदेश होजाता है। पज्जुस्सुअ=पर्युत्सुक, ऊसव=उत्सव, शौ० उस्सास, माह० ऊसास=उच्छ्वास।

§ ४२—स्पर्श के संयोग में व् हो तो व् को स्पर्शादेश होजाता है। माह० कढिअ, शौ० कढिद=कथित, शौ० पक्क=पक्व, उज्जल=उज्ज्वल, सत्त=सत्त्व, दिअ=द्विज।

अपवाद। जब उद् उपसर्ग के परे व् हो तो उद् के द् को व् आदेश होता है। जैसे—उव्विग्ग=उद्विग्न।

§ ४३—स्पर्श के संयोग में य् हो तो य् को स्पर्शादेश होता है। चाणक्क=चाणक्य, सोक्ख=सौख्य, जोग्ग=योग्य, णट्टअ=नाट्यक, अब्भन्तर=अभ्यन्तर।

§ ४४—यदि य् के पूर्ववर्ती दन्त्य स्पर्श हो तो य् को स्पर्शादेश होने से पहिले दन्त्य को तालव्य आदेश हो जाता है। सच्च=सत्य, णेवच्छ=नेपथ्य; अच्चन्त=अत्यन्त, रच्छा=रथ्या, अज्ज=अद्य, उवज्झाअ=उपाध्याय, संझा=सन्ध्या, मज्झ=मध्य।

§ ४५—स्पर्श के संयोग में र् हो तो र् को स्पर्शादेश होता है। तक्केमि=तर्कयामि, चक्क=चक्र, मग्ग=मार्ग, गाम=ग्राम, समुच्छिअ=समुच्छ्रित, णिव्बन्ध=निर्बन्ध, चित्त=चित्र, पत्त=पत्र, अत्थ=अर्थ, समुद्द=समुद्र, अद्ध=अर्ध।

अपवाद—अत्र का अत्थ और तत्र का तत्थ बनता है।

(जब र् के परे दन्त्य स्पर्श हो तो कभी २ र् को स्पर्शादेश होने से पहिले दन्त्य स्पर्श को मूर्धन्य आदेश हो जाता है विशेष कर अर्धमागधी प्राकृत में। शौ० वट्टदि=वर्तते)

§ ४६—यदि म् के पूर्व ङ् या ण् हो तो ङ् या ण् का अनुस्वार

हो जाता है, परन्तु न् और म् अथवा म् और न् के योग में पूर्व नासिक्य को परादेश हो जाता है फिर न्न का ण्ण हो जाता है। जैसे— दिंमुह=दिङ्मुख, छंमुह=षण्मुख, उम्मुह=उन्मुख, जम्म=जन्म णिण्ण=निम्न, पज्जुण्ण=प्रद्युम्न।

§ ४७—नासिक्य और ऊष्म। यदि संयुक्त अक्षर में नासिक्य पहिले हो तो उस का अनुस्वार बन जाता है, और यदि ऊष्म पहिले हो तो उस का ह् बनकर वर्ण व्यत्यय हो जाता है।

श्न का ण्ह हो जाता है। पण्ह=प्रश्न।

श्म ,, म्ह ,, ,, । कम्हीर=काश्मीर।

ष्ण ,, ण्ह ,, ,, । उण्ह=उष्ण, कण्ह=कृष्ण।

ष्म ,, म्ह ,, ,, । गिम्ह=ग्रीष्म।

स्न ,, ण्ह ,, ,, । ण्हाण=स्नान।

स्म ,, म्ह ,, ,, । अम्हे=अस्मे, विम्हअ=विस्मय।

अपवाद—

(१) रश्मि शब्द का सदा रस्सि बनता है।

(२) शब्द के आदि में श्म हो तो उस को म हो जाता है। मसाण=श्मशान।

(३) स्नेह और स्निग्ध का णेह, णिद्ध अथवा सिणेह, सिणिद्ध बनता है।

सर्वनाम सप्तमी ष्मिन् एकवचन प्रत्यय—का म्मि, और स्मिन् का स्सिं या म्मि हो जाता है। शौ० एदस्सिं, माह० एअस्सिं या एअम्मि=एतस्मिन्। (अमा० में ंसि होता है। तंसि=तस्मिन्)

§ ४८—नासिक्य और अन्तस्थ के योग में अन्तस्थ को नासि· क्यादेश होता है। गुम्म=गुल्म, मेच्छ=म्लेच्छ, अण्णेसणा=अन्वेषणा, पुण्ण=पुण्य, अण्ण=अन्य, सोम्म=सौम्य, धम्म=धर्म, कण्ण=कर्ण।

नोट-दीर्घ स्वर के परे म्य का म हो जाता है। कामाए=काम्याय

§ ४६—ऊष्म और अन्तस्थ के योग में अन्तस्थ को ऊष्मादेश होता है। साहणीय=श्लाघनीय, पास=पार्श्व, माह० आस, शौ० अस्स=अश्व, अवस्सं=अवश्यम। माह० मीस, शौ० मिस्स=मिश्र, मणुस्स=मनुष्य, शौ० परिस्सअदि=परिष्वजते, रहस्स=रहस्य, वअस्स=वयस्य, तस्स=तस्य, सहस्स=सहस्र, सहत्थ=स्वहस्त, शौ० सरस्सदी=सरस्वती, साअदं=स्वागतम्।

नोट १—कभी स्स का स हो जाता है। तब (क) पूर्व स्वर दीर्घ हो जाता है जैसा कि ऊपर माह० मीस, आस में हुआ या (ख) पूर्वस्वर सानुस्वार हो जाता है। यह प्रायः संस्कृत के श्र और र्श के स्थान में होता है। अंसु=अश्रु, फंस=स्पर्श, दंसण=दर्शन (§ ६४)।

नोट २—किसी प्राकृत में ऐसे स का फिर ह हो जाता है। जैसे—माग० कामाह, अप० कामहो या कामहु। इस परिवर्तन का आधुनिक रूप रचना पर बड़ा प्रभाव पड़ा है (§ २७)।

§—दो अन्तस्थ वर्णों के योग में न्यून बल वाले को बलवत्तर का आदेश होता है। बल की अपेक्षा इनका क्रम यह है-ल्, व्, र्, य्। उदाहरण—गल्लक=गल्वर्क, मुल्ल=मूल्य, दुल्लह=दुर्लभ, कव्व=काव्य, परिव्वाजअ=परिव्राजक, सव्व=सर्व।

अपवाद--र्य में य का ज बन जाता है अर्थात् र्य का ज्ज बन जाता है। अज्ज=आर्य, कज्ज=कार्य। किसी शब्द में र्य के र् का ल् बन कर र्य का ल्ल हो जाता है। पल्लत्थ=पर्यस्त।

नोट—मागधी के अतिरिक्त और प्राकृतों मे य्य का ज्ज होता है।

§ ५१—क्, ख्, प्, फ् के पूर्ववर्ती विसर्ग का स्, ष् की न्याई परिवर्तन होता है। दुक्ख=दुःख, अन्तक्करण=अन्तःकरण। ऊष्म के पूर्ववर्ती विसर्ग का भी यही हाल है। शौ० चदुस्समुद्द=चतुः समुद्र; दुस्सह=दुःसह (माह०, शौ० में इस का दूसह रूप भी बनता है)।

§ ५२—जब ह के परे नासिक्य या ल हो तो उनका व्यत्यय होता है। अवरण्ह=अपराह्ण, मज्झण्ह=मध्याह्न, माह० गेण्हइ, शौ० गेण्हदि=गृह्णाति, चिण्ह=चिह्न (माह० में इस का चिन्ध रूप भी है) बम्हण=ब्राह्मण, पल्हत्थ=प्रह्लस्त (धातु √ह्लस् या √ह्रस्)।

§ ५३—ह्य् में य् का ज् हो कर ज्झ बन जाता है। सज्झ=सह्य अणुगेज्झा=अनुग्राह्या।

§ ५४—ह्व का व्ह् हो कर ब्भ् बन जाता है। अथवा केवल ह् रह जाता है। विब्भल=विह्वल, जीहा (अमा० जिब्भा)=जिह्वा।

[ह्न और र्ह के विचार के लिये देखिये § ५७]

§ ५५—मूर्धन्य विधि।

तवर्ग वाले संयुक्त अक्षरों को कभी टवर्ग का आदेश हो जाता है। शौ० मट्टिआ=मृत्तिका, शौ० माह० वुड्ढ=वृद्ध, गण्ठि=ग्रन्थि।

माह० और शौ० में मूर्धन्यविधि प्रायः संस्कृत ऋ या र् के परे होती है परन्तु अमा० में और स्थलों पर, विशेष कर ऊष्म वर्ण के परे भी, हो जाती है। [पिशल् § २८९, गाइगर् § ६४]

§ ५६—तीन वर्णों के संयुक्त अक्षरों में भी यही नियम लगते हैं। जैसे—मच्छ=मत्स्य, अग्घ= अर्घ्य, अत्थ=अस्त्र, इत्यादि।

§ ५७—स्वरभक्ति। जब संयुक्त अक्षर में एक नासिक्य या अन्तस्थ हो तो कभी कभी उन दोनों को स्वरभक्ति द्वारा पृथक् अर्थात् सस्वर कर दिया जाता है। तब ये पृथक् वर्ण अपने योग्य विकार को प्राप्त होते हैं। प्रायः स्वरभक्ति 'इ' (ओष्ठ्य वर्ण के परे) 'उ' अथवा 'अ' होते हैं। महा० रअण, शौ० रदण, माग० लदण=रत्न। महा० शौ० सलाहा=श्लाघा, आमरिस=आमर्ष, वरिस=वर्ष, हरिस=हर्ष, किलन्त=क्लान्त, किलिएण=क्लिन्न, मिलाण=म्लान, तुवर=त्वर-[स्व], दुवार=द्वार; सुवो=स्वः, अरिह=अर्ह, पउम=पद्म (पाली पदुम), शौ० सुमरदि=स्मरति।

§ ५८—यदि इन में एक वर्ण 'य्' हो तो उसका लोप हो जाता है। आचारिअ=आचार्य; चोरिअ=चौर्य, हिओ=ह्यस् [यहां उच्चारण में बहुत सूक्ष्म भेद है]। वेरुलिअ=वैडूर्य।

कभी २ स्वर भक्ति ई आती है। अच्छरिअ या शौ० अच्छरीअ=आश्चर्य (माह० में अच्छेर भी है § ७६); शौ० पढीअदि (पाली पठीयते)=पठ्यते।



अध्याय ६

स्वर

§ ५९—संस्कृत वैयाकरण ऋ और ऌ को स्वरों में गिनते थे। वे पाली और प्राकृत में लुप्त हो गए। आज कल ऋ का उच्चारण रि किया जाता है, परन्तु प्राचीन समय में ऐसा नहीं था अर्थात् यह व्यञ्जन+स्वर दो वर्ण नहीं थे किन्तु एक ही घोष वर्ण था। इस का उच्चारण स्लैवोनिक भाषा के घोष र् के उच्चारण से मिलता था जैसा कि Srbi (सृबि) शब्द में जो उन लोगों का अपना नाम है। जिन की भाषाओं में यह वर्ण नहीं पाया जाता, वे लोग स्वाभाविकतया इस के स्थान में र् के किसी एक तरफ या दोनों तरफ संवृततर अ, अथवा कोई और स्वर लगा कर बोलते हैं। इस से हम जान सकते हैं कि (१) क्यों ऋ का गुण अर् है न कि रे; (२) क्यों अवस्ता में वृत्रहन् के स्थान में 'वेरेथ्रग्न,' ऋजु के स्थान 'एरेज़ु' आता है (३) क्यों पाली में ऋत्विज् के स्थान में इरित्विज और ऋग्वेद के स्थान में इरुब्वेद आया है और (४) क्यों प्राकृतों में ह्रस्व ए का संकेत न होने के कारण ऋ के स्थान में अ, इ, उ, और रि आते हैं।

प्राचीन ऌ स्वर का आधुनिक उच्चारण ल्रि तो और भी अशुद्ध है। इस का उच्चारण अंग्रेजी शब्द "battle" बैट्ल् के l (एल) का सा था। इस का गुण अल् था और प्राकृत में इस के स्थान पर इलि, लि या अ आता है। किलित्त=कॢप्त।

§ ६०—ऋ के प्राकृत आदेश।

रि—शब्द के आदि में (माग० लि)—रिद्धि=ऋद्धि, रिच्छ=ऋक्ष, रिसि=ऋषि।

अ— माह० कअ, शौ० कद=कृत, वसह=वृषभ।

इ—(यह आदेश सब से अधिक मिलता है।) किविण=कृपण, गिद्ध=गृध्र, दिट्ठि=दृष्टि, सिआल=शृगाल, हिअअ=हृदय।

उ—ओष्ठ्य व्यञ्जन के परे, अथवा जब परे किसी अक्षर में उ हो। माह० णिहुअ, शौ० णिहुद=निभृत, माह० पुच्छइ, शौ० पुच्छदि=पृच्छति, मुणाल=मृणाल, वुत्तन्त=वृत्तान्त।

नोट १— कभी एक ही भाषा में भिन्न आदेश पाये जाते हैं।

शौ० दढ या दिढ=दृढ, माह० णिअत्त या णिवुत्त=निवृत्त।

नोट २—समास में अथवा क प्रत्यय के पूर्व ऋकारान्त शब्दों के ऋ को उ आदेश होता है। जैसे—शौ० जामादुअ=जामातृक, भादुसअ=भ्रातृशत। कभी इ आदेश भी होता है—शौ० भट्टिदारअ=भर्तृदारक।

नोट ३—अ, इ, उ आदेश शब्द के आदि में भी आते हैं।

अमा० अण=ऋण, शौ० इसि=ऋषि, उज्जु=ऋजु। [पिशल महोदय ने सं० ऋच्छति को माह० अच्छइ और पाली अच्छति की प्रकृति माना है, किन्तु कई दूसरे पण्डित इन को √अस् अथवा √आस् धातु के एक गण विशेष के रूप मानते हैं। पिशल् § ४८०, गाइगर् § १३५.२]

नोट ४—दीर्घ ॠ को ई या ऊ आदेश होता है।

नोट ५—देश की अपेक्षा ऋ के आदेश—

दक्षिण तथा पश्चिम में अ।

पूर्व (गौड), मध्य देश तथा उत्तर में इ तथा ओष्ठ्य वर्ण के परे उ* ।

§ ६१—सन्धिस्वर ऐ, औ को ए ओ हो जाता है। द्विभूत वर्णों के पहिले ए, ओ का ह्रस्व उच्चारण होता है (§§ १५, ६८)।

शौ० एदिहासिअ=ऐतिहासिक; एरावण=ऐरावण, तेल्ल=तैल, वेज्ज=वैद्य। महा० कोमुई, शौ० कोमुदी=कौमुदी; जोव्वण=यौवन, सोम्म=सौम्य ।

नोट—कभी महाराष्ट्री तथा कई अन्य उपप्राकृतों में ऐ का 'अइ' और औ का 'अउ' बन जाता है। जैसे - वइर=वैर, मउलि=मौलि। ये आदेश शौरसेनी और मागधी में लागू नहीं होते ।

§ ६२—स्वरों का कालपरिवर्तन। दीर्घ स्वर के परे केवल असंयुक्त व्यञ्जन आ सकता है इस लिये संयुक्त व्यञ्जन के पहिले सदा ह्रस्व स्वर रहता है। इस नियम के अनुसार बहुत से उदाहरण ऐसे हैं जिन के संस्कृत रूप में दीर्घ स्वर है परन्तु प्राकृत रूप में ह्रस्व स्वर है । इस प्रकार की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है कि द्विभूत व्यञ्जन को ह्रस्व अर्थात् इकहरा कर के उस के पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया जाता था। यह प्रवृत्ति शौरसेनी और मागधी की अपेक्षा माहाराष्ट्री (विशेष कर अर्धमागधी और जैन माहाराष्ट्री) में बहुत अधिक थी। यह प्रवृत्ति आधुनिक आर्य भारती में बहुत प्रधान है (देखिये—प्रा० अग्गि, पं० अग्ग परन्तु हिं० आग)।

§ ६३ - ह्रस्व स्वर का दीर्घ आदेश।

यह आदेश प्रायः वहां होता है जहां संस्कृत में ह्रस्व स्वर के परे र्+व्यञ्जन (विशेष कर र्+ऊष्म) अथवा ऊष्म+य्, र्, व्, या

---

* देखो प्रो० जे ब्लाक कृत 'मराठी भाषा की व्युत्पत्ति' § ३१ (फ्रैंच भाषा में); सुनीतिकुमार चैटर्जी कृत 'बंगला की व्युत्पत्ति' (अंग्रेजी में); पिशल महोदय कृत प्राकृत व्याकरण §§ ४९-५१ तथा गाईगिर कृत पाली व्याकरण §§ १२ (जर्मन भाषा में)।

ऊष्म हो। शौ० कादुं=कर्तुम्, कादव्व=कर्तव्य। अमा० फास=स्पर्श, मणूस (शौ० मणुस्स)=मनुष्य। महा० आस (शौ० अस्स)=अश्व, माह० शौ० ऊसव=उत्सव, दूसह=दुःसह।

§ ६४—ऐसी दशा में कभी स्वर दीर्घ होने की जगह सानुस्वार हो जाता है। दंसण=दर्शन, फंस=स्पर्श (§ ४६), माह० अंसु (शौ० अस्सु)=अश्रु, अमा० अंसि (शौ० म्हि)=अस्मि।

§ ६५—इस के उलट कभी कभी र्, स् और ह् के पूर्व स्वर सानुस्वार होने के स्थान में दीर्घ हो जाता है। जैसे—दाढा=दंष्ट्रा, माह० पीसइ, शौ० पीसेदि=*पिंसति (जो पिनष्टि का रूपान्तर है), माह० सीह=सिंह (सिंघ भी रूप मिलता है; शौ० सिंह)।

§ ६६—और भी कई स्थल हैं जहां स्वर दीर्घ हो जाता है। कभी समास के मध्य में, किसी विशेष प्रत्यय के पहिले, अथवा दूसरे शब्दों के साम्यारोप से। जैसे—माह० शौ० सारिच्छ शौ० सारिक्ख=*सादृक्ष (जो सदृक्ष का ही तादृक्ष, यादृक्ष के साम्यारोप से रूप बन गया है)।

§ ६७—स्वरों को ह्रस्वादेश। जैसा ऊपर कहा गया है द्विर्भूत व्यञ्जन अथवा अनुस्वार के पूर्व स्वर सदा ह्रस्व होता है। परन्तु कभी दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है यदि उस से पूर्ववर्ती या परवर्ती अक्षर उदात्त हो। जैसे—अलिअ=अलीक (यह आद्युदात्त है), माह० मंजर (कभी२ मंजार, शौ० मज्जार)=मार्जार (यह अन्तोदात्त है)।

नोट—माहाराष्ट्री में शब्द के अन्दर बली अक्षर वही रहता था जो वैदिक में उदात्त होता था परन्तु शौरसेनी में बली अक्षर का स्थान पाणिनीय संस्कृत के अनुसार था। यही कारण है कि कभी

मराठी और हिन्दी शब्दों में स्वरों की ह्रस्व दीर्घता का भेद पाया जाता है ।

§ ६८—कभी अन्तोदात्त शब्दों में असंयुक्त व्यञ्जन के पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर ह्रस्व होजाता है और व्यञ्जन द्विर्भूत होजाता है । जैसे-एव्वं=एवम्, जोव्वण=यौवन, तेल्ल=तैल, पेम्म=प्रेमन् ।

नोट १—अन्तिम दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है यदि उसके परे ऐसा निपात हो जिस के आदि में संयुक्त या द्विर्भूत व्यञ्जन हो । जैसे—माह० ठिअम्हि=स्थितास्मि ।

नोट २—शौ० जेव, जेव्व (=एव) का ज्जेव, ज्जेव्व हो जाता है यदि उसके पूर्व ह्रस्व स्वर हो । जैसे—अज्जस्सज्जेव्व=आर्यस्यैव ह्रस्व ए, ओ के पश्चात् भी—भूमिएँ ज्जेव्व=भूम्यामेव, इदो ज्जेव्व= इत एव ।

नोट ३—श्री को सिरि आदेश होता है ।

नोट ४—महाराष्ट्री में क्रियाविशेषणों का अन्तिम आ प्रायः ह्रस्व हो जाता है—जह=यथा ।

§ ६९—एक स्वर के स्थान में दूसरा स्वर । उदाहरण—अ>इ, उदात्त अक्षर के पूर्व, विशेषकर माहाराष्ट्री में । पिक्क=पक्व (शौ० पक्क भी होता है); माह० मज्झिम, शौ० मज्झम=मध्यम, माह० कइम, शौ० कदम=कतम ।

नोट—हिन्दी में पका (बल 'प' पर) होता है, मराठी में 'पिका' (बल 'का' पर)

अ>उ, (१) ओष्ठ्य व्यञ्जन के पूर्व—पुलोएदि=प्रलोकयति । यह आदेश शौ० या माग० की अपेक्षा माह० और अमा० में अधिक होता है । (२) ज्ञा धातु जिन शब्दों के अन्त में हो—सव्वण्णु=सर्वज्ञ ।

आ>इ, उदात्त के परे—माह० जम्पिमो=जल्पामः, उदात्त के पूर्व —अमा० विहत्थिमित्त=वितस्तिमात्र। इस दशा में इ का प्रायः ह्रस्व ए हो जाता है—मेत्त=मात्र।

§ ७०—इ>उ, यदि परे के अक्षर में उ हो। महा० उच्छु (शौ० इक्खु)=इक्षु, अमा० उसु=इषु।

इ>ए (ह्रस्व) द्विभूत व्यञ्जन के पूर्व—एत्थ=इत्था, गेज्झ=गृह्य=(गिज्झ<गृह्य=ग्राह्य)।

इ>ए, ईदृशादि में। शौ० एरिस, ईदिस=ईदृश। केरिस, कीदिस=कीदृश। [वास्तव में एरिस की प्रकृति वैदिक शब्द अया+दृश् है—पिशल् § १२१]

§ ७१—उ> अ, यदि परवर्ती अक्षर में भी उ हो। गरुअ=गुरुक, मउल=मुकुल। उ>इ। पुरिस=पुरुष (माग० पुलिश)। उ>ओ (ह्रस्व), द्विभूत व्यञ्जन के पूर्व। शौ० पोक्खर=पुष्कर, पोत्थअ=पुस्तक (हिं० पोथी); मोग्गर=मुद्गर, माह० गोच्छ=गुच्छ।

उ>ओ (ह्रस्व वा दीर्घ) द्विभूत व्यञ्जन के पूर्व, अथवा जब द्विभूत व्यञ्जन को असंयुक्त या इकहरा कर दिया हो—माह० मोल्ल=मूल्य, थोर=* थोर्र (=स्थूर), तम्बोल=ताम्बूल [ताम्बूल> * तम्बुल्ल> *तम्बोल्ल 7 तम्बोल]

§ ७२—ए>इ, (१) अनुदात्त होने पर- माह० इण=एन; विअणा=वेदना, दिअर=देवर।

(२) द्विभूत व्यञ्जन के पूर्व—शौ० मित्तेअ=मैत्रेय।

(३) कभी दीर्घ स्वर के परे—शौ० माग० एदिणा=एतेन (एदेण रूप भी होता है)।

§ ७३—ओ>उ, (१) द्विर्भूत व्यञ्जन के पूर्व—माह० अरणुरण, अरणोरण=अन्योन्य (§ ६१)।

(२) अपभ्रंश में अः से उत्पन्न ओ के स्थान में, (जैसा अकारान्त शब्दों के प्रथमा एकवचन में)—जैसे—लोउ=लोकः, सीहु=सिंहः। [सिन्धी में अब तक है। जैसे—चरड्ड या चरड्डु=चन्द्र]।

§ ७४—स्वरों का लोप। उदाहरण

अमा० पोसह=अपवसथ, शौ० वट्ठिद=अवस्थित, माह० रण्ण=अरण्य (रण कच्छ देश)। अपि को अनुस्वार के परे पि और स्वर के परे वि आदेश होता है।

'इति' का अनुस्वार के परे 'ति', स्वर के परे त्ति होता है। इदानीम् शब्द शौ० माग० में दाणिं बनता है। माह० पिउस्सिआ=पितृष्वसृका (*पिउसासिआ)। माह० शौ० पोप्फली=पूगफली, खु=खलु [खलु 7 *ख्लु>क्खु 7 खु-अनुवादक]

मज्झण्ण=मध्यन्दिन, शौ० माग० धीदा=दुहिता (*दुहीता> *दूहीता >धीदा)।

नोट—केवल निर्बल अक्षरों के स्वरों का लोप हुआ करता है। इस प्रकार के लोप से शब्द के बली अक्षर के स्थान का पता चलता है।

§ ७५—संप्रसारण। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत में 'य्' का 'इ' और व् का 'उ' आदेश बहुत अधिक होता है। 'अय्' और 'अव्' का यथाक्रम 'ए' और 'ओ' आदेश होता है। शौ० तिरिच्छ=तिर्यक् (तिर्यक्ष), तुरिद=त्वरित, कधेदु=कथयतु, ओदार=अवतार, णोमालिआ=नवमालिका, माह० लोण=लवन, शौ० भोदि=भवति।

§ ७६—युगपत् स्वरभक्ति और स्वरव्यत्यय।

'-अर्य' या-'आर्य' का-'अरिअ' होकर -'एर' होजाता है। जैसे--पेरन्त=पर्यन्त, माह० अच्छेर=आश्चर्य (शौ० अच्छरिअ भी), माह० केर=कार्य, शौ० तुम्हकेर, अम्हकेर।

नोट--केरक शब्द से पुरानी हिन्दी और पुरानी गुजराती के 'केरो' 'केरी' जिन का अर्थ 'का' 'की' है बने। बीम्ज़ महाशय ने 'कार्य' से केरक की व्युत्पत्ति में शङ्का की है (बीम्ज़ पु० २, पृ० २८६)। हिं० का, की, के, राजस्थानी रो, री, रा, वंग०-ऽर की प्रकृति करके शब्द है। देखिये सुनीतिकुमार चैटरजी [५०३]



अध्याय ७

सन्धि

क.—व्यञ्जन।

§ ७७—चूंकि प्राकृत में पदान्त व्यञ्जन नहीं होते (§ २६), इस लिये संस्कृत की वाक्य सन्धि की बहुत सी कठिनाइयां प्राकृत में नहीं रहतीं। परन्तु कभी कभी पदान्त व्यञ्जन जो और दशा में लुप्त हो जाता है स्वर के पूर्व बचा रहता है। जैसे—अमा० जदत्थि=यद् अस्ति, माग० यदिश्चशे=यद् इच्छसि; निपात के पूर्व—अमा० छच्चेव=षच्चैव, (षद् च एव) छप्पि=षड् अपि (*षद्पि)। (ये शब्द साधारणतया ऐसे ही रहते हैं)। दुर् और निर् उपसर्गों का र् सदा रहता है। जैसे—शौ० दुरागद=दुरागत; णिरन्तर।

§ ७८—कभी म् बचा रहता है—माह० एक्कमेक्कं=एकैकम् (एकमेकम्)।

ऐसा होने पर इस शब्द के परे विभक्ति प्रत्यय लगते हैं। जैसे—एक्कमेक्के। इस प्रकार म् सन्धि-व्यञ्जन सा बन गया। अङ्गमङ्गम्मि=अङ्गेऽङ्गे, अमा० गोणमाई=गवादयः; एसमग्गी=एषोऽग्निः।

कभी य् और र् भी सन्धि व्यञ्जन की भांति प्रयुक्त होते हैं। अमा० धिरत्थु=धिग् अस्तु।

§ ७९—समास में पूर्व शब्द के अन्तिम व्यञ्जन को उत्तर शब्द के आदि व्यञ्जन का समानादेश होता है; परन्तु कभी दोनों शब्द पृथक् २ समझे जाते हैं। यथा—माह० सरिसंकुल=सरित् संकुल; दुलह=(साधारण रूप दुल्लह), दुर्लभ, दुसह=(साधारण रूप दुस्सह या दूसह)=दुःसह।

ख.-स्वर।

§ ८०—प्राकृत में दो स्वर इकट्ठे आ सकते हैं अर्थात् उन में सन्धि नहीं होती; परन्तु समास में पूर्व शब्द के अन्तिम स्वर और उत्तर शब्द के आदि स्वर में संस्कृत की भांति सन्धि होती है। जैसे—शौ० किलेसाणल=क्लेशानल, जम्मन्तरे=जन्मान्तरे (संयुक्त के पूर्व आ>अ), राएसि=(राअ+इसि)=राजर्षि।

कभी सन्धि नहीं भी होती। जैसे—शौ० पूआअरिह=पूजार्ह; वसन्तुस्सवउवाअण=वसन्तोत्सवोपायन।

§ ८१—यदि उत्तर पद के आदि में इ, उ हो और उस के परे द्विर्भूत व्यञ्जन, अथवा उत्तर पद के आदि में ई, ऊ हो तो पूर्व पद के अन्तिम अ, आ का लोप हो जाता है। यथा—माह० गइन्द=गजेन्द्र, शौ० णरिन्द=नरेन्द्र, मन्दमारुदुव्वेल्लिद=मन्दमारुतोद्वेल्लित; महूसव=महोत्सव, वसन्तूसव=वसन्तोत्सव।

अपवाद—किसी किसी समास में जब उत्तर पद का आदि ई, ऊ हो और उस के परे असंयुक्त वर्ण हो, तो दोनों स्वर मिल जाते हैं। जैसे—शौ० मन्थरोरु; इसी प्रकार उपसर्ग के परे—शौ० पेक्खदि, माह० पेच्छइ, माग० पेस्कदि=प्रेक्षते। यदि इ, ई, उ, ऊ के परे असमान स्वर हो तो सन्धि नहीं होती।

§ ८२—स्वरमध्यवर्ती व्यञ्जन का लोप होने से जब दो स्वर इकट्ठे आते हैं तो उन में सन्धि नहीं होती।

अपवाद—(१) कभी समान स्वरों को दीर्घ एकादेश होता है। पाइक्क=(पाआइक्क)=पादातिक।

(२) यदि अ, आ के परे इ, ई उ, ऊ हो तो सन्धि हो जाती है। थेर=(थइर)=स्थविर, माह० पोम्म, शौ० पउम=पद्म, माह० मोह (कभी मऊह)=मयूख।

(३) समास में सन्धि हो जाती है। माह० अन्धारिअ=अन्धकारित, देशी चम्मारअ=चर्मकारक, अमा० लोहार=लोहकार, देउल=देवकुल, माग० लाउल=राजकुल।

§ ८३—वाक्य में पदों के आदि और अन्त स्वरों में सन्धि नहीं होती।

अपवाद—(१) न ("नहीं") के परे स्वरादि शब्द हो तो सन्धि हो जाती है। णत्थि=नास्ति; णाहं=नाहम्; शौ० णादिदूर=नातिदूर, णेच्छदि=नेच्छति।

(२) शौ० माग० में "नु एतद्" का एक शब्द णेदं बन जाता है।

(३) संस्कृत की भांति प्राकृत में भी ए, ओ के परे अ का लोप हो जाता है।



अध्याय ८

संज्ञा, विशेषण और सर्वनाम की रूपरचना।

§ ८४—संस्कृत और प्राकृत की रूप रचना में भेद के मुख्य कारण हैं—(१) ऊपर दिये हुए वर्णविकार के नियम तथा कई और नियम जो विशेष रूपों पर लागू हैं, (२) साम्यारोप द्वारा एक प्रकार के शब्दों के रूप दूसरी प्रकार के शब्दों की भांति बनाना। प्राकृत में कई एक ऐसे रूप या प्रत्यय मिलते हैं जो संस्कृत में नहीं मिलते। प्राकृत रूपरचना में नवीन अंश कुछ नहीं। समुच्चय तौर पर प्राकृत व्याकरण प्राचीन व्याकरण का क्रमिक ह्रास है न कि कोई नवीन व्याकरण निर्माण।

§ ८५—प्राकृत में द्विवचन सर्वथा जाता रहा। चतुर्थी के स्थान में षष्ठी का प्रयोग होने लगा (केवल माह० और अमा० में अकारान्त शब्दों का चतुर्थी एकवचन का रूप मिलता है)। वर्ण विकार के नियमों ने व्यञ्जनान्त शब्दों की रूपरचना को स्वरान्त शब्दों के तुल्य कर दिया तथापि कोई कोई रूप बाकी रह गए हैं।

संज्ञा और विशेषण की रूपरचना की तीन प्रणालियां हैं:—

१. अकारान्त पुल्लिङ्ग और नपुंसक शब्द।

२. इकारान्त और उकारान्त पुल्लिङ्ग और नपुंसक।

३. आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त और ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द।

§ ८६—अकारान्त शब्दों के रूप—

पुल्लिङ्ग—पुत्त=पुत्र

एकवचन	शौरसेनी	माहाराष्ट्री
१ मा	पुत्तो	पुत्तो

	शौर०	माहा०
२ या	पुत्तं	पुत्तं
३ या	पुत्तेण	पुत्तेण (-णं)
४ थीं	——	पुत्ताअ
५ मी	पुत्तादो	पुत्ताओ
६ ष्ठी	पुत्तस्स	पुत्तस्स
७ मी	पुत्ते	पुत्तम्मि, पुत्ते
बहुवचन—		
१ मा	पुत्ता	पुत्ता
२ या	पुत्ते	पुत्ता, पुत्ते
३ या	पुत्तेहिं	पुत्तेहि (-हिं)
५ मी	(पुत्तेहिं, पुत्तेहिंतो)	(पुत्तेहिंतो)
६ ष्ठी	पुत्ताणं	पुत्ताण (-णं)
७ मी	पुत्तेसु (-सुं)	पुत्तेसु (-सुं)

नोट (१)—५ मी एकव० पुत्तादो, पुत्ताओ=पुत्रतस्। ५ मी के तस् प्रत्यय के पूर्व ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है, परन्तु जब यह रूप क्रिया-विशेषण हो तो ह्रस्व भी रह सकता है। जैसे—अग्गदो=अग्रतः जम्मदो=जन्मतः।

'पुत्तादो' में दीर्घ आ शायद पुत्रात् की अनुरूपता से हुआ।

(२) २ या बहु० पुत्ते, सर्वनाम तुम्हे, इमे आदि की अनुरूपता से बना है।

(३) ३ या बहु० पुत्तेहिं=पुत्रेभिः (जैसा कि ऋग्वेद में मिलता है § २६)।

(४) ५ मी बहु० का प्रयोग अमा० के अतिरिक्त और प्राकृतों में बहुत कम है। पुत्तेहिंतो=३या बहु०+तस्।

(५) ७ मी एकव० पुत्तम्मि (*पुत्रस्मिन्), सर्वनाम रूप की अनुरूपता से।

§ ८७—नपुं० फल।

इस शब्द के पुत्त की भांति रूप बनते हैं, केवल १मा और २या में भेद है।

१मा, २या एकव० फलं, १मा, २या बहु० फलाइं।

§ ८८—इकारान्त शब्दों की रूपरचना।

पुल्लिङ्ग—अग्गि=अग्नि।

एकवचन १ मा अग्गी
२ या अग्गिं
३ या अग्गिणा
५ मी (प्रयोग बहुत अल्प। रूप विविध।)
६ ष्ठी अग्गिणो, (महा० अग्गिस्स)
७ मी अग्गिम्मि

बहुवचन १ मा अग्गीओ, अग्गिणो (महा० अग्गिणो, अग्गी)
२ या अग्गिणो
३ या अग्गीहिं (महा० अग्गीहि)
६ ष्ठी अग्गीणं (महा० अग्गीण)
७ मी अग्गीसु (-सुं)

नोट—(१) संस्कृत के नपुंसक ६ष्ठी एक० की भांति प्राकृत का पुं०६ष्ठी एक० अग्गिणो भी इन्-अन्त शब्दों की अनुरूपता से हुआ है। इसी प्रकार पुत्तस्स की अनुरूपता से अग्गिस्स शब्द हुआ।

(२) ७मी एक० अग्गिम्मि भी पुत्तम्मि की अनुरूपता से।

(३) १मा, २या बहु० अग्गिणो—इन्-अन्त शब्दों के सादृश्य से। अग्गीओ रूप ईकारान्त स्त्री०बहु०प्रत्यय-ईओ की अनुरूपता से।

(४) महा० अग्गी १मा बहु० पुत्तः पुत्ताः अग्गिः अग्गी की अनुरूपता से।

(५) ३या बहु० अग्गीहिं। हि, हिं प्रत्यय के पूर्व स्वर दीर्घ हो जाता है, देखिये पुत्तेहिं। महा० और कई अन्य प्राकृतों में ऐसे रूपों के अन्तिम अनुस्वार का लोप हो जाता है।

§ ८९— नपुं० दहि=दधि ।

इस की रूपरचना अग्गि शब्द की भांति होती है, केवल प्रथमा द्वितीया में भेद है। १मा, २या एक० दहिं या दहि; १मा, २या बहु० दहीइं।

§ ९० – उकारान्त शब्दों की रूपरचना इकारान्त से बहुत कुछ मिलती है।

पुल्लिङ्ग वाउ=वायु

	एकव०	बहुव०
१ मा	वाऊ	वाउणो, (माह० वाऊ)
२ या	वाउं	वाउणो
३ या	वाउणा	वाऊहि (-हिं)
६ ष्ठी	वाउणो, (माह० वाउस्स)	वाऊण (-णं)
७ मी	वाउम्मि	वाऊसु (-सुं)

नपुं० महु=मधु का १ मा, २ या एक० महुं या महु; १ मा, २ या बहु० महूइं; शेष वाउ की भांति।

§ ९१—स्त्रीलिङ्ग शब्दों की रूपरचना । ३या, ६ष्ठी, ७ मी एक० के रूपों में भेद नहीं रहा। आकारान्त, ईकारान्त और ऊकारान्त की रूप रचना की समान शैली है।

		माला	देवी	वहू=वधू
एकवचन	१ मा	माला	देवी	वहू
	२ या	मालं	देविं	वहुं
	३ या, ६ ठी, ७ मी	मालाए	देवीए	वहूए
	५ मी	शौ० मालादो,	देवीदो	वहूदो
		माह० मालाओ	देवीओ	वहूओ
	संबोधन	माले	देवि	वहु

बहुवचन	१ मा } २ या	मालाओ, माला	देवीओ देवी	वहूओ, वहू
	३ या	मालाहि (-हिं)	देवीहि (-हिं)	वहूहि (-हिं)
	५ मी	[मालाहिंतो	देवीहिंतो	वहूहिंतो]
	६ ष्ठी	मालाण (-णं)	देवीण (-णं)	वहूण (-णं)
	७ मी	मालासु (-सुं)	देवीसु (-सुं)	वहूसु (-सुं)

नोट—(१) ५मी एक० का प्रत्यय-आदो,-आओ पुल्लिङ्ग शब्दों की रूप-रचना से लिया गया है। शौरसेनी में यह प्रत्यय-आए भी होता है।

(२) ३या, ६ष्ठी, ७मी, एक० -आए का मूल संस्कृत प्रत्यय -आयै है जो यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में ५मी ६ष्ठी एक० के लिये प्रयुक्त होता है।

(३) १मा बहु० मालाओ, देवीओ की अनुरूपता से (ईओ=ई+अस्)

§ ९२—विशेष रूप।

अकारान्त शब्द। (१) माग० और अमा० में १मा एक० के रूप एकारान्त बनते हैं। जैसे—माग० पुलिशे, अमा० पुरिसे=पुरुषः। अपभ्रंश में १मा, २या के रूप उकारान्त होते हैं।

(२) अमा० में ४थी एक० के रूप देवत्ताए=देवत्वाय आदि होते हैं। ये रूप स्त्री० ४थी एक० के आधार पर हैं।

(३) माह०, अमा० में छन्दोभंग के कारण ५मी एक० के-आओ का-आउ बन जाता है। रण्णाउ=अरण्यात्।

माह० और अमा० में ५मी एक० के रूप आकारान्त भी बनते हैं। वसा=वशात्, घरा=गृहात्।

माह० में ५मी एक० के रूप -हि प्रत्ययान्त भी होते हैं। जैसे—मूलाहि=मूलात्, दूराहि=दूरात्।

कभी हिंतो प्रत्यय भी लगता है—हिअआहिंतो=हृदयात्।

(४) माग० में ६ष्ठी एक० का प्रत्यय-श्श या-ह होता है। जैसे—चालुदत्तश्श या चालुदत्ताह=चारुदत्तस्य।

(५) माह० में ७मी एक० के-ए और-म्मि प्रत्ययान्त रूप इकट्ठे आ जाते हैं। जैसे—गअम्मि पओसे=गते प्रदोषे।

अमा० में सब से अधिक रूप-ंसि प्रत्ययान्त होते हैं (ंसि=स्मिन् § ४७)। जैसे—लोगंसि=लोके।

किसी प्राकृत में ७मी एक० के रूप -हिं प्रत्ययान्त भी होते हैं। जैसे—माग० पवहणाहिं=प्रवहणे।

(६) नपुं० १मा, २या बहु० के प्रत्यय माह० में -आइं,-आइँ,-आइ होते हैं। अमा० और शौ० में -आणि भी होता है।

किसी प्राकृत में वैदिक की भांति आ भी होता है - शौ० मिधुणा=मिथुनानि, जाणवत्ता=यानपात्राणि।

(७) कभी पुं० २या बहु० का रूप आकारान्त होता है (-आ <-आन्)। जैसे—माह० गुणा=गुणान्, अमा० आसा=अश्वान्। यह रूप अपभ्रंश में बहुत मिलता है।

§ ६३—इकारान्त और उकारान्त शब्द।

(१) ५मी एक० के रूप। माह० उअहीउ=उदधेः; अमा० कुच्छीओ=कुक्षेः; जैमाह० कम्मग्गिणो=कर्माग्नेः।

(२) ७मी एक०। अमा० में-हिंं प्रत्यय प्रसिद्ध है, आइहिं=आदौ।

(३) १मा बहु०। अमा० रिसाओ=ऋषयः, साहवो=साधवः।

नपुं०—माह० अच्छीइं, अच्छीणि=अक्षीणि; अमा० मंसूइं, मंसूणि=श्मश्रूणि।

(६) ईकारान्त और ऊकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों के रूप ई, ऊ को ह्रस्व कर के इकारान्त, उकारान्त शब्दों की भांति बनते हैं।

§ ६४—स्त्रीलिङ्ग शब्द । आकारान्त ।

(१) ३या, ६ष्ठी, ७मी एक० का प्रत्यय -आए छन्द के अनुरोध से -आइ बन जाता है ।

(२) वैयाकरण -आअ प्रत्ययान्त रूप का निषेध करते हैं परन्तु माह० में पाया जाता है—माह० जोण्हाअ=ज्योत्सनया ।

(३) ५मी एक० । प्रसिद्ध रूप—माह०-आओ प्रत्यय, शौ० माग० -आदो । शौ० माग० में -आए प्रत्ययान्त रूप भी होते हैं—इमाए मअतण्हिआए=अस्या मृगतृष्णिकायाः ।

(४) कभी १मा, २या बहु० के रूप आकारान्त होते हैं । जैसे—माह० रेहा=रेखाः, शौ० पूइज्जन्ता देवदा=पूज्यमाना देवताः ।

§ ६५—इकारान्त (ईकारान्त), उकारान्त (ऊकारान्त)

(१) ३या, ६ष्ठी, ७मी एक० । माह० में-ईए के स्थान में कई वार -ईअ आता है ।

(२) शौ० दिट्ठिआ=दिष्ट्या, प्राचीन ३या एक० का अवशेष है ।

(३) १मा, २या बहु० के -ईओ, -ऊओ छन्द के अनुरोध से -ईउ, -ऊउ हो जाते हैं ।

§ ६६—सं० ऋकारान्त शब्दों के विकार ।

कर्तृसूचक और सम्बन्धसूचक शब्दों की रूपरचना में भेद बना रहता है । १मा, २या एक० और १मा बहु० में प्राकृत संस्कृत का अनुकरण करती है । इतर विभक्तियों में उकारान्त (अथवा इकारान्त) अथवा द्वितीया के रूप से स्वतन्त्र शब्द बना लिया जाता है । जैसे—पिउ, पिइ, या पिअर=पितृ; भत्तु, भट्टि या भत्तार=भर्तृ ।

§ ९७—		कर्तृसूचक शब्द	सम्बन्धसूचक शब्द
		भत्तु=भर्तृ	पिउ=पितृ
एकवचन	१मा	भत्ता	शौ० पिदा, माह० पिआ
	२या	भत्तारं	शौ० पिदरं, माह० पिअरं
	३या	भत्तुणा	शौ० पिदुणा, माह० पिउणा
	६ष्ठी	भत्तुणो	शौ० पिदुणो, माह० पिउणो
	७मी	भत्तारे	
बहुवचन	१मा	भत्तारो	शौ० पिदरो, माह० पिअरो
	२या		शौ० पिदरो, पिदरे } माह० पिअरो, पिअरे }
	३या	भत्तारेहिं	पिऊहिं
	६ष्ठी	भत्ताराण, (-णं)	पिऊणं
	७मी	भत्तारेसु	पिऊसु, (-सुं)

नोट—(१) "स्वामी" वाचक भर्तृ शब्द का विकार इकारान्त होता है। १मा एक० भट्टा, २या एक० भट्टारं, ३या एक० भट्टिणा।

(२) मातृ शब्द के रूप—

१मा एक० माह० माआ	शौ० माग० मादा
२या एक० माह० माअरं	शौ० मादरं
३या एक० माआए	शौ० मादाए

इस की रूपरचना माआ, माइ, माउ या माअरा शब्द से भी हो सकती है।

§ ९८—अन् प्रत्ययान्त शब्द ।

इन शब्दों की रूपरचना न् का लोप कर के अकारान्त शब्दों की भांति होती है, अथवा सुट् (सर्वनाम स्थान) के रूपों से एक नवीन अकारान्त शब्द बना लिया जाता है। पेम्म=प्रेमन्। १मा,

२या ए० पेम्मं; ३या एक० पेम्मेण; ६ष्ठी एक० पेम्मस्स; ७मी एक० पेम्मे (माह० पेम्मम्मि); १मा, २या बहु० पेम्माइं; ६ष्ठी बहु० पेम्माणं।

मुद्ध या मुद्धाण=मूर्धन्। १मा एक० मुद्धा या मुद्धाणो=मूर्धा; ३या एक० अमा० मुद्धेण या मुद्धाणेणं। बहुत से शब्दों में १मा एक० का आकारान्त रूप ही प्राचीन युग का अवशेष है। राजन् और आत्मन् शब्दों में कुछ और अवशेष भी हैं।

§ ९९—राअ=राजन् शब्द के रूप।

एकवचन	१मा	राआ=राजा
	२या	राआणं=राजानम्।
	३या	रण्णा=राज्ञा (§ ३६); अथवा इ स्वरभक्ति से राइणा रूप होता है।
	६ष्ठी	रण्णो=राज्ञः; अथवा राइणो
	७मी	(राइम्मि, राअम्मि, राए)
	संबोधन	राअं=राजन्
बहुवचन	१मा (२या)	राआणो=राजानः
	३या	राईहिं (इकारान्त शब्द की भांति; ३या एक० राइणा के आधार पर)
	६ष्ठी	राईणं

नोट—समस्त पदों में राअ शब्द सदा अकारान्त नहीं होता। शौ० महाराओ=महाराजः, जुअराओ=युवराजः, वच्छराओ=वत्स-राजः; परन्तु अमा० देवराया=देवराजः। शौ० २या एक० महाराअं, ३या एक० महाराएण, ६ष्ठी एक० महाराअस्स; परन्तु अमा० ३या एक० देवरन्ना, ६ष्ठी एक० देवरण्णो।

§ १००—आत्मन् शब्द को अत्त-या अप्प-आदेश होता है (§ ३६)।

	माह०	शौ० माग०
१मा एक०	अप्पा	अत्ता
२या एक०	अप्पाणं	अत्ताणअं=*आत्मानकम्
३या एक०	अप्पणा	
६ष्ठी एक०	अप्पणो अत्तणो	अत्तणो; माग० अत्ताणअश्श

नोट—(१) अमा० में १मा एक० का रूप अप्पो भी होता है।

(२) अकारान्त रूप १मा एक० अप्पाणो, अत्ताणो, तथा समास में अप्पण-अत्तण-रूप भी होते हैं।

§ १०१—इन् प्रत्ययान्त शब्द। इन के कुछ रूप संस्कृत शैली से और कुछ रूप इकारान्त शब्दों की शैली से बनते हैं। चूंकि प्राकृत में इकारान्त शब्दों की रूपरचना का कुछ अंश सं० इन् प्रत्ययान्त शब्दों की शैली पर होता है। इस लिये भेद केवल दो एक रूपों में ही दिखाई पड़ता है। जैसे—१मा एक० हत्थी=हस्ती, परन्तु २या एक० हत्थिं=हस्तिनम् (शौ० में कभी हत्थिणं भी होता है)। ६ष्ठी एक० जैन प्राकृतों में कभी-इस्स प्रत्ययान्त होता है, अन्यथा सर्वदा-इणो प्रत्ययान्त होता है।

§ १०२—अत् प्रत्ययान्त शब्द। सं० अत्, मत् और वत् प्रत्ययान्त शब्द प्रा० में अन्त, मन्त और वन्त प्रत्ययान्त हो जाते हैं। जैसे—शौ० करेन्तो=कुर्वन्, पुलोअन्तो=प्रलोकयन्, करेन्तेण=कुर्वता, महन्तस्स=महतः, गच्छन्तेहिं=गच्छद्भिः।

§ १०३—अपवाद। अर्धमागधी में कई बार प्राचीन शैली के रूप पाए जाते हैं। जैसे—कुव्वं=कुर्वन्, महओ=महतः। इतर प्राकृतों में भवत् और भगवत् शब्दों के ऐसे रूप मिलते हैं।

	भवत्	भगवत्
१मा	भवं	भअवं

२या	भवन्तं	भअवन्तं
३या	माह० भवआ, शौ० भवदा	माह० भअवआ शौ० भअवदा
६ष्ठी	माह० भवओ, शौ० भवदो	माह० भअवंओ शौ० भअवदो

§ १०४—सकारान्त शब्द। अस्, इस्, उस् प्रत्ययान्त शब्दों की रूपरचना अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त शब्दों की शैली पर होती है। जैसे—शौ० पुरूरवस्स=पुरूरवसः, दीहाउं=दीर्घायुषम्, अमा० सजोइं=सज्योतिषम्।

अपवाद—कोई कोई रूप प्राचीन शैली के भी मिलते हैं। जैसे—पुरूरवा (१मा एक०), पुरूरवसं (२या एक०), पुरूरवासि (७मी एक०)। प्राचीन शैली के ३या एक० के रूप अमा० और जैमहा० में बहुत पाए जाते हैं—मणसा, सहसा, तवसा=तपसा, तेयसा=तेजसा, चक्खुसा=चक्षुषा।

§ १०५—प्राचीन शैली के और कई रूप मिलते हैं जो प्रायः नियत वर्णविकारों से उत्पन्न होते हैं। उन को किसी एक नियम के आश्रित नहीं किया जा सकता।

सर्वनाम।

§ १०६—उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनामों के कई कई रूप पाए जाते हैं। जो बहुत प्रसिद्ध हैं वे नीचे दिये जाते हैं।

		उत्तमपुरुष	मध्यमपुरुष
एकवचन	१मा	अहं, हं	तुमं (माह० तं)
	२या	मं (महा० ममं)	तुमं, ते
	३या	मए	तए, तुए
	५मी	(ममाओ)	(तुमाहिंतो) (बहु० रूप)
	६ष्ठी	मम, मे, मह	तुह, ते, (अमा० तव)
	७मी	मइ	तइ (महा० तुमम्मि)

बहुवचन	१मा	अम्हे	तुम्हे
	२या	अम्हे, णो	तुम्हे, वो
	३या	अम्हेहिं	तुम्हेहिं
	५मी	(अम्हेहिंतो)	( )
	६ष्ठी	अम्हाणं, णो	तुम्हाणं
	७मी	अम्हेसु	(तुम्हेसु)

§ १०७—रूपान्तर ।

उत्तम० एकवचन १मा—*अहकम् या *अहकः से व्युत्पन्न—महा० अहअं, जैमा० अहयं, माग० हगे, अप० हउँ ।

२या—महा० अमा० जैम० ममं (६ष्ठी एक० मम रूप से बना हुआ)

३या—अप० मइँ (२या का रूप भी मइँ होता है)

५मी—का प्रयोग बहुत अल्प है ।

६ष्ठी—माह० मज्झ (-ज्झं), मह (-हं), जो मह्यम् और मे से निकले हैं ।

७मी—माग० मइ ।

बहुवचन—१मा—अम्ह=वैदिक अस्मे; अमा० वयं भी ।

२या—शौ० अम्हे, णो; महा० अम्हे, अम्ह, णे, माग० अश्मे ।

६ष्ठी—माग० अश्माणं, महा० अमा० जैम० अम्हं, शौ० में बहुत करके णो होता है ।

मध्यम पु० एकवचन—१मा—सब से प्रासिद्ध रूप तुमं । महा० में तं भी बहुत आता है । अमा० तुमे; टक्की प्राकृत में तुहं; अप० तुहुँ ।

२या—प्रायः १मा की भांति; अप० तइँ; अमा० ते; शौ० माग० ते या दे ।

३या—लिखित प्रतियों में तए या तुए । महा० तइ, तुइ, तुमए, तुमाए, तुमइ, तुमाइ, तुमे ।

५मी—शौ० तत्तो, तुवत्तो=त्वत्तः। महा० तुमाहिं, तुमाहिंतो, तुमाओ।

६ष्ठी—शौ० तुह, ते; महा० में तुहं, तुज्झ (-ज्झं), तुम्म, तुम्हं, तु भी होते हैं।

७मी—शौ० तइ, तुइ; महा० तइ, तुवि, तुमम्मि, तुमे।

बहुवचन—१मा—अम्हे की अनुरूपता से तुम्हे। अमा० तुब्भे।

६ष्ठी—माह० तुम्हं भी; अमा० तुब्भं, महा० शौ० वो।

५मी—व्याकरणों में कई रूप दिये हैं—तुम्हत्तो, तुब्भत्तो, तुज्झत्तो आदि।

§ १०८—प्रथम पुरुष—स-और त-शब्द

		पुं०	नपुं०	स्त्री०
एकवचन	१मा	सो	तं	सा
	२या	तं	तं	तं
	३या	तेण,-(णं)		ताए, तीए
	६ष्ठी	तस्स		ताए, तीए
	७मी	तस्सिं, तम्मि		ताए, तीए
बहुवचन	१मा, २या	ते	ताइं (अमा० ताणि)	ताओ, ता
	३या	तेहि, (-हिं)		ताहि, (-हिं)
	६ष्ठी	तेसिं, ताण, (-णं)		तासिं, ताण, (-णं)
	७मी	तेसु		तासु

§ १०९—विशेष रूप।

स- के रूप—१मा एक० माग० शे; २या एक० अमा० से; ६ष्ठी एक० महा० अमा० शौ० से, माग० शे (त्रिलिंग)।

बहुव० १मा—अमा० से, माग० शे; २या-६ष्ठी—से।

त- के रूप—एकव० ५मी-अमा० ताओ; शौ० माग० तदो=ततः; माह० ता=वै० तात्। ६ष्ठी-माग० तश्श, महा० तास भी। स्त्री० महा० तिस्सा भी; अमा० तीसे। ७मी-शौ० तस्सिं, माग० तश्शिं, महा० तम्मि, अमा० तंसि।

बहुव० १मा० शौ० माग० ते का दूसरे सर्वनाम के परे दे रूप हो जाता है—एदे दे। ५मी—अमा० तेब्भो, तेहिंतो।

§ ११०—इतर सर्वनाम रूप भी इसी प्रकार बनते हैं।

	पुं०	नपुं०	स्त्री०
एस—	एसो	शौ० एदं, महा० एअं=एतत्	एसा
ज—	जो	जं=यत्	जा
क—	को	किं	का
इम—	इमो	इमं, इणं=इदम्)	इमा

इदम् शब्द के और रूप--

शौ० अअं=अयम्, अमा० अयं (त्रिलिङ्ग); शौ० इयं=इयम्।

महा० अमा० शौ० इदं (केवल १मा में)।

महा० अस्स=अस्य; एण, अमा० शौ० अणेण=अनेन।

इम- को ण हो जाता है—णं, णेण, णे।

अमा० में इमेणं, इमाओ, इमस्स, इमस्सिं होते हैं।

अमू शब्द की रूपरचना उकारान्त संज्ञा-शब्दों की भांति होती है।

§ १११—सर्वनाम विशेषण।

शौ० अण्णस्सिं=अन्यस्मिन्, कदरस्सिं=कतरस्मिन्, अवरस्सिं=अपरस्मिन्, परस्सिं=परस्मिन्; अण्णे=अन्यान्। शौ० सव्वाणं, अमा० सव्वेसिं=सर्वेषाम्।

§ ११२—संख्यावाची शब्दों की रूपरचना।

१—एक्क (अमा० एग) की रूपरचना सर्वनामों की भांति होती है। ७मी एक० शौ० एक्कस्सिं, माग० एक्काशिंश, महा० एक्कम्मि, अमा० एगंसि, एगम्मि। बहु० एक्के, अमा० एगे।

२—दो (=द्वौ), दुवे (=द्वे); तिण्णि (=त्रीणि) की अनुरूपता से दोण्णि और दुण्णि रूप भी बनते हैं। ये तीनों रूप सब लिङ्गों में व्यवहृत होते हैं। जैसे—शौ० दोण्णि कुमारीओ=द्वे कुमार्यौ। ३या दोहि, (-हिं), ६ष्ठी दोण्ह-(-ण्हं); ७मी दोसु।

३—तिण्णि=त्रीणि, अमा० तओ=त्रयः (प्रयोग लिङ्गनिर्विशेष)। ३या तीहिं, ६ष्ठी तिण्ह, (-ण्हं) ७मी तीसु।

४—चत्तारि=चत्वारि सब से प्रसिद्ध रूप है। चत्तारो=चत्वारः और चउरो=चतुरः १मा और २या में निर्विशेष प्रयुक्त होते हैं। ३या चउहि, (-हिं), ६ष्ठी चउण्ह, (-ण्हं), ७मी चउसु।

५—पंच। ३या पंचहि, (-हिं); ६ष्ठी पंचण्ह, (-ण्हं), ७मी पंचसु।

६—छ। ३या छहिं, ६ष्ठी छण्ह, (-ण्हं), ७मी छसु।

७-१८ तक इसी प्रकार रूपरचना होती है।

१९-५८ तक के शब्द १मा में अं-अन्त नपुं०, या आ-अन्त स्त्री० होते हैं। और विभक्तियों में स्त्री० एक० होते हैं। जैसे—२०-१मा वीसं, वीसा, २या वीसं, ३या ६ष्ठी ७मी-वीसाए। १मा में वसिइ और घीसइ रूप भी होते हैं।

५९-९९—इं-अन्त नपुं०, या ई-अन्त स्त्री० होते हैं।

१००—शौ० सद, महा० सअ १०००—सहस्स	इन की नपुं० अकारान्त की भांति रूपरचना होती है।



अध्याय ६

क्रिया की रूपरचना।

§ ११३—संज्ञा की अपेक्षा प्राकृत अवस्था की क्रिया रूपावली में बहुत भेद आ गया है। वर्णविकारों ने कई एक गणभेद दूर कर दिये तथा अन्तिम व्यञ्जन के लोप ने कई एक क्रिया-रूप संदिग्ध कर दिये। संज्ञा की भांति क्रिया की रूपरचना में भी यह प्रवृत्ति रही कि उसे एक ही शैली पर लाया जाय। इस प्रवृत्ति ने पाली आदि पुरानी प्राकृतों पर इतना प्रभाव नहीं डाला था जितना अर्वाचीन प्राकृतों पर। अपभ्रंश में तो प्राचीन शैली के कुछ अनियमित अवशेषों के अतिरिक्त केवल एक ही गण की क्रियारचना हो गई।

एक और बात भी है। रूपों की संख्या भी कम हो गई। द्विवचन के रूपों का सर्वथा लोप हो गया। आत्मनेपद भी लुप्तप्राय हो गया। इकल्ले दुकल्ले रूपों को छोड़ कर लङ्, लिट्, और लुङ् लकार के रूपों का सर्वथा लोप हो गया है। भूत काल प्रकट करने के लिए क्तान्त रूप, कभी अकेला, कभी किसी सहायक क्रिया के साथ प्रयुक्त होता है। इस प्रकार प्राचीन शैली के केवल लट्, लोट्, लिङ् और लृट् के रूप, कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य; तथा तुमुन्नन्त, क्त्वान्त, ल्यबन्त और कृदन्तों के रूप बाकी रह गए हैं।

धातुओं के दस गणों के स्थान में केवल दो गण बन गए हैं।

(१) अ-गण के धातु—इन में धातुओं का बहुत बड़ा भाग तथा कर्मवाच्य रूप हैं।

(२) ए-गण के धातु—इन में णयन्त तथा नामधातु और कुछ अन्य धातु शामिल हैं।

दोनों की रूपरचना एक ही शैली पर होती है।

§ ११४—लट् के रूप (वर्तमान, सामान्य)

अ-गण

पुच्छ=प्रच्छ्

एकवचन—प्र० पु० शौ० पुच्छदि, महा० पुच्छइ

म० पु० पुच्छसि

उ० पु० पुच्छामि

बहुवचन—प्र० पु० पुच्छन्ति

म० पु० शौ० पुच्छध, महा० पुच्छह

उ० पु० पुच्छामो

ए-गण

कध (महा कह)=कथ्

एकवचन—प्र० पु०	शौ०	कधेदि	महा०	कहेइ
म० पु०	,,	कधेसि	,,	कहेसि
उ० पु०	,,	कधेमि	,,	कहेमि
बहुवचन—प्र० पु०	,,	कधेन्ति	,,	कहेन्ति
म० पु०	,,	कधेध	,,	कहेह
उ० पु०	,,	कधेमो	,,	कहेमो

नोट (१) अमा० रूप महा० के सदृश होते हैं—पुच्छइ, पुच्छह आदि। माग० के प्रत्यय वही हैं जो शौ० के हैं—पुश्चदि, पुश्चध, पुश्चशि।

(२) अपभ्रंश के रूपों में बहुत भेद पड़ गया है।

	एकवचन	बहुवचन
प्र० पु०	पुच्छइ	पुच्छहिँ

	एकवचन	बहुवचन
म० पु०	पुच्छासि, पुच्छाहि	पुच्छहु
उ० पु०	पुच्छउँ	पुच्छहुँ

इन में और हिन्दी के रूपों में थोड़ा ही भेद रह जाता है। जैसे—हिं० एकव० प्र०, म० पु० पुच्छे, उ० पु० पुच्छूं, बहुव० पुच्छें

§ ११५—आत्मनेपद।

शौरसेनी में यह प्रयोग बहुत विरला है। कभी कभी छन्दों में अथवा मुहावरों में आता है। महा०, अमा० और जैम० में बहुत मिलता है। प्रत्यय इन रूपों से प्रकट होते हैं—एकव० प्र० पु० जाणए (शौ० जाणदे), म० पु० जाणसे, उ० पु० जाणे। बहुव० प्र० पु० जाणन्ते।

उदाहरण—महा० शौ० जाणे=जाने, महा० मएणए=मन्यते, शौ० लहे=लभे; इच्छे, महा० जाणसे; माग० इश्चशे=इच्छसे; महा० पेच्छए=प्रेक्षते, तीरए=तीर्यते (कर्मवाच्य)।

§ ११६—लोट् लकार अथवा आज्ञावाची क्रिया के रूप।

एकवचन—प्र० पु० शौ० पुच्छदु महा० पुच्छउ
म० पु० पुच्छ, कहेहि; पुच्छसु, कहेसु
उ० पु० (पुच्छामु)

बहुवचन—प्र० पु० पुच्छन्तु कहेन्तु
म० पु० शौ० पुच्छध महा० पुच्छह
उ० पु० पुच्छम्ह कहेम्ह

नोट—(१) म० पु० एकव० में दीर्घ स्वर के परे हि प्रत्यय जोड़ने का नियम है परन्तु अमा० में प्रायः और महा० माग० में कभी कभी अकारान्त धातु के अ को दीर्घ करके भी हि प्रत्यय जोड़ दिया जाता है। जैसे—अमा० गच्छाहि (शौ० गच्छ)।

(२) म० पु० एकव० सु प्रत्यय का मूल सं० आत्मनेपद स्व प्रत्यय है, परन्तु पिशल् महोदय (§ ४६७) का मत है कि यह प्रत्यय अनुरूपता से उत्पन्न हुआ है। लट्—पुच्छदिः पुच्छन्तिः ः लोट्—पुच्छदुः पुच्छन्तु; ∴ लट्—पुच्छसि, लोट—पुच्छसु । इसी प्रकार उ० पु० एकव०, लट्—पुच्छामिः लोट्-पुच्छामु। यह आमु प्रत्यय व्याकरणों में ही मिलता है। यह भी सत्य है कि सु प्रत्यय अधिक शौरसेनी और मागधी में पाया जाता है परन्तु आत्मने पद के अन्य रूपों का प्रयोग बहुत विरला है। शौ० करेसु=कुरु, आणेसु=आनय, कधेसु=कथय। चूंकि पाली में स्व प्रत्यय के लिए स्सु आता है और वहां यह प्रत्यय परस्मैपद धातुओं के परे भी लगता है (ई० मूलर्, पाली व्याकरण पृ० ११७) इस लिए सम्भव है कि सु का मूल स्व हो । अनुरूपता के कारण यह परस्मैपद धातुओं के परे भी लगने लग गया होगा।

(३) पिशल् (§ ४७०) के मतानुसार उ० पु० बहु० म्ह=स्म जो लुट् लकार का प्रत्यय है, देखिये वैदिक—जेष्म, देष्म ।

§ ११७—विधिलिङ् ।

इस का प्रयोग अमा० और जैम० में बहुत है, माह० में थोड़ा और इतर प्राकृतों में विरला। इस के रूप दो प्रकार से बनते हैं—

(१) जो रूप महा० अमा० और जैम० में प्रचलित है वह संस्कृत के दिवादि गण के विधिलिङ् रूप से बनता है जिस के प्रत्यय यात्, यास्, थाम् आदि हैं। जैसे—

एकवचन—प्र० पु० वट्टेज्जा (-ज्ज)

म० पु० वट्टेज्जासि, (-ज्जासि), (-ज्जाहि), -ज्जहि, -ज्जासु, -ज्जसु

उ० पु० वट्टेज्जा, -ज्ज, (वट्टेज्जामि, लट् रूपों के सादृश्य पर)

बहुवचन—प्र० पु० वट्टेज्जा, -ज्ज

म० पु० वट्टेज्जाह, -ज्जह

उ० पु० वट्टेज्जाम

(२) संस्कृत के भ्वादि गणी धातुओं के विधिलिङ् रूप से निकला हुआ। शौरसेनी में तो केवल यही रूप मिलता है; औरों में भी पाया जाता है।

एकवचन—उ० पु० वट्टे (बहुव० में भी यही रूप है)

म० पु० वट्टे

प्र० पु० वट्टेअं (वट्टे भी होता है)

नोट—एज्जा के पूर्ववर्ती ह्रस्व ए, इ के स्थान में आया प्रतीत होता है (§ ७२)। इसी लिए सं० जानीयात् से अमा० जाणिज्जा, जाणेज्जा बनते हैं परन्तु इस का इतना प्रचार भ्वादिगण के एत्, एस्, एयम् प्रत्यय के कारण हुआ।

§ ११८—लृट् लकार—(भविष्यकाल)। प्रत्यय इस्स<इष्य

एकवचन—प्र० पु० पुच्छिस्सदि, महा० पुच्छिस्सइ (या पुच्छिहिइ)

म० पु० पुच्छिस्ससि (महा० अमा० पुच्छिहिसि)

उ० पु० पुच्छिस्सं (अमा० पुच्छिस्सामि)

बहुवचन—प्र० पु० पुच्छिस्सन्ति (अमा० पुच्छिहिन्ति)

म० पु० पुच्छिस्सध, महा० पुच्छिस्सह

उ० पु० पुच्छिस्सामो

नोट—सन्धिस्वर अथवा दीर्घ स्वरों के परे हि वाले रूपों से इहि वाले रूप बने हैं। प्र० पु० एक० पुच्छिहिइ का छन्द के अनु-

रोध से पुच्छिहो हो जाता है । व्याकरणों में उ० पु० एक० का इहामि और इहिमि वाला रूप भी दिया है; (अप० पेक्खिहिमि= प्रेक्षिष्ये); उ० पु० बहु०—इहिमो, म० पु० बहु० इहिह, इहित्थ वाले रूप ।

§ ११६—कर्मवाच्य ।

प्राकृत कर्मवाच्य रूप या (१) तो संस्कृत कर्मवाच्य का विकार होता है (-य का शौ० माग० में लोप हो जाता है, औरों में—इज्ज बन जाता है) या (२) धातु के परे अथवा (३) प्रत्यय वर्जित लट् रूप के परे इज्ज लगाने से बनता है । कर्मवाच्य में परस्मैपद प्रत्यय लगते हैं परन्तु महा० और अमा० में विशेष कर अपूर्ण कृदन्त में आत्मनेपद प्रत्यय भी लगते हैं ।

उदाहरण—(१) महा० जुज्जइ, शौ० जुज्जदि=युज्यते । महा० गम्मइ=गम्यते, महा० दिज्जइ, शौ० दिज्जदि=दीयते ।

(२) √ गम् धातु से—महा० गमिज्जइ, शौ० गमीअदि ।

(३) प्रत्यय वार्जित लट् रूप गच्छ् से—शौ० गच्छीअदि ।

एकवचन	शौरसेनी	महाराष्ट्री
प्र० पु०	पुच्छीअदि	पुच्छिज्जइ
म० पु०	पुच्छीअसि	पुच्छिज्जसि
उ० पु०	पुच्छीआमि	पुच्छिज्जामि
	इत्यादि	इत्यादि

§ १२०—प्रेरणार्थक या णिजन्त संस्कृत की भांति धातु के परे अय (जो -ए- हो जाता है) लगाने से बनता है । जैसे—हासेइ= हासयति । आकारान्त धातुओं के परे पुक् का आगम होता है और प्राकृत में पय का वे बन जाता है । णिव्वावेदि=निर्वापयति । प्राकृत में इस शैली का बहुत प्रचार है और धातु के परे आ लगा दिया जाता है जैसे—पुच्छावेदि=पृच्छयते ।

§ १२१—कृदन्त। साधारण रूप नीचे दिये जाते हैं।

कर्तृ-प्रयोग

शतृ प्रत्ययान्त। पुं० पुच्छन्तो, स्त्री० पुच्छन्ता; नपुं० पुच्छन्तं। णिजन्त या प्रेरणार्थक—१मा एक० पुच्छावेन्तो आदि।

भविष्य—पुच्छिस्सन्तो, °ता, °तं

आत्मनेपद (प्रयोग कर्तृवाच्य अमा० में बहुत)

वर्तमान—पुच्छमाणो, ०णा (-णी); -णं।

भविष्य—पुच्छिस्समाणो आदि।

कर्मवाच्य

वर्तमान—शौ० पुच्छीअन्तो; महा० पुच्छिज्जन्तो, अमा० पुच्छिज्जमाणे।

भविष्य—पुच्छिदव्वो, महा० पुच्छिअव्वो; पुच्छणीओ, महा० पुच्छणिज्जो; कज्जो=कार्यः (§ १३७)

भूत—शौ० पुच्छिदो, महा० पुच्छिओ (§§ १२४-५)।

§ १२१ (क)—तुमुन्नन्त। सं० तुम् का शौ० माग० में दुं और महा० में उं हो जाता है। यह प्रत्यय (१) धातु के परे या (२) इ का आगम कर के प्रत्यय रहित लट् के परे लगाया जाता है। शौ० पुच्छिदुं, महा० पुच्छिउं।

उदाहरण—गन्तुं, शौ० गच्छिदुं, गमिदुं; शौ० कामेदुं=कामयितुम्, धारिदुं=धारयितुम्; शौ० कादुं, करिदुं, महा० काउं=कर्तुम्।

(-त्तए प्रत्ययान्त रूपों के लिये देखो § १३६)

§ १२२—क्त्वा, ल्यप् प्रत्ययान्त या पूर्वकालिक क्रिया।

शौ० पुच्छिअ, महा० पुच्छिऊण; अमा० पुच्छित्ता या पुच्छिदूण। शौ० माग० कदुअ=कृत्वा, गदुअ=गत्वा। कभी शौ० छन्द में -ऊण,

-दूण प्रत्यय होते हैं। जैसे—पेक्खिऊण। गद्य में इअ प्रत्यय ही होता है।

उदाहरण—शौ० णइअ=*नयिय=नीत्वा, अवणीअ=अपनीय; ओदरिअ (माग० ओदलिअ)=अवतीर्य, पेक्खिअ, भविअ, पविसिअ।

माग० में अधिक प्रयोग -ऊण प्रत्यय का है। जैसे—हऊण, गन्तूण, हसिऊण, काऊण।

अमा० में त्ता (नासिक्य के परे ता) प्रत्यय बहुत अधिक आता है। जैसे—भवित्ता, गन्ता, हसित्ता, करित्ता। त्ताणं प्रत्यय भी होता है—भवित्ताणं।

§ १२३—असाधारण रूप।

ऊपर दिये साधारण रूपों के अतिरिक्त बहुत से असाधारण रूप हैं। ये दो प्रकार के हैं--(१) जो शुद्ध संस्कृत रूपों में प्राकृत वर्णविकार के नियम लगने से बनते हैं। (२) जो दोनों संस्कृत और प्राकृत शैली के अनुसार असाधारण रूप हैं। दूसरी प्रकार के रूप बहुत अधिक नहीं। ये अनुरूपता के प्रभाव से बन गए होंगे अथवा प्राचीन लौकिक भारती से चले आए हैं जिन का प्रयोग पाणिनीय संस्कृत में नहीं हुआ।

§ १२४—प्राकृत के अधिकांश अनियमित धातु अपने क्रान्त रूप में ही भेद रखते हैं। प्राचीन क्रान्त रूपों का व्यवहार में रहना स्वाभाविक था क्यों कि गतः कृतः आदि शब्द इतने अधिक प्रच-लित थे कि अनुरूपता से बनने वाले गच्छिदो, करिदो आदि रूप उन के प्राकृत विकार गदो, किदो का बहिष्कार न कर सके। एक और बात भी है। इस रूप ने अपने कृदन्त अर्थ के अतिरिक्त विशे-षण का अर्थ धारण कर लिया था। आवश्यक नहीं कि स्निग्ध,

मुग्ध, बुद्ध आदि शब्द क्रिया या कृदन्त का बोध कराएं, यद्यपि उन की व्युत्पत्ति यही है। अनुरूपता से बने हुए क्रान्त रूपों की तथा प्राचीन व्यवहृत रूपों की (अथवा संस्कृत से लिये हुए रूपों की) संख्या भिन्न २ प्राकृतों तथा ग्रन्थों में भिन्न २ है । न ये नियम बद्ध हैं और न इन की पूरी सूची बनाने का कुछ लाभ है, तथापि कुछ ऐसे रूप हैं जिन का प्रयोग बहुत अधिक होता है, पाठकों को उन से परिचित हो जाना चाहिये। उन की सूची नीचे दी जाती है ।

§ १२५—क्रान्त—

असाधारण रूप

क्रान्त रूप	संस्कृत मूल	लट् रूप
अवरद्ध	अपराद्ध	महा० अवरज्झइ
आढत्त	(*आधत्त)	महा० आढाइ,
	आहित	(प्रेरणा० आढवइ)
आणत्त	आज्ञप्त	शौ० आणवेदि (§३६)
आरद्ध	आरब्ध	शौ० आरम्भदि
आरूढ	आरूढ	महा० आरुहइ
आसण्ण	आसन्न	शौ० आसीददि
उत्त	उक्त, अमा० वुत्त	
उत्तिण्ण	उत्तीर्ण	महा० उत्तरइ
ओइण्ण, शौ० ओदिण्ण	अवतीर्ण	ओअरइ
महा० कअ, अमा० कय	कृत	महा० करेइ
शौ० किद (§११), कद (§६०)	कृत	शौ० करेदि
किलिट्ठ	क्लिष्ट	महा० किलिस्सइ
कुविद	कुपित	शौ० कुप्पदि

क्रान्त रूप	संस्कृत मूल	लट् रूप
ॅक्रन्त	ॅक्रान्त	शौ० कमदि
महा० खत्र, खात्र शौ० खरिएद	खात	महा० खएइ
महा० खत्र, शौ० खद	क्षत	———
खिएए	क्षीण	महा० खिज्जइ
खित्त	क्षिप्त	खिवइ
महा० गत्र, शौ० गद	गत	शौ० गच्छदि
गविट्ठ	गवेषित	महा० गवेसइ
महा० गहिश्र, शौ० गहिद	गृहीत	शौ० गेएहदि (§ ५२)
गीत्र	गीत	महा० गात्रइ
गूढ	गूढ	शौ० गूहदि
छिएए	छिन्न	महा० छिन्दइ, शौ० छिन्ददि
महा० जात्र, शौ० जाद	जात	शौ० जात्रदि
महा० जिश्र, शौ० जिद	जित	शौ० जत्रदि महा० जिएइ
जुत्त	युक्त	महा० जुञइ, शौ० जुज्जदि (कर्मवा० § ११६)
चत्त	त्यक्त	महा० चत्रइ
महा० ठिश्र, शौ० ठिद (§ १२) महा० थिश्र, शौ० थिद (§ ३८)	स्थित	शौ० चिट्ठदि
एद महा० एश्र	नत	शौ० एमदि
एट्ठ	नष्ट	शौ० एस्सदि

क्रान्त रूप	संस्कृत मूल	लट् रूप
महा० णाअ, शौ० णाद ,, जाणिअ ,, जाणिद	ज्ञात	जाणादि
शौ० विण्णाद	विज्ञात	विण्णवीअदि (कर्मवा०)
पडिण्णाद	प्रतिज्ञात	
महा० णीअ, शौ० णीद	नीत	णेदि

[शौ० अवणीद=अपनीत; आणीद=आनीत; दुव्विणीद=दुर्विनीत; पच्चाणीद=प्रत्यानीत; उवणीद=उपनीत; परिणीद=परिणीत; महा० णिअ रूप भी होता है। अइणिअ=अतिनीत; आणिअ=आनीत]

ण्हाअ	स्नात	ण्हाइ (अमा० सिणाइ)
तत्त, तविद	तप्त	———
तुट्ट (हिं० टूटा)	त्रुटित	तुट्टइ
तुट्ठ	तुष्ट	तुस्सदि
दट्ठ, डक्क शौ० दंसिद	दष्ट	डसइ, शौ० दंसदि
दड्ढ	दग्ध	दहइ, डहइ, शौ० डहदि
दित्त	दीप्त	दिप्पदि
दिट्ठ	दृष्ट	दीसदि (कर्मवा०)
दिण्ण	दत्त	देदि
पअट्ट, पवट्ट, पअत्त, पउत्त	प्रवृत्त	पवट्टइ
पउत्त	प्रयुक्त	पउञ्जइ
पउत्थ	*प्रवस्त=प्रोषित	[पवसइ (?)]
पइण्ण	प्रकीर्ण	[पइरिज्जइ, पकिरीअदि (?)]

क्रान्त रूप	संस्कृत मूल	लट् रूप
पडिवरण	प्रतिपन्न	पडिवज्जदि
पराणत्त	प्रज्ञप्त	पराणवेइ
पत्त	प्राप्त	पावइ, पावेदि
महा० पलाइअ, शौ० पलाइद महा० पलाअ जैम० पलाण	पलायित *पलात	पलायइ
पविट्ठ	प्रविष्ट	पविसदि
पसत्थ	प्रशस्त	पसंसदि
पीद	पीत	पिवदि
पुट्ठ, पुच्छिद	पृष्ट	पुच्छदि
पुट्ठ	स्पृष्ट	फुसइ
बद्ध	बद्ध	बन्धइ
बुद्ध	बुद्ध	बुज्झइ
भट्ठ	भ्रष्ट	——
भिरण	भिन्न	भिन्दइ
महा० भीअ, शौ० भीद	भीत	बिहेइ, शौ० भाअदि
शौ० भूद	भूत	भोदि
भुत्त	भुक्त	भुञ्जदि
मुक्क	*मुक्क, मुक्त	मुञ्चदि
महा० मुअ, मअ, शौ० मुद	मृत	मरदि
मूढ	मूढ	मुज्झइ
रअ	रत	रमइ
रत्त	रक्त	रज्जदि

क्रान्त रूप	संस्कृत मूल	लट् रूप
रुइअ	रुचित	रुच्चइ, शौ० रुच्चादि
रुट्ठ	रुष्ट	रुसइ
महा० रुण्ण, शौ० रुदिद	रुदित	महा० रुअइ, शौ० रुवदि, रोअदि
रुद्ध	रुद्ध	रुन्धेदि
लग्ग	लग्न	लग्गइ, शौ० लग्गादि
लद्ध	लब्ध	लहइ
लीण, लिअ	लीन	लेइ
लीढ	लीढ	लिहइ
विण्णत्त	विज्ञप्त	विण्णावेइ
वूढ	ऊढ	वहइ
समासत्थ	समाश्वस्त	[समस्ससइ (?)]
सिट्ठ	शिष्ट (√शास्)	साहइ
सित्त	सिक्त	सिञ्चइ
सिद्ध	सिद्ध	सिज्झइ
सुत्त	सुप्त	सुवइ
सुद (महा० सुअ)	श्रुत	सुणेदि
सुद्ध	शुद्ध	सुज्झइ
महा० हअ, शौ० हद	हत	हणइ
हअ	हृत	हरदि
महा० हुअ, शौ० भूद	भूत	होइ[1]

(१) हेमचन्द्र के कथनानुसार महा० होइ, हुवइ, हवइ, भवइ शौ० हुवदि, भवदि, हवदि, भोदि, होदि रूप हो सकते हैं।

§ १२६—प्राकृत में लट् लकार के असाधारण रूप।

प्राकृत में लट् लकार के साधारण रूप पुच्छदि और करेदि की शैली पर बनते हैं (§ ११४), और वे (१) या तो संस्कृत के भ्वादिगणीय[1] लट् के विकार होते हैं या (२) इतर-गणीय धातुओं के भ्वादि-लट् की शैली पर बनाए हुए रूपों के विकार। अतः हमें ये रूप नियमित ही समझने चाहियें—जैसे [१] गच्छदि, इच्छदि, सिञ्चदि, मुञ्चदि, मरदि, सुमरदि, पिवदि, फुसदि, कुप्पदि, सच्चदि, कधेदि, तक्केदि, चिन्तेदि, [२] हणदि [हन्], ससदि [√श्वस्)।

असाधारण रूपों के अन्तर्गत हैं—[१] जो रूप नियमित न हों—जैसे ठाइ; [२] जो धातु ए-गण के बना लिये हों—करेदि; [३] जो सं० भ्वादि गण के रूपों से प्राकृत में कुछ विलक्षण हो गए हों, [४] नासिक्य अनुवन्ध वाले धातु, [५] जिन धातुओं में ण गण-चिह्न हो अथवा अनुरूपता से आ गया हो; [६] संस्कृत के इतर रूपों के विकार; [७] अनियमित।

§ १२७—(१) प्र० पु० एकव० के ऐसे रूप जिन के अन्त में आइ (शौ० आदि) है, वे (क) स्वर सन्धि का परिणाम हैं—अप० खाइ (=खाअइ)=खादति; या (ख) संस्कृत अदादि-गणीय रूपों के अवशेष हैं। जैसे—महा० वाइ=वाति (वाअइ, शौ० वाअदि रूप भी); महा० पडिहाइ=प्रतिभाति (शौ० पडिहाअदि); शौ० भादि=भाति, विहादि=विभाति, या (ग) अनुरूपता से बन जाते हैं—महा० ठाइ=*स्थाति=तिष्ठति (शौ० चिट्ठदि) इसी प्रकार आकारान्त धातुओं से—धाइ या धाअइ, गाइ, झाइ=(आर्ष ध्याति)

---

१ दिवादि, तुदादि और चुरादि सहित।

सन्धिजन्य इतर रूप—शौ० भोदि=भवति; ग़ोदि=नयति।

√दा धातु के देदि, देसि, देमि, देन्ति आदि रूप हैं। देदि का मूल* दयति है—देखिये शौ० भविष्य० दइस्सं। पूर्वकालिक दइअ।

§ १२८—(२) ए-गण की शैली पर रूप बनाने वाले धातु—जैसे-करेदि=करोति (परन्तु प्रेरणा० कारेदि=कारयति); मुश्चेदि (प्रेरणा० मोआवेदि), हसेदि, सुमरेदि, चिणेदि, सुणेदि, भणेदि, धुवँदि आदि।

§ १२९—(३) √रु धातु से रवइ (भ्वादि शैली), रुवइ (तुदादि शैली) और रोवइ; तुमुन्नन्त-रोविउं। शौ० रोदिदुं रुद् धातु से बना है।

√धौ—महा० धुवइ, अमा० धोवइ, धोवेइ; शौ० धोअदि।

√भू से महा० होइ, हवइ, शौ० भोदि, होसि, होमि; विधिलिङ् भवे, भवेअं; तुमुन्० भविदुं।

रुच्चदि=*रुच्यते (दिवादि गण की शैली पर); रोअदि, माग० लोअदि रूप भी होते हैं। इसी प्रकार—लग्गदि, वज्जदि (√व्रज्); जुज्जदि=*युज्यति (आर्ष युञ्जति)।

§ १३०—(४) छिद् से छिन्दइ, छिन्ददि बनता है। यह रूप स्वतः सिद्ध है क्यों कि संस्कृत में लट् के रूपों में नासिक्य होता है। इसी प्रकार रुधादि गण के इतर धातुओं के रूप—भिन्दइ, भञ्जइ, भुञ्जदि।

√रभ् धातु के रम्भइ रूप का नासिक्य संस्कृत के सन्नन्त प्रयोग में भी दिखाई देता है। (आर्ष रम्भति)।

मुञ्चदि (महा० मुञ्चइ) साधारण है परन्तु महा० में मुञ्चसि=*मुचसि रूप भी पाया जाता है।

§ १३१—(५) ण रहता है—चिणइ, शौ० चिणेदि=चिनोति; कुणइ=वै० कृणोति; सुणेदि, महा० सुणइ=शृणोति; जाणइ, शौ० जाणादि, न आणादि=न जानाति; किणइ=क्रीणाति; गेण्हदि=गृह्णाति, शौ० सक्कणोमि, सक्कुणोमि=शक्नोमि; धुणइ (शौ० धोअदि, पा० धोवति। अनुरूपता से जिणइ, शौ० जअदि (√जि), थुणइ (√स्तु)।

§ १३२—(६) गत्यर्थ √इ के एदि (महा०एइ), एसि, एमि; एन्ति आदि रूप बनते हैं। सत्ता अर्थ √अस् के अत्थि, सि, म्हि, सन्ति, त्थ, म्ह (महा० म्हो) रूप होते हैं।

(अत्थि रूप सब पुरुषों और वचनों में प्रयुक्त होता है)।

√भी—महा० बिहेइ शौ० भाअदि।

(७) भणादि (क्र्यादि गण की भांति भ-णा-मि समझ कर), भणेदि रूप भी; सुणादि=सुणदि।

√स्वप् का सुव् हो कर सुअइ, और फिर रुअइ : रोवइ की अनुरूपता से सोवइ, शौ० सोवदि रूप भी बनते हैं।

§ १३३—इतर लकारों के अवशिष्ट रूप।

लङ्—आसी=आसीत् (यह सब पुरुषों तथा वचनों में प्रयुक्त होता है)

विधिलिङ्—अमा० सिया=स्यात्; कुज्जा=कुर्य्यात्; बूया=ब्रूयात्; सक्का=वै० शक्यात् (पिशल् § ४६५)।

आशीर्लिङ्—महा० अमा० होज्जा=भूयात्; अमा० देज्जा=देयात्।

लुङ्—अमा० अकासि, (-सी)=अकार्षीत्, अकार्षीः।

बहु० प्रत्यय—इंसु—अकरिंसु (देखिये पाली रूप)

लिट्—अमा० आहु=आहुः, बहु० आहंसु।

§ १३४—भविष्य (लृट्) के असाधारण रूप।

इस्सदि (या महा० इहिइ) वाले लृट् के साधारण रूप प्रत्यय रहित लट् से बनाए जाते हैं—पुच्छिस्सं, काधिस्सं, महा० पुच्छिहं, कहेहं (§ ११८)। संस्कृत की भांति धातु से भी बनते हैं—महा० णेहिइ=नेष्यति, परन्तु शौ० णइस्सदि; शौ० गमिस्सदि।

√भू के लट् के अनुसार कई रूप हैं—शौ० भविस्सं, हुविस्सं, माग० हुविश्शं, महा० होहिइ, होस्सं।

√स्था—महा० ठाहिइ (लट्–ठाइ); शौ० चिट्ठिस्सदि [लट् चिट्ठदि]। दूसरे रूप सं०-स्यति आदि के विकार हैं और विशेष कर महा० अमा० में पाए जाते हैं—दच्छं=द्रक्ष्यामि [प्र० पु० एक० दच्छिइ, म० पु० एक० दच्छिसि, प्र० बहु० दच्छिन्ति]; मोच्छं (√मुच्), वेच्छं (√विद्), रोच्छं (√रुद्); वोच्छं (√वच्)। दच्छं आदि रूप शौ० और माग० में प्रयुक्त नहीं होते। शौ० पेक्खिस्सं (महा० पेच्छिस्सं), रोदिस्सं, वेदिस्सं।

णिजन्त तथा इतर ए-गण के धातुओं का लृट् (१) संस्कृत की भांति य् का लोप करने से बनता है—शौ० कधइस्सिं, मोआवइस्ससि=*मोचापयिष्यासि; णिअट्टइस्सदि=निवर्तयिष्यति, (२) महा०, अमा० में ए रहता है वट्टेहामि=वर्तयिष्यामि; (३) अय=ए का लोप करने से—महा० कहिस्सं, शौ० काधिस्सं; महा० पुलोइस्सं=प्रलोकयिष्यामि, शौ० तक्किस्सदि=तर्कयिष्यति, सुस्सूसइस्सं=शुश्रूषयिष्यामि; माग० मालिश्शशि=मारयिष्यासि।

√दा का शौ० दइस्सं, महा० दाहं; √कृ का शौ० करिस्सं, और महा० में काहं रूप भी होता है।

§ १३५—असाधारण कर्मवाच्य रूप।

(क) जो रूप शौ० इअ और इज्ज न रखने से असाधारण दिखाई पड़ते हैं वे वास्तव में संस्कृत रूपों के विकार हैं (§ ११६)। जैसे—जुज्जदि=युज्यते; गम्मइ=गम्यते। और उदाहरण—खिप्पइ (क्षिप्), लुप्पइ (लुप्), भज्जइ (भज्), बज्झइ (बन्ध्; ध्य7ज्झ § ५४), रुज्झइ (रुध्), आरब्भइ (आ+रभ्), गिज्जइ (गा), खज्जइ (खाद्), लब्भइ, शौ० लब्भदि (लभ्), छिज्जइ (छिद्), भिज्जइ। (भिद्), भुज्जइ (भुज्), मुच्चइ (मुच्), वुच्चइ (वच्), तीरइ (तृ), कीरइ (कृ)।

(ख) दूसरे उदाहरण भी अप्रचलित धातु अथवा रूपों के विकार हैं। जैसे—वुब्भइ=उह्यते (* √वुभ्), दुब्भइ=दुह्यते, लिब्भइ=लिह्यते, रुब्भइ=रुध्यते, घेप्पइ=गृह्यते; उ, ऊ के स्थान में उव् करने से—रुव्वइ=*रुव्यते (शौ० रोदीअदि), सुव्वइ, शौ० सुणीअदि (श्रु) थुव्वइ (स्तु); धुव्वइ, धुणिज्जइ (धू)। इसी प्रकार के हैं चिव्वइ (चि के बदले चीव्) इस का चिणिज्जइ, [1]शौ० चीअदि भी बनता है; जिव्वइ (जि के बदले जिव्)।

(ग) आधप्पइ णिजन्त कर्मवाच्य है=आधाप्यते, इसी प्रकार विधप्पइ है।

(घ) जम्मइ (जन्म लेता है) जम्म=जन्मन् शब्द से बना है। इसी प्रकार हम्मइ (√हन्), खम्मइ [√खन्] बने हैं।

---

(१) वैयाकरण चिव्वइ, जिव्वइ को चि, जि धातुमूलक मानते हैं। ये उ,-ऊकारान्त धातुओं की शैली पर बने हैं। परन्तु पिशल् (§ ५३७) का कहना है कि चिव्वइ चिव् धातु से बना है जो धातुपाठ में ग्रहण करने या ढांपने के अर्थ में पाया जाता है, इसी प्रकार जिव्वइ जिव् धातु से जिस का अर्थ है प्रसन्न करना।

सुम्मइ [√श्रू], चिम्मइ [√चि] के लिये कोई समाधान नहीं सूझता।

नोट—शौरसेनी और मागधी में प्रायः प्रत्यय रहित लट् से कर्मवाच्य रूप बनाए जाते हैं। जैसे—महा० लब्भइ, शौ० लब्भीअदि तथा लम्भीअदि; महा० मुच्चइ, शौ० मुञ्चीअदि; महा० सुव्वइ, शौ० सुणीअदि, माग० शुणीअदि; महा० रुव्वइ, शौ० रोदीअदि; महा० भुज्जइ, शौ० भुञ्जीअदि; महा० कीरइ, शौ० करीअदि [अमा० कज्जइ=*कर्यते], महा० णज्जइ, शौ० जाणीअदि; महा० भण्णइ, शौ० भणीअदि।

§ १३६—तुमुन्नत के विविध पर्याय।

इस का साधारण रूप, विशेष कर शौरसेनी में, प्रत्यय रहित लट् के परे इतुम् [महा० इउं, शौ० इदुं] लगा कर बनाया जाता है। जैसे-गच्छिदुं, (गम्), अणुचिट्ठिदुं [स्था]; गेण्हिदुं [ग्रह्], जाणिदुं [ज्ञा], दहिदुं [दह्], खिविदुं (क्षिप्), हरिदुं (हृ)। णिजन्त—कारेदुं धारेदुं, दंसेदुं=दर्शयितुम्। कभी अय का ए नहीं बनता—शौ० णिअत्ताइदुं=निवर्तायितुम्। कभी अकारान्त धातु की भांति—धारिदुं, मारिदुं, कधिदुं।

तुम्-प्रत्ययान्त संस्कृत रूपों के विकार जो शौरसेनी की अपेक्षा माहाराष्ट्री में बहुत मिलते हैं। जैसे—शौ० ठादुं [स्था]; पादुं [पा='पीना']; कादुं, महा० काउं [कृ]; गन्तुं [गम्]। महा० भोत्तुं=भोक्तुम्, दट्ठुं=द्रष्टुम्, दाउं [दा], णेउं [नी]; पाउं, शौ० पादुं, जैम० पिविउं, [पा], सोउं=श्रोतुम्, जेउं, अमा० जिणिउं, [जि], लद्धुं [लभ्], वोढुं [वह्], छेत्तुं [छिद्], भेत्तुं [भिद्], मोत्तुं [मुच्],

णाउं [ज्ञा] । इसी प्रकार बने हैं घेत्तुं [§ १९]=*घृप्तुम्=ग्रहीतुम् , सोत्तुं=*सोप्तुम्=स्वपितुम् , देखिये रोत्तुं=रोदितुम् ।

वच् धातु का महा० में वोत्तुं, शौ० में वत्तुं बनता है ।

अर्धमागधी में तुम्-प्रत्ययान्त रूप बहुधा पूर्वकालिक क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं—काउं का अर्थ है 'कृत्वा, कर के' । तुम्-अर्थ प्रकट करने के लिये इस प्राकृत में त्तए या इत्तए प्रत्यय होता है । चिट्ठित्तए [स्था], गच्छित्तए [गम्] ।

ये रूप वैदिक भाषा के चतुर्थी विभक्ति के रूपों से बने हैं जो तुम्-अर्थ में प्रयुक्त होते थे ।

§ १३७—तव्य, य, नीय प्रत्ययान्त विविध रूप । [§ १२१]

[१]—[क] प्रत्यय रहित लट् अथवा [ख] धातु के परे तव्य लगाने से—[क] पुच्छिदव्व, गच्छिदव्व, होदव्व [§ ४] या भविदव्व, अणुचिट्ठिदव्व, दादव्व, सुणिदव्व, जाणिदव्व, गेण्हिदव्व ।

[ख] सोदव्व, महा० सोअव्व (श्रु) घेत्तव्व, कादव्व, महा० काअव्व (कृ) [§ ६३] ।

(२)—नीय (महा० अमा० -अणिज्ज शौ० माग० -अणीअ) लगाने से—शौ० करणीअ, दंसणीअ, [लट् से-पुच्छणीअ, महा० करणिज्ज दंसणिज्ज ।

[३] -य लगाने से—कज्ज [§ ५०]=कार्य; अमा० वोज्झ=वाह्य । लट् से—गेज्झ [§ ७०]=*गृह्य जो प्रत्यय रहित लट् *गृह् से बना है[२] ।

---

१ महा० गहिउं, अमा० गिण्हिउं, जैम० गेण्हिउं, शौ० गेण्हिदुं रूप भी हैं ।

२. यह पिशल् का मत है । पहिले ग्राह्य का *गज्झ बना, फिर गेण्हदि, घेत्तुं आदि की अनुरूपता से अ का ए बन कर गज्झ का गेज्झ हो गया ।

अध्याय १०

प्राकृतों के विविध भेद और उन के लक्षण ।

पिछले छः अध्यायों में विशेषतया शौरसेनी और महाराष्ट्री के वर्णविकार तथा रूपरचना के नियम दिये गए, इतर प्राकृतों का प्रसङ्ग वश कुछ वर्णन किया। अब इस अध्याय में इतर प्राकृतों के विशेष लक्षण बतलाए जायेंगे ।

मागधी ।

कई कारणों से यह प्राकृत अधिक ध्यान देने के योग्य है परन्तु खेद है कि इस का ज्ञान प्राप्त करने के साधन विस्तृत नहीं। इस के अन्दर उच्चारण अर्थात् वर्णविकार के ऐसे भेद पाए जाते हैं जिन का समाधान करना कुछ आसान बात नहीं।

स के स्थान में श---यह बात तो पूर्वभारती अर्थात् गौड़ीय भाषाओं में आज भी पाई जाती है। यहां के लोग सामवेद, सीता आदि का न केवल उच्चारण प्रत्युत लेख भी शामवेद, शीता आदि करते हैं। चूंकि और प्राकृतों में केवल दन्त्य स होता है इस लिये तालव्य श से पाठक झट मागधी को पहिचान सकते हैं । झट जाना जाता है कि भविश्शदि शब्द शौरसेनी भविस्सदि का मागधी रूप होगा। इसी प्रकार तास्सि का ताशि सा का शा, पुत्तस्स का पुत्तश्श इत्यादि ।

र के स्थान में ल—यह विकार बहुत विचित्र है विशेष कर शब्द के आदि में—लाआणो=राजानः, पुलिशे=शौ० पुरिसो=पुरुषः; गलुड=गरुड; चालुदत्त=चारुदत्त; ओवालिदशलील=अपवारित-शरीर, शमल=समर, णगलन्तल=नगरान्तर।

र और ल का विनिमय इतर प्राकृतों में (§ २६), तथा पाली (तलुणो=तरुणः) में भी पाया जाता है। यह विनिमय वेद में भी मिलता है जहां अरंकृणोति के स्थान में अलं √कृ, और √रुच् के स्थान में √लुच् मिलता है। और भाषाओं में इस के बहुत से उदाहरण मिलते हैं और इस बात का निर्णय करना कि मूलवर्ण कौनसा है प्रायः कठिन होता है।

एक ऐसी आर्यभाषा का मिलना जिस में रेफ बिलकुल न हो बड़ी आश्चर्यजनक बात है। बिहार और बंगाल प्रान्त की आधुनिक भाषाओं में हर एक र के स्थान में ल नहीं हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि मागधी का र के स्थान में ल उच्चारण करना केवल कवि-समय है जो इस बात की सूचना करता है कि पूर्वी भारत में ल बोलने की अधिक प्रवृत्ति थी। चूंकि मागधी को बहुत ही नीच पात्र बोलते हैं, शायद यह विनिमय अनार्य लोगों के उच्चारण की नक़ल है जिन की भाषा में चीनी भाषा की न्याई र वर्ण नहीं था।

परन्तु यदि हम अशोक महाराज की धर्मलिपियों (वि० पू० २५० वर्ष) की ओर ध्यान करें तो लिपियों की पूर्वी भाषा में यह विकार पाया जाता है। यह भाषा पाटलिपुत्र के राजदरबार की भाषा थी जो इलाहबाद और देहली की धर्म लिपियों में तथा कुछ भेद के साथ कालसी की धर्मलिपियों में पाई जाती है।

य रहता है—बलकि ज के स्थान में भी य आता है।

यधा=शौ० जधा (§ १); याणदि=जानाति।

याणिदव्वं=शौ० जाणिदव्वं; यणवद=जनपद।

यायदे=जायते।

(झ का य्ह हो जाता है—य्हत्ति=झटिति)।

द्य, र्ज, र्य, ये सब य्य बन जाते हैं जिस का परिणाम यह है कि जहां शौरसेनी में ज्ज है वहां मागधी में य्य है। अय्य=अद्य या आर्य (शौ० अज्ज); अवय्य=अवद्य, मय्य=मद्य (ध्य का य्यह बनता है—मय्यहरण=शौ० मज्झरण § ७४)। अय्युण=अर्जुन, कय्य= कार्य (शौ० कज्ज § ५०), दुय्यण=दुर्जन।

इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि मागधी में य का उच्चारण तालव्य ईषत्स्पृष्ट था जो अंग्रेज़ी शब्द yes (येस्) में y (वाई) के उच्चारण से भिन्न था। गान्धार देश में विदेशी भाषा के एक वर्ण विशेष को जिसे यूनानी लिपि में z (ज़ैड) से प्रकट करते थे 'य' के प्राचीन चिह्न से प्रकट किया जाता था।

इस लिये एज़ीज के सिक्कों पर षष्ठी विभक्ति का रूप अयस है। बंगला भाषा की कई बोलियों में ज अक्षर का उच्चारण z (ज़) या zh (य़) होता है जैसा कि अंग्रेज़ी शब्द zeal (ज़ील्) और azure (एय़र्) में z (ज़ैड्) का उच्चारण होता है। कई शब्दों में 'य' का भी यही उच्चारण होता है। जैसे—बंगला में ये शब्द को zhe य़े उच्चारण करते हैं।

ण्य, न्य, ज्ञ और ञ्ज का ञ्ञ हो जाता है। यथा—

पुञ्ञ=पुण्य (शौ० पुण्ण § ४८); अञ्ञ=अन्य (शौ० अण्ण); कञ्ञका=कन्यका, लञ्ञो=राज्ञः (शौ० रण्णो § ६६); अञ्ञलि= अञ्जलि (शौ० में ञ्ज रहता है)।

स्वरमध्यवर्ती च्छ का श्च हो जाता है[1]। यथा—

गश्च=गच्छ, इश्चीअदि=इच्छति (* इच्छयते), उश्चलदि=उच्छलति, पुश्चदि=पृच्छति। तिलिश्चि पेस्कदि=महा० तिरिच्छि पेच्छइ=तिर्यक् प्रेक्षते।

यदि संयुक्त अक्षर में पूर्व वर्ण श् ष् स् हो वह वैसे बना रहता है। इस विषय में वैयाकरणों का मतभेद है कि कौन ऊष्म वर्ण मागधी में होगा। लिखित प्रतियों के वर्णविन्यास में बहुत विरोध है, कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता।

ष्क—हेमचन्द्र के कथनानुसार शुष्क का शुस्क हो जाता है परन्तु पुस्तकों में शुश्के=शुष्कः, तुलुश्क=तुरुष्क आदि मिलते हैं।

ष्ट, ष्ठ का स्ट (या श्ट) हो जाता है—कष्ट का कस्ट या कश्ट हो जाता है, सुष्ठु का शुस्टु या शुश्टु।

ष्प, ष्फ>स्प, स्फ। णिस्फल=निष्फल (पुस्तकों में णिष्फल § ३८)।

स्क, स्ख—पस्खलदि=प्रस्खलति।

स्त, स्थ>स्त (या श्त)—हश्ते या हस्ते=हस्तः (महा० शौ० हत्थो § ३८), उवास्तिद=उपस्थित।

---

१. चूंकि जिन सं० क्रियाओं में च्छ पाया जाता है वे इंडोयोरुपियन स्क वाले रूपों से बनी हैं, इस लिये मागधी श्च वैदिक च्छ की अपेक्षा अधिक प्राचीन हो सकता है, उच्चारण चाहे इस का कुछ ही हो। परन्तु मागधी में हर प्रकार के च्छ को श्च हो जाता है। जैसे उश्चलदि=उच्छलति, मश्चली (=मत्स्य+ली—प्रा० मच्छ, हिं मछली)। लेकिन यदि पहिले पहिल इच्छदि आदि के च्छ को माग० में श्च हुआ तो शीघ्र ही यह प्रवृत्ति उन शब्दों में भी फैल गई जहां शौरसेनी आदि में च्छ था।

स्प—बहस्पदि या बिहश्पदि=बृहस्पति।

त्त>स्क—पेस्कदि=प्रेक्षते; कभी त्त>श्क—पश्क=पक्ष। हेम-चन्द्र विसर्ग या जिह्वामूलीय के साथ पःक, प✕क भी लिखते हैं।

वास्तव में मागधी उच्चारण न 'स' था न 'श' जैसा कि ये वर्ण मध्यदेश में उच्चारण किये जाते थे। इस प्रकार के संयुक्त अक्षर प्राकृत में साधारण नहीं थे अतः लिखित पुस्तकों में प्रायः स्थ आदि पाए जाते हैं।

र्थ>स्त या श्त—तिस्त=तीर्थ, अस्ते=अर्थः।

यह केवल अनुरूपता से हो सकता था। जैसे—शौ० हत्थोः मांग० हश्ते ∵ शौ० अत्थोः माग० अस्ते।

रूपरचना में केवल दो बातें उल्लेखनीय हैं–१मा ए० के रूप एकारान्त—शे हस्ते=शौ० सो हत्थो और हगे=अहम् (§ १०७)। और बातों में मागधी की रूपरचना शौरसेनी से बहुत ही मिलती है।

नाटकों में मागधी की कई उपप्राकृतें पाई जाती हैं।

शकारी—इसे मृच्छकटक में राजा का साला बोलता है।

विशेषताएं—(१) तालव्य स्पर्शों के पूर्व लघुप्रयत्न यकार—य्चिष्ठ=तिष्ठ[१] (२) ऋकारान्त धातुओं के क्तान्त रूपों में 'ड'—कड=कृत (यह बात अमा० में भी पाई जाती है)। (३) ६ष्ठी एक० का प्रत्यय -आह और -श्श—चालुदत्ताह (४) ७मी एक० का आहिं—पवहणाहिं=प्रवहणे। (५) संबोधन बहु०–आहो (वैदिक आसः)। पिछली तीन विशेषताएं अपभ्रंश में भी पाई जाती हैं।

चाण्डाली और शाबरी भी मागधी की उपप्राकृतें हैं।

---

१. मार्कण्डेय पुराण में यह बातें मागधी और व्राचड अपभ्रंश के लिये लिखी है—य्चिलं=चिरम्।

मृच्छकटिक में माथुर तथा द्यूतकार एक प्राकृत बोलते हैं जिसे पिशल् ढक्की के नाम से पुकारता है। वह इसे मागधी की उपप्राकृत मानता है। सर् जार्ज ग्रियर्सन ने सिद्ध किया है कि इस का नाम "टाक्की" अधिक शुद्ध है और यह स्यालकोट के निकट टक्क देश में बोली जाती थी[२]।

अर्धमागधी।

प्रो० जेकोबी इसे "जैन प्राकृत" पुकारता और महाराष्ट्री का प्राचीन रूप मानता है। भारतीय वैयाकरण प्राचीन जैन सूत्रों की भाषा को "आर्ष" (ऋषि सम्बन्धी) कहते हैं। हेमचन्द्र कहता है कि मेरे व्याकरण के सब नियमों के आर्ष में अपवाद होते हैं। एक और वैयाकरण त्रिविक्रम हुआ है। उस ने अपने व्याकरण में आर्ष को ग्रहण नहीं किया क्योंकि इस में शब्दों के रूढ अर्थ होते हैं और प्रकृति प्रत्यय से अर्थ की सूचना नहीं होती अर्थात् वे संस्कृत से नहीं निकले।

रुद्रट कृत काव्यालंकार (२।१२) पर टीका करते समय नमिसाधु प्राकृत शब्द को प्रकृति से निकालता है जिस का अर्थ है "व्याकरण नियमों से अनियन्त्रित साधारण लोक भाषा"। वह इस की व्युत्पत्ति "प्राक्कृत" (पूर्वनिर्मित) ऐसे भी करता है क्योंकि जैन सिद्धान्त ग्रन्थों की अर्धमागधी प्राकृत देवताओं की भाषा है। यथा—

आरिस वयणे सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी।

स्पष्ट है कि नमिसाधु जैन था। जैनों का तो विश्वास है कि अर्धमागधी प्राकृत जिस में भगवान् महावीर स्वामी उपदेश देते थे मूल भाषा है जिस में से दूसरी सब भाषाएं निकली हैं।

---

२. पंजाब के पहाड़ी इलाके में "टाकरी" लिपि प्रचालित है जो शायद टक्क देश की सूचना देती है।

सिद्धान्त के गद्य और पद्य भाग की भाषा में कुछ भेद है। पद्य में १मा एक० प्रायः ओकारान्त (न कि एकारान्त जो माग० की भांति अमा० का लक्षण चिह्न है) होता है। पद्य में पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्यय तूण, ऊण होते हैं परन्तु गद्य में अधिकतया त्ता, त्ताणं (§ १२२)। कुछ और भेद—पद्य में मेच्छ, गद्य में मिलक्खु; पद्य कुणइ, गद्य कुव्वइ (=*कुर्वति)। गद्य की अपेक्षा पद्य की भाषा महाराष्ट्री से कुछ अधिक समानता रखती है।

अर्धमागधी इन बातों में मागधी से मिलती है—

१मा एक० का एकारान्त रूप; ६ष्ठी एक० तव; ऋकारान्त धातुओं के 'ड' वाले क्तान्त रूप; क को ग-आदेश—असोग (यह विकार माग० में बहुत कम होता है); संबोधन एक० का दीर्घ आ (अपभ्रंश में बहुत है)।

मागधी से इस का प्रधान भेद यह है कि इस में स और र दोनों होते हैं। साधारणतया पाली की भांति अमा० में नाटकीय प्राकृतों की अपेक्षा प्राचीन रूपों का अधिक प्राचुर्य है। भारतीय नाट्यशास्त्र, तथा साहित्यदर्पण के अनुसार अमा० को दास, दासी, राजपूत तथा श्रेणिपति बोलते थे। नाटकों में जैन भिक्षुओं को अमा० बोलनी चाहिये थी परन्तु वे साधारण मागधी बोलते हैं।

अमा० कई बातों में महाराष्ट्री से भेद रखती है[1]।

उच्चारण—१. एव और अवि (=अपि) के पूर्व अम् का आम् हो जाता है।

२. "इति वा" में और प्लुत स्वर के परे 'इति' का इ हो जाता है।

---

१. प्रो. जेकोबी का ख्याल था कि सिद्धान्त की भाषा महाराष्ट्री का प्राचीन रूप है (कल्पसूत्र, अनुवाद, सेक्रिड बुक्स आफ दी ईस्ट, पुस्त. २२)। पिशल इस मत के विरुद्ध है § १८।

३. प्रति के इ का लोप—पडुप्पन्न=प्रत्युतपन्न (और प्राकृतों में विरला)

४. चवर्ग के स्थान मे तवर्ग—तेइच्छा=चिकित्सा

५. अहा=यथा

६. सन्धिव्यञ्जनों का प्रयोग (§ ७८)

संज्ञा की रूपरचना—१. ४थी एक० -त्ताए वाले (§ ६२)
२. ३या एक०—सा (§ १०४)
३. ७मी एक० सिं (§ ९२)

क्रिया की रूपरचना—१. √ख्या—आइक्खइ, पा० आचिक्खति, महा० अक्खाइ ।
२. कुव्वइ (गद्य में)
३. लुङ् के अवशिष्ट रूप–प्र० पु० बहु० पुच्छिंसु।
४. -ट्टु, इत्तु वाले रूपों का पूर्वकालिक क्रिया की भांति प्रयोग—कट्टु (अर्थ–कृत्वा), अवहट्टु (अर्थ—अपहृत्य), सुणित्तु (अर्थ—श्रुत्वा), जाणित्तु (ज्ञात्वा) ।
५. तुमुन् अर्थ में -त्तए, इत्तए (§ १३६) ।
६. त्ता, त्ताणं, च्चा, च्चाण (-णं), याण (-णं) वाले पूर्वकालिक क्रिया के रूप ।

जिन बातों में महा० और अमा० मिलती हैं, उन में भी जो महा० में विरली हैं वे अमा० में प्रचुर हैं। मूर्धन्याविधि तथा र के स्थान में ल—ये अमा० में बहुत अधिक हैं।

शब्द कोश में भी प्रायः भेद होता है।

प्रकट है कि शौरसेनी से तो अर्धमागधी और भी भिन्न होगी।

जैन महाराष्ट्री ।

सिद्धान्त के पीछे के ग्रन्थ उस समय लिखे गए जब जैन धर्म दूर दूर तक फैल चुका था। इस लिये इन ग्रन्थों में इतर प्राकृतों के

चिह्न पाए जाते हैं । श्वेताम्बर जैनों के आगम–बाह्य ग्रन्थ एक ऐसी प्राकृत में हैं जो महाराष्ट्री का रूपान्तर माना जा सकता है यद्यपि इस में अमा० के कई विशेष चिह्न पाए जाते हैं । यथा—तुमुन् अर्थ में -इत्तु; क्त्वा, ल्यप् के लिये -इत्ता; क के स्थान में ग । इस प्राकृत के प्रयोग का कारण शायद यह है कि जैन धर्म पश्चिम तट की वैश्य जातियों में बहुत प्रिय हो गया था । इस प्राकृत को जैन महाराष्ट्री कहते हैं और प्रौ० जेकोबी संकालित प्राकृत पाठावली इसी में है ।

जैन शौरसेनी ।

दिगम्बर सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थों की प्राकृत में १मा एक० ओकारान्त होता है तथा त, थ का द, ध बन जाता है । इस कारण इसे जैन शौरसेनी कहते हैं । परन्तु इस में बहुत सी ऐसी बातें पाई जाती हैं जो शौरसेनी में तो नहीं मिलतीं, प्रत्युत महा० या अमा० में मिलती हैं । गुजरात देश की ओर जैन धर्म के कई केन्द्र स्थल थे और वहां शौरसेनी और महाराष्ट्री का आपस में मिलाप हुआ होगा । जैमहा० की अपेक्षा जैशौ० में अमा० की विशेषताएं अधिक पाई जाती हैं, इस का कारण शायद यह है कि जैशौ० कुछ अधिक प्राचीन है ।

मुख्य प्राकृतों के जो भेद और समानताएं ऊपर दी गई हैं ज़रूरी नहीं कि उन के आधार पर प्राकृतों का निश्चित वर्गीकरण किया जा सके । एक तो पूर्वी प्राकृत (मागधी) थी, दूसरी दक्षिणी (माहाराष्ट्री) और तीसरी मध्यदेशीय [शौरसेनी] । अर्धमागधी को मध्यदेशीय की अपेक्षा दक्षिणी प्राकृत से अधिक समानता है । वर्तमान आर्य भारती भाषाओं की तुलनात्मक परीक्षा के आधार पर हर्नले महोदय ने यह कल्पना की कि एक समय समस्त आर्य भारतवर्ष में दो भाषाएं थीं—एक शौरसेनी और दूसरी मागधी । माहाराष्ट्री के विषय में उस का यह मत था कि यह

कविकल्पित साहित्यिक प्राकृत है और महाराष्ट्र देश में बोली जाने वाली तत्कालीन भाषा से इस का कुछ सम्बन्ध न था। परन्तु प्राकृतों तथा आधुनिक भाषाओं की अधिक पड़ताल करने पर इस मत की पुष्टि नहीं होती।

माहाराष्ट्री तथा जैन माहाराष्ट्री में ऐसे विशेष चिह्न पाए जाते हैं जिन के अवशेष अब तक मराठी में विद्यमान हैं। और इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता कि माहाराष्ट्री प्राकृत का विकास महाराष्ट्र देश की प्राचीन बोली से हुआ।

ग्रियर्सन् महाशय के पास बहुत से साधन होने से उस ने प्राकृतों को आधुनिक भाषाओं से मिला कर प्राकृतों की स्थानीय बांट की है जो इस भांति है—

केन्द्रीय प्राकृत··· ····शौरसेनी
बाह्य··················[पूर्व] मागधी
[दक्षिण] माहाराष्ट्री
अन्तरीय··················अर्धमागधी।

प्राकृतों की यह बांट उचित है क्योंकि शौरसेनी संस्कृत से बहुत मिलती जुलती है और मध्यदेश की भाषा को प्रकट करती है जो वैदिक काल के पश्चात् हिन्दू सभ्यता का केन्द्र था। इस केन्द्र से जो जो स्थान दूरवर्ती थे वहां की भाषा स्वाभाविकतया संस्कृत से अधिक भेद रखती थी। आर्य भाषा बोलने वाली जातियों का भारत वर्ष में प्रवेश किस प्रकार हुआ, इस विषय में जो मन्तव्य है उस के साथ इस बांट का बड़ा सम्बन्ध है। विद्वानों का ख्याल है कि जिन भाषाओं के आधार पर पाणिनीय संस्कृत का जन्म हुआ और फिर जिन से शौरसेनी प्राकृत निकली उन भाषाओं के बोलने वाले आर्यों ने अपने से पूर्व आए हुए आर्यों से कुछ काल पीछे मध्यदेश में बलात्कार प्रवेश किया। जो आर्य पहिले आए थे उन की सन्तान की भाषाओं से बाह्य भाषाएं निकली हैं।

यद्यपि भाषा-सम्बन्धी कतिपय विषयों का समाधान करने वाले इस सिद्धान्त विशेष के पक्ष तथा विरोध में बहुत कुछ कहा जा सकता है, तथापि हम इस सिद्धान्त को न मानते हुए भी प्राकृतों की इस बांट को मान सकते हैं।

इस बांट में एक त्रुटि दिखाई पड़ती है और वह है अर्धमागधी का स्थान। यदि अर्धमागधी अवध प्रान्त में बोली जाती थी तो स्थूलतया यह प्राकृत आधी मागधी और आधी शौरसेनी होनी चाहिये थी। अब जो हम मागधी को देखते हैं तो यह अपने उच्चारण की विचित्रता के अतिरिक्त शौरसेनी से बहुत ही थोड़ा भेद रखती है। अगर हम शौरसेनी में १मा एक० एकारान्त, किसीर शब्द में 'र' के स्थान में 'ल', 'स' के स्थान में 'श' और मागधी की कुछ उच्चारण विशेषताएं ले आवें तो एक ऐसी प्राकृत बन जायेगी जो उपर्युक्त बांट में तो ठीक बैठेगी परन्तु जैन सूत्रों की असली अर्धमागधी से बहुत भिन्न होगी। इस में शक नहीं कि पूर्वी हिन्दी तो पश्चिमी हिन्दी और बिहारी भाषा के मध्यवर्ती है और इस में दोनों भाषाओं की कुछ कुछ विशेषताएं पाई जाती हैं; परन्तु अर्ध-मागधी प्राकृत में यह बात दिखाई नहीं देती अर्थात् न तो इस का वह स्थान है और न यह पूर्वी हिन्दी की मूल प्रकृति प्रतीत होती है।

मगर यह भी याद रखना चाहिये कि उपर्युक्त बांट प्रधानतया लोक भाषाओं की है जिन के आधार पर शिष्ट भाषाएं बनीं। शिष्ट प्राकृतें सभी एक समय पर नहीं बनीं इस लिये वे तत्कालीन लोक भाषाओं का स्वरूप प्रकट नहीं करतीं। शौरसेनी की अपेक्षा अर्ध-मागधी स्पष्टतया पुरानी है। यह मत भी प्रकट किया गया है कि महाराज अशोक की पूर्वी धर्म लिपियों की भाषा को अर्धमागधी का पुराना रूप समझना चाहिये। प्रो० लूडर्स इसे पुरानी अर्ध-मागधी ही कहता है। ख्याल किया जाता है कि यह मौर्य दरबार में प्रचलित भाषा थी। यह भी मन्तव्य है कि जिस भाषा में भग-

वान् बुद्ध का उपदेश पहिले पहिल लेखबद्ध हुआ वह इस से बहुत ही मिलती थी। पाली और संस्कृत त्रिपिटक पीछे से बने।

वह भाषा जो समग्र गङ्गा दोआब में दूर दूर तक बोली जाती थी न तो वह शुद्ध मागधी ही हो सकती है और न शुद्ध शौरसेनी ही। यह भी ज़रूरी नहीं कि इस का स्वरूप सर्वथा काशी की भाषा जैसा हो। दोनों सीमाओं के अन्तर्गत मध्यप्रदेश की भाषा के आधार पर यह बनी होगी। पीछे से जब जैन धर्म का केन्द्र पश्चिम की ओर चला तब इस भाषा ने भी माहाराष्ट्री का कुछ रंग पकड़ लिया होगा जैसा कि जैन सूत्रों की अर्धमागधी में हम देखते हैं। इसी समय कुछ ऐसी घटनाएं हुईं जिन से बौद्ध त्रिपिटक का पाली भाषा में अनुवाद किया गया।

पैशाची प्राकृत।

जिन भाषाओं का अब तक वर्णन हुआ पैशाची उन से बाहिर रहती है। पैशाची शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है— (१) भूत-भाषा अर्थात् भूतों की भाषा के लिये, (२) कई एक असभ्य भाषाओं के लिये जिन में कुछ अपभ्रंश हैं (३) वैयाकरणों की (ख़ास कर हेमचन्द्र की) पैशाची भाषा के लिये जिस की उपभाषा चूलिका पैशाची (चू० पै०) है। इस पैशाची का स्वरूप कुछ प्राचीन प्रतीत होता है। इस की मुख्य विशेषता है घोष स्पर्शों के स्थान में अघोष स्पर्शों का होना—तामोतर=दामोदर, चू० पै० नकर=नगर, राचा=राजा, खम्म=धर्म, कन्तप्प=कन्दर्प।

'ण' का 'न' और 'ल' का 'ळ' हो जाता है। 'य' वैसा ही रहता है। स्वरमध्यवर्ती व्यञ्जनों का लोप नहीं होता। महाप्राण स्पर्शों को ह- आदेश नहीं होता। ज्ञ, न्य का ञ्ञ हो जाता है जैसा मागधी में और शायद प्रत्येक प्राकृत के प्रारम्भ काल में।

इस प्राकृत को बोलते कौन थे? शाहाबाजगढ़ी की अशोक धर्म-लिपि में इस प्राकृत की कुछ विशेषताएं पाई जाती हैं। दन्तकथा के अनुसार गुणाढ्य ने अपनी बृहत्कथा पैशाची प्राकृत में रची। यह कथा १२ वीं वि० शताब्दी में काश्मीर में प्रचलित थी। सोमदेव ने अपने कथासरित्सागर में इस की कथा दी है और क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामञ्जरी इस का संक्षेप बनाया है। इन कारणों से कई एक विद्वानों का मत है कि चूलिका पैशाची पश्चिमोत्तर भारत की भाषा थी। सर् जॉर्ज ग्रियर्सन् का मानना है कि हिन्दूकुश की दारद और काफिर भाषाएं तथा शिणा और काश्मीरी की पूर्व प्रकृति पैशाची से सम्बन्ध रखती हैं।[1]

इस के विरुद्ध दूसरा मन्तव्य यह है कि गुणाढ्य दक्षिण का रहने वाला था। बृहत्कथा की रचना काश्मीर के उस साहित्यिक पुनरुत्थान से कई सौ बरस पहिले हो चुकी थी जो क्षेमेन्द्र, बिल्हण, सोमदेव, कल्हण आदि ने किया। ण का न होना और ल का ळ होना द्रविड प्रभाव की सूचना देते हैं।

दूसरी विशेषताएं—जैसे स्वरमध्यवर्ती त और य का बने रहना केवल प्राचीन प्रयोग हैं। घोष वर्ण के स्थान में अघोष वर्ण का होना उत्तर और दक्षिण दोनों प्रान्तों में मिलता है। यह विकार उस समय बहुत देखने में आता है जब किसी भाषा को अन्य जाति ग्रहण करती है। पाठक को "मैरी वाइव्ज़् ऑफ विंडज़र्" नामी नाटक के वेल्ज़ के रहने वाले सर् ह्यू एवनुज़् का स्मरण होगा। गाइलिक भाषा बोलने वालों में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। आर्य भाषा की सीमा पर यदि कोई ऐसी म्लेच्छ भाषा होती भी, तो आर्य भाषा के विस्तार के साथ उस का लोप हो गया होता। इन विचारों के आधार पर इन चूडा-धारी

1. सर् जॉर्ज का यह मत सर्व-मान्य नहीं।

भूतों का विन्ध्यवासी होना उतना ही संभव है जितना कि वे काश्मीरी पिशाच थे[1]।

पुरानी प्राकृतें।

सब से प्राचीन प्राकृत जो लेखबद्ध मिलती है वह महाराज अशोक की धर्मलिपियें हैं। पश्चिमोत्तर प्रान्त (शाहाबाज गढ़ी और मानसेहरा) की धर्म लिपियें खरोष्ठी लिपि में तथा इतर सब प्राचीन ब्राह्मी लिपि में खुदी हुई हैं, चाहे शैल पर हों या स्तम्भों पर। इन सब की भाषा एक समान नहीं है। पूर्वी और पश्चिमी धर्मलिपियों की भाषा में अतिस्पष्ट भेद है।

सूक्ष्म भेदों के साथ पूर्वी भाषा गङ्गा-जमना दोआब के स्तम्भों पर तथा कालसी और उड़ीसा के शैलों पर खुदे हुए लेखों में पाई जाती है। इस भाषा में 'र' के स्थान में 'ल' तथा अकारान्त पुं० और नपुं० संज्ञाओं के १मा एक० के रूप एकारान्त होते हैं जैसे मागधी में। इस के विरुद्ध इस में दन्त्य 'स' मिलता है न कि तालव्य 'श' (परन्तु कालसी के लेख में मूर्धन्य 'ष' भी मिलता है)। कई विद्वान् इसे मागधी के नाम से पुकारते हैं परन्तु प्रो० लूडर्स का कहना है कि यह असली अर्धमागधी है।

इस का नाम चाहे कोई भी उचित हो परन्तु यह वह भाषा है जिसे अशोक और उस के दरबारी बोलते थे। इस दरबारी भाषा का प्रभाव उत्तर तथा पश्चिम के लेखों पर भी पड़ा दिखाई देता है क्योंकि उन की भाषा शुद्ध स्थानीय भाषा प्रतीत नहीं होती। इस प्रभाव के कारण जो रूप व्यवहृत हुए हैं उन्हें मागध प्रयोग कहते हैं।

पश्चिमी भाषा गिरनार के शैल लेख में पाई जाती है। इस में पुं० १मा एक० के रूप ओकारान्त हैं और नपुं० रूपों के अन्त में 'अं'

---

१. यदि चूलिका का अर्थ चूडा हो।

होता है । इस में 'र' और 'स' पाए जाते हैं । (मागध प्रयोग हैं— प्रियो और जनो के स्थान में प्रिये और जने; मूलं के-स्थान में मूले आदि) । इस की कई एक विशेषताएं पाली की याद दिलाती हैं परन्तु यह पूर्णतया पाली के समान नहीं है ।

यह भी कह सकते हैं कि यह पश्चिमी भाषा उज्जैन की तत्कालीन भाषा का प्रायः पूरा नमूना है क्योंकि उज्जैन मौर्य राज के एक प्रधान प्रदेश की राजधानी थी ।

जो लेख दक्षिण में पाए जाते हैं वे पूर्वी भाषा की अपेक्षा पश्चिमी भाषा के अधिक समान हैं यद्यपि उन में अपनी विशेषताएं भी पाई जाती हैं ।

पश्चिमोत्तरी लेखों की भाषा पूर्वी और पश्चिमी लेखों से भिन्न है । शाहाबाज़गढ़ी की अपेक्षा मानसेहरा लेख में मागध प्रयोग अधिक हैं । दोनों में र, स और श पाए जाते हैं । शाहाबा० में १मा एक० के रूप ओकारान्त और नपुं० रूप अनुस्वारान्त हैं, परन्तु मानसेहरा में (अर्ध-)मागधी के एकारान्त रूप अधिक मिलते हैं । दोनों में 'र' वाले कई संयुक्त अक्षर मिलते हैं, जिन में प्रायः वर्ण व्यत्यय हो जाता है । पियदसि के स्थान में प्रियद्रसि; भुतप्रुव= गिरनार भूतपुर्वं=धौली हूतपुलवा; शाहाबा० त्रयो=गिर० त्री; शाहाबा० म्रुगो=मान० म्रिगे=गिर० मगो=पूर्वी मिगे । अन्तिम उदाहरण पूर्वी और पश्चिमी भाषाओं के एक और भेद को प्रकट करता है । (देखिये § ६०) ।

शाहाबा० में 'क्ष' बना रहता है जैसे क्षमितविय में, परन्तु गिर० छमितवे, पूर्वी खमितवे (देखिये § ४०) ।

प्रिय आदि में संयुक्त अक्षर प्र आदि जो दोनों पश्चिमी और उत्तरपश्चिमी लेखों में पाए जाते हैं पहिले उन को संस्कृत प्रयोगों के अवशेष मानते थे; परन्तु अब यह मन्तव्य है कि ये तत्कालीन

स्थानीय उच्चारण को प्रकट करते हैं क्योंकि उत्तर पश्चिम की आधुनिक भाषाओं में ऐसे संयुक्त अक्षर अब तक विद्यमान हैं। जैसे— लहंदी त्रै, सिंधी ट्रे, गुजराती त्रण "तीन।"

जब उत्तरपश्चिमी रूपों को औरों से मिलाया जाय तो यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि खरोष्ठी लिपि में स्वरों की दीर्घता प्रकट नहीं की जाती।

यह बात भी याद रखने योग्य है कि अशोक के न तो खरोष्ठी लेखों में और न ही ब्राह्मी लेखों में व्यञ्जनों का द्विर्भाव प्रकट किया गया है। जैसे—चक्कवाके के स्थान में चकवाके, चक्खुदाने के स्थान में चखुदाने मिलता है।

वैरात के और भावरा के लेखों में जो अब कलकत्ता के अजायब घर में सुरक्षित हैं, अशोक अपने कुछ प्रिय शास्त्रों का उल्लेख करता है। इस लेख की भाषा पर बहुत विमर्श हुआ है। लाघुल शब्द जिस का पाली रूप राहुल मिलता है। तथा अधिगिच्य (=अधिकृत्य) शब्दों की समानता वाले रूप और किसी लेख में नहीं पाए जाते। ऐसा प्रतीत होता है कि ये बौद्ध ग्रन्थों की पाली से भी पहिली भाषा के रूप हैं (देखिये पृ० ९१)। इस लेख में प्रो० हूलट्श् ने प्रियदसि, सर्वे, प्रासादे और अभिप्रेतं ऐसे रूप पढ़े हैं परन्तु जिस भाषा में स्वरान्त 'र' को 'ल' हो जाता है उस में ऐसे रूप होना आश्चर्य की बात है। यह भी बतला देना चाहिये कि इन रकारों की सत्ता एक छोटी सी रेखा पर निर्भर है जो किसी हालत में भी स्पष्ट नहीं है और शायद पत्थर के केवल ऊंचा नीचा होने के कारण दिखाई देती है।

यह देखा जायगा कि अशोक के लेखों की भाषा की बांट पीछे की प्राकृतों की बांट से भिन्न है। यह भेद आश्चर्यजनक नहीं। अगर शिक्षा और साहित्य के कई केन्द्र अर्थात् विश्वविद्यालय

शिक्षा और साहित्य को लगातार क़ायम न रक्खें तो साधारण लिखने पढ़ने के काम में आने वाली भाषाओं की स्थानीय बांट कुछ काल के पीछे भिन्न हो जाती है। नाटकीय प्राकृतों में पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा को प्रकट करने वाली कोई भाषा नहीं मिलती। ऊपर देखा गया है कि कई विद्वान् पैशाची प्राकृत को इन प्रान्तों की भाषा मानते हैं। इस बात के कुछ प्रमाण मिले हैं कि उत्तर देश के बौद्ध लोग एक और प्राकृत का प्रयोग करते थे। खोतान नगर के निकट खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए "धम्मपद" के कुछ टुकड़े मिले हैं जो "दुत्रुइल द राँ" पुस्तक (Dutreuil de Rhins manuscript) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस की भाषा में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो आज कल की पश्चिमोत्तरी भाषाओं में पाई जाती हैं। (ज़ूर्नल एसियातीक सन् १८९८ पृ० १९३; १९१२ पृ० ३३१)।

पाली।

पाली शब्द का मूल अर्थ है "सीमा, या रेखा" और यह शब्द बौद्ध धर्म की हीनयान संप्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थों (त्रिपिटक) के लिये व्यवहृत होता था। तत्पश्चात् यह त्रिपिटक की भाषा के लिये व्यवहृत होने लगा जो त्रिपिटक के अतिरिक्त और ग्रन्थों में भी पाई जाती है। ये सब कुछ लंका, ब्रह्मा और स्याम देश के धर्म प्रचारक संघों में सुरक्षित रहे। फिर पाली शब्द कभी कभी इन अर्थों में प्रयुक्त होता रहा—(१) अशोक महाराज के लेखों की भाषा के लिये, यद्यपि इस भाषा के तीन या चार स्पष्ट रूप हैं, (२) अशोक राज्य की दरबारी भाषा के लिये जो एक प्रकार की दूर दूर समझी जाने वाली मध्ययुगीन भाषा थी, और (३) लेखों और शासनों की प्राकृत के लिये जो उस समय तक पाई जाती है जब तक कि संस्कृत ने पाली या प्राकृत का स्थान नहीं ले लिया। बौद्ध ग्रन्थों की पाली भाषा विश्वविद्यालय की पढ़ाई का एक पृथक् और

स्वतन्त्र विषय है जो ब्रह्मदेश वासी बौद्ध लोगों के लिये संस्कृत का स्थान रखती है परन्तु भारतवर्ष में इस का पठन पाठन बहुत थोड़ा होता है । तथापि (१) भारतीय भाषा इतिहास और (२) प्राचीन प्राकृत लेखों के अध्ययन के लिये यह अत्यावश्यक है।

पाली सीखने के लिये अनेक व्याकरण, पाठसंग्रह, मूलग्रन्थ तथा अनुवाद विद्यमान हैं इस लिये यहां इस का संक्षेप वर्णन ही किया जायगा ।

पाली की विशेषताएं ।

अर्धमागधी की अपेक्षा पाली में प्राचीन व्याकरण के अवशेष अधिक मिलते हैं। आत्मनेपद के रूप बहुत हैं। लुङ् के रूप (विशेष कर स् वाले) प्रचुरता से मिलते हैं। (लुङ् और लङ् रूपों का भेद जाता रहा है) । अभ्यस्त लिट् के रूप विरले हैं पर मिलते ज़रूर हैं। प्राचीन गणों के भी कुछ अवशेष पाए जाते हैं। जैसे—सुणोति= शौ० सुणादि; करोति (आत्म० कब्बते)=शौ० करेदि; ददाति (देति भी)=शौ० देदि ।

उच्चारण की मुख्य विशेषताएं—इस में केवल दन्त्य स् होता है; य रहता है; र् कभी ल् बन जाता है (लेकिन मागधी की तरह सदा नहीं)। कभी न् को भी ण् हो जाता है। स्वरमध्यवर्ती व्यंजन बने रहते हैं और अघोष के स्थान में कभी ही घोष वर्ण आता है । जैसे— भवति या होति, कथेति, पुच्छति, गच्छति आदि, मतो=मृतः; कतो=कृतः ।

किसी किसी शब्द में द्र-, व्र- आदि संयुक्त अक्षर बने रहते हैं। स्वरभक्ति का प्रयोग प्रचुर है। आर्य शब्द का अय्य या अरिय बन जाता है।

अशोक-लेखों की भाषा के अतिरिक्त और जिन प्राकृतों का ऊपर वर्णन हुआ है उन सब से पाली अधिक पुरानी है।

पाली की जन्मभूमि के विषय में मतभेद है। आम्नाय के अनुसार बुद्धभगवान् ने मागधी में अपना उपदेश दिया। दक्षिणी बौद्धों का यह विचार उचित ही था कि त्रिपिटक बुद्ध की अपनी भाषा में हैं। इस हेतु से पाली मागधी (मगध देश की भाषा) होनी चाहिये। परन्तु वास्तव में यह बात ऐसे नहीं है—१मा एक० के ओकारान्त रूप तथा स्, र्, ज् का होना इस बात को स्पष्ट सिद्ध करते हैं। कई विद्वानों का मत है कि पाली उज्जैन की भाषा थी जहां से अशोक का भाई महेन्द्र त्रिपिटक को लंका द्वीप में ले गया। दूसरे विद्वान् इसे कलिङ्ग देश की आर्य भाषा ख़्याल करते हैं।

घोष के स्थान में अघोष वर्ण का होना आदि कुछ बातों में पाली पैशाची से मिलती है। इस समानता के आधार पर कई विद्वान् इसे विन्ध्याचल के निकट देश की भाषा मानते हैं। इसी समानता के कारण कोई इसे तक्षशिला की भाषा कहते हैं। मागधी आम्नाय के आश्रय पर गाइगर् महाशय का ख़्याल है कि पाली अर्धमागधी के किसी रूप से निकली है परन्तु यह किसी प्रदेश की शुद्ध भाषा नहीं है।

लेकिन अगर पाली त्रिपिटक सिद्धान्त का सब से प्राचीन सूत्रबद्ध रूप नहीं है तो आम्नाय वाली युक्ति बाधित हो जाती है। इस में संदेह नहीं कि बुद्ध भगवान् का उपदेश और उस की सूत्ररचना किसी पूर्वी भाषा में हुए। पीछे से उस का अनुवाद और भाषाओं में हुआ और इन ही में से एक अनुवाद पाली त्रिपिटक बन गया। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी का कहना है कि वर्णविकार और रूपरचना के आधार पर यह पाली मध्यदेश की कोई पश्चिमी भाषा अर्थात् शौरसेनी का प्राचीन रूप होनी चाहिये जिस में कि बहुत से पुराने रूप मिलते हैं। जब मौर्य राज्य का पतन हुआ तो पूर्वी दरबारी भाषा (अर्धमागधी) का प्रचार भी बंद हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि इस के बाद पाली से मिलती जुलती किसी

पश्चिमी भाषा का प्रचार हुआ जो कि खारवेल के लेखों में पाई जाती है ।

यथार्थ तत्व कुछ ही हो परन्तु यह स्पष्ट है कि पाली में कई भाषाओं के अंश मिले हुए हैं और कि यह समय पा कर बदलती रही है । इस का सब से प्राचीन रूप गाथाओं में मिलता है । इस के पीछे त्रिपिटक का गद्य भाग, फिर त्रिपिटकबाह्य ग्रन्थ और अन्त में और भी पीछे के ग्रन्थ । संस्कृत ने भी पाली विकास पर कुछ प्रभाव डाला है ।

अशोक से पीछे के प्राकृत लेखों में से बहुत से लेख तो इतने छोटे हैं कि उन की भाषा का स्वरूप निर्धारण नहीं किया जा सकता । खारवेल का लेख जो हाथीगुंफा के द्वार पर खुदा हुआ है और जिस की मिति वि० पू० दूसरी शताब्दी है अशोक के पूर्वी लेखों की अपेक्षा पश्चिमी या दक्षिणी लेखों से अधिक मिलता है । कई बातों में यह पाली से मिलता है और कई बातों में उस से भिन्न है ।

रामगढ़ पहाड़ी पर जोगीमार गुफा का लेख मागधी के किसी प्राचीन रूप में प्रतीत होता है ।

अश्वघोष ।

मध्य एशिया में ताड़पत्र पर लिखे हुए ग्रन्थों के कुछ टुकड़े मिले हैं जिन को प्रो० लूडर्स ने जोड़ा है । उन में दो बौद्ध नाटकों के खण्ड पाए जाते हैं । उन में से एक तो केवल संस्कृत में है (कम से कम जो खण्ड मिला है वह केवल संस्कृत में है) । दूसरे नाटक में जो कनिष्क राजा के सहकालीन प्रसिद्ध बौद्ध लेखक अश्वघोष की रचना मानी जाती है उस में कई प्राकृतें पाई जाती हैं । धूर्त तो एक प्रकार की मागधी बोलता है—स्>श्; र्>ल्; १मा एक० एकारान्त । कई बातों में यह भाषा व्याकरण और नाट-

कीय मागधी से अधिक प्राचीन है—हगे के स्थान में अहकं, कीश के स्थान में किश्श । लूडर्स इसे पुरानी मागधी कहता है । एक और पात्र की भाषा जो अशोक के स्तम्भ लेखों से मिलती है एक प्रकार की पुरानी अर्धमागधी मानी गई है । वेश्या और विदूषक की भाषा पुरानी शौरसेनी प्रतीत होती है । इस में स्वरमध्यवर्ती व्यञ्जन बने रहते हैं, न का ण नहीं होता और य का ज नहीं बनता ।

भास ।

इन के अतिरिक्त प्राकृत की एक और दशा है जो त्रिवन्द्रुम से प्रकाशित हुए नाटकों में पाई जाती है । ये नाटक कवि भास की कृति माने जाते हैं । कई विद्वानों का मत है कि इन की प्राकृत अश्वघोष तथा कालिदास, भवभूति आदि के मध्यवर्ती प्राकृत की अवस्था को प्रकट करती है । निःसंदेह पहिले पहिल यह प्राकृत अश्वघोष की प्राकृत से पीछे की और कालिदास आदि की प्राकृत से कुछ प्राचीन प्रतीत होती है । यदि भास का समय विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी माना जाय और ये नाटक भास की रचना माने जायं तो कई बातों का भली प्रकार समाधान हो जाता है ।

मगर खेद है कि हम निश्चय पूर्वक इन नाटकों को भास की रचना नहीं कह सकते । इन की जो प्रतियां अब तक मिली हैं वे सब दक्षिण में लिखी गईं । सातवीं शताब्दी बलकि उस के पीछे भी जो नाटक रचे गए उन की दक्षिण में लिखी हुई प्रतियों में प्राकृत की ऐसी विशेषताएं पाई जाती हैं । उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में प्राकृत का परंपरागत वर्णविन्यास स्पष्टतया अधिक प्राचीन है । चूंकि दक्षिण में साधारण लोक-भाषा द्राविड़ी है इस लिये उत्तर की अपेक्षा वहां प्राकृत का उच्चारण कम परिवर्तन शील होगा ।

दक्षिणी प्रतियों में पाए जाने वाले प्राचीन रूप प्राकृत के इतिहास के लिये बड़े काम के हैं। परन्तु अब तक कोई ऐसा समर्थ प्रमाण नहीं मिला जिस से इन नाटकों को भास की कृति या इन का रचना काल विक्रम की दूसरी शताब्दी माना जा सके।

इस में संदेह नहीं कि ये कालिदास की हमारी प्रतियों और प्राकृत वैयाकरणों से अधिक प्राचीन है।

त्रिवन्द्रुम नाटकों में शौरसेनी और मागधी प्राकृतें पाई जाती हैं। कर्णभार नाटक में इन्द्र और दो सुभट एक ऐसी प्राकृत बोलते हैं जो अर्धमागधी से मिलती है।

इस शौरसेनी की मुख्य विशेषताएं ये हैं—ल्>ळ्, ञ्>ञ्ञ् या ण्ण्; न्य्>ण्ण्।

	त्रिवन्द्रुम	साधारण प्राकृत
	उद्य्>उय्य् (जैसे पाली में)	उज्ज्
	र्य्>य्य ,, ,, (अश्वघोष)	ज्ज्
२या बहु० पु०	-आणि (देखिये पुरानी अमा०)	-ए
१मा, २या बहु० नपुं०	-आणि (पाली -आनि)	-आइं
७मी एक० स्त्री०	-आअं [पाली आय (-यं)]	-आए
	तव (अश्वघोष)	तुह
	किस्स [पाली, किस्स अश्वघोष माग० किश्श	कीस
	गण्हदि (पाली गन्हाति)	गेण्हदि
कृदन्त, वर्तमान कर्मवाच्य	-इअमाण (पाली इयमान केवल एक बार)	-इअन्त
	कत्तुं, कत्तव, कभी कादुं	कादव्व
पूर्वकालिक क्रिया	करिअ	कदुअ
	गच्छिअ	गदुअ

अर्वाचीन प्राकृत—अपभ्रंश (देखो अध्याय २ पृ०)

भाषा विज्ञान के अभ्यासी के लिये अपभ्रंश अवस्था की मुख्य विशेषताओं का जानना लाभदायक होगा। वर्ण तथा रचना का परिवर्तन पुरानी प्राकृत में इतना नहीं हुआ जितना नाटकीय प्राकृतों में, परन्तु इस पीछे की प्राकृत में यह विकार बहुत अधिक हो गया है। जब कभी अपभ्रंश ग्रन्थ में प्राचीन रूप मिलें तो समझना चाहिये कि कर्ता ने इन को प्राकृत से लिया है या कभी कभी भाषा परिवर्तन का जो साधारण प्रवाह है उस के विरुद्ध किसी बोली में प्राचीन रूप प्रचलित रह जाते हैं। आर्य भारती की कई बाह्य भाषाओं में कई एक ऐसे प्राचीन रूप अब तक भी पाए जाते हैं।

हेमचन्द्र कृत व्याकरण के आधार पर नीचे के कोठे में संज्ञा और क्रिया रचना के वे रूप दिये हैं जो केवल अपभ्रंश में पाए जाते हैं और प्राकृत में नहीं मिलते।

संज्ञा की रूप रचना।

	एकवचन	बहुवचन
१मा	पुत्तु	पुत्त
२या	पुत्तु	पुत्त
३या	पुत्तें	पुत्तहि (-हिं)
५मी	पुत्तहें, पुत्तहु	पुत्तहु
६ष्ठी	पुत्तस्स पुत्तहु पुत्तह	पुत्तहं
७मी	पुत्ति, पुत्तहिँ	पुत्तहिँ
नपुंसक-फल		
१मा, २या	फलु	फलइँ

यदि द्वितीयादि विभक्तियों को एक दूसरे के साथ मिलाया जाय तो मालूम होगा कि अन्तिम स्वर का अस्पष्ट उच्चारण करने से

एकवचन में सब का एक रूप हो जाता है। इसी प्रकार बहुवचन में अनुनासिक वाला एक रूप हो जाता है (देखो बीम्स पु० २ § ४२)। अपभ्रंश १मा एक० का 'उ' सिन्धी भाषा में पाया जाता है जहां रूपों के अन्त में बहुत ह्रस्व 'उ' रहता है[1]।

६ष्ठी एक० का स् वाला रूप भी अपभ्रंश में मिलता है। परन्तु हिन्दी में यह सर्वनाम की रूपरचना में पाया जाता है—तिस का, किस का। यूरोप के चंगडों (जिप्सी Gypsies) की रोमनी भाषा में यह रूप मिलता है—चोरेस् केरो "चोर का।" कश्मीरी भाषा में भी मिलता है—ज़ुरस् निश् "चोर के निकट", गुरस् निश् घोड़े के निकट। ये रूप ४र्थी का अर्थ देते हैं।

मराठी में भी ४र्थी के रूप स् वाले होते हैं।

क्रिया की रूपरचना।

	एकवचन	बहुवचन
प्र० पु०	पुच्छइ	पुच्छहिँ
म० पु०	पुच्छसि, -हि	पुच्छहु
उ० पु०	पुच्छउँ	पुच्छहुँ

यह रूपावली पुरानी हिन्दी से तो बहुत ही मिलती है और आधुनिक हिन्दी के रूपों पुच्छे, पुच्छूँ, पुच्छो, पुच्छें आदि से भी कुछ अधिक भेद नहीं रखती।

अपभ्रंश के वर्ण-विकारों में मुख्य और विशेष उल्लेखनीय ये हैं-

'उ' के पूर्व 'व्' का लोप—*आहवु के स्थान में आहउ=आहवः; सहावु के स्थान में सहाउ=स्वभावः।

---

१. राजस्थानी और ब्रज के १मा एक० रूपों का -ओ, और पञ्जाबी और हिंदुस्तानी का -आ -अक वाले रूपों से आए हैं। -क् का लोप हो गया और -अको >अओ>अप० -अउ>-ओ या -आ।

उ और अ के पूर्व म् का लोप—जउणा=यमुना; भमुहा के लिये भउहा=भ्रू; दुग्गउ, दुग्गमु=दुर्गमः ।

अन्तिम इ, उ का अनुनासिकत्व । प्र० पु० एक० सुणइँ, भणइँ; म० पु० एक० रमहिँ; उ० पु० १ एक० भणिउँ भमिउँ ।

स्वरमध्यवर्ती म् का वँ या व् हो जाता है जो ँव ँव कर के भी लिखा जाता है । कुँवर=कुमर, कुमार; भँवण=भ्रमण, सवण=श्रमण, पवाण=प्रमाण ।

दीर्घ स्वरों का ह्रस्व होना—वणिज्ज=वाणिज्य; करण=कारण; निय=नीत, पिय=पीत ।

सजातीय स्वरों का एकादेश—अन्धार=अन्धकार; भण्डार=भाण्डागार, उण्हाल=उष्णकाल, पियार=*पिययर=प्रियतर ।

द्विर्भूत व्यञ्जन का ह्रस्व होना, और तत्पूर्व ह्रस्व स्वर का दीर्घ होना—सहास=सहस्स=सहस्र; भवीस=भविस्स=भविष्य ।

प्रातिपदिकों के परे -अ, -(अ) ड, -उल्ल प्रत्यय जोड़े जाते हैं। यद्यपि ये प्रत्यय प्राचीन प्राकृत में भी पाए जाते हैं परन्तु वहां इतने बहुत नहीं। प्राकृत में '-आल', '-आलु', '-इल्ल', '-उल्ल' प्रत्यय मतुप्, वतुप् के अर्थ में अथवा "तत्संबन्धी' अर्थ में आते हैं।

उदाहरण—

-आल—महा० सिहाल=शिखावत्, अमा० सद्दाल=शब्दवत्; धणाल=धनवत् । -आल+क—अमा० महालय=महत् ।

-आलु—णिद्दालु=निद्रालु (यह प्रत्यय संस्कृत में भी पाया जाता है)।

-इल्ल—(महा० जैम० अमा० में बहुत मिलता है)

महा० केसरिल्ल, कन्दलिल्ल, तूलिल्ल, सोउरिल्ल। अमा० नियडिल्ल= निकृतिमत्; माइल्ल=मायाविन्; भाइल्लग=भागिन्; गोइल्ल=गोमत्; कण्इल्ल, "शुक, तोता" देशी शब्द 'कण' से: बाहिरिल्ल "बाह्य"; महा०, अमा० गामिल्ल "गंवार"; अमा० जैम० पुव्विल्ल "पूहिला।"

-'उल्ल'—(प्राकृत में विरला)-दप्पुल्ल=दर्पिन्।

और विशेषण प्रत्यय ये हैं—'-अल्ल' (-अल) और -इर। महा० अमा० महल्ल=महत्; नवल्ल=नव; भमिर "भ्रमण करता हुआ"; लम्बिर "लटकता हुआ"; हसिर "हंसता हुआ।"

स्वार्थ में -क और -ड (संस्कृत -ट) प्रत्यय—देसड=देश, दोसड= दोष; रण्णडअ=अरण्य (क)।

अन्त के दोनों प्रत्यय अपभ्रंश में बहुत मिलते हैं।

साधारण तौर पर कहा जा सकता है कि वर्तमान आर्य भाषाओं की व्युत्पत्ति तथा उन के उच्चारण पर ऐतिहासिक विचार करते समय अपभ्रंश रूपों से जहां तक वे मिल सकें प्रारम्भ करना चाहिये[1]। इस प्रकार हिन्दी शब्द पहिला की व्युत्पत्ति करते समय हमें अपभ्रंश पहिलउ से प्रारम्भ करना चाहिये न कि सं० प्रथमः या प्रा० पढमो से[2]।

प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार साहित्य में प्रयुक्त होने वाली अपभ्रंश तीन प्रकार की थी—व्राचड, नागर, उपनागर।

---

१. ग्रियर्सन् का लेख Phonology of the Indo-Aryan Vernaculars.

२. ग्रियर्सन् अप० पढविल्लउ रूप मानता है (अमा० पढमिल्ल से)। पिशल् सं० प्रथिल से चलता है (§ ४४९)।

जेकोबी ने सिद्ध किया है कि व्राचट या व्राचड सब से पुरानी है। सतरहवीं शताब्दी के वैयाकरणों का कहना है कि यह सिन्ध देश की भाषा थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वही है जिसे "आभीरी भाषा" (अहीरों की भाषा) कहते हैं। जेकोबी व्राचट शब्द को व्रज शब्द से निकालता है और इस की पुष्टि में व्रज भाषा का उदाहरण देता है जो हिन्दी की एक साहित्यिक बोली का नाम है[1]। इस अपभ्रंश की मुख्य विशेषता थी—संयुक्त अक्षर में 'र' का रहना अथवा व्यञ्जन के परे 'र' का आगम और ऋ का रहना।

व्राचड और उपनागर या ग्राम्य अपभ्रंश की अपेक्षा नागर अपभ्रंश अधिक संमार्जित और शिष्ट प्रतीत होती है। यह वही अपभ्रंश है जिसे हेमचन्द्र ने वर्णन किया है और जिस के उदाहरण दिये हैं। जेकोबी ने इस के दो और रूप वर्णन किये हैं जो हेमचन्द्र से कुछ ही भिन्न हैं। उन में से एक में वि० सं० १२१६ में गुजरात की राजधानी अणहिल्लवाड में हरिभद्र ने "नेमिनाहचरिउ" की रचना की। इस भाषा को "गुर्जर अपभ्रंश" कह सकते हैं। श्वेताम्बर जैनों ने इस का बहुत प्रयोग किया है। दूसरे प्रकार की नागर अपभ्रंश को जेकोबी उत्तरी नागर अपभ्रंश कहता है। इस में धनपाल ने "भविसत्त-कह" की रचना की। इस की शैली सरल है और इस में प्राकृत के शब्द थोड़े हैं। अलंकार भी सरल और थोड़े हैं। दिगम्बर जैनों ने इस का बहुत आदर किया। इन में मुख्य भेद संज्ञा की रूप-रचना के स्वर-प्रत्ययों का है।

प्राचीन वैयाकरण तथा कवियों ने अपभ्रंश शब्द को नागर जैसी साहित्यिक भाषाओं के लिये प्रयुक्त किया प्रतीत होता है जो किसी स्थान विशेष में जन्म ले कर दूर दूर फैल जाती थीं। इस अर्थ में अपभ्रंश का सम्बन्ध पश्चिमी भारत से है जिस के अन्दर

---

१. "भविसत्त-कह" की प्रस्तावना।

अब गुजराती, सिन्धी और राजस्थानी भाषाएं बोली जाती हैं[1]। इस शब्द का व्यवहार और स्थलों में भी हुआ होगा। कुछ काल पीछे यह शब्द भिन्न २ देश भाषाओं के लिये भी प्रयुक्त होने लगा। इस अर्थ के अनुसार शौरसेनी अपभ्रंश कई प्रकार की थी जो मथुरा के आसपास उस समय बोली जाती थी जब कि शौरसेनी प्राकृत साहित्यिक भाषा बन चुकी थी। इसी प्रकार जहां मागधी और महाराष्ट्री प्राकृतें प्रचलित थीं वहां मागधी और महाराष्ट्री अपभ्रंश भी होंगी। जब इन अपभ्रंशों में कोई स्पष्ट और उल्लेखनीय भेद न होता होगा तो इन की ओर कोई ध्यान भी न देता होगा; और न ही कोई इन का वर्णन करता होगा जब तक इन में कुछ कविता न बन जाती होगी।

भरत मुनि ने कई एक विभाषाओं का उल्लेख किया है जिन्हें नाटकों के ख़ास २ पात्र बोलते थे। इन में शाकारी (जिस का आधार मागधी है), चाण्डाली, शाबरी, आभीरी और टाकी शामिल हैं[1]।

मार्कण्डेय ने इन का कुछ विस्तार से वर्णन किया है और वह द्राविड समेत २७ के नाम लेता है। द्राविड शब्द का अर्थ यहां तामिल आदि द्राविड़ी भाषा नहीं है किन्तु एक प्रकार की टूटी फूटी आर्य भाषा है जो द्राविड देश में प्रचलित थी। रामतर्कवागीश ने इन विभाषाओं में से पाञ्चाली, मालवी, मध्यदेशीया आदि पर कुछ टिप्पण दिये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सब की सब साधारण अपभ्रंश अर्थात् पश्चिम की साहित्यिक अपभ्रंश के स्थानीय रूप थे। इन की स्वतन्त्र सत्ता न थी। महाराष्ट्री और मागधी से मराठी

---

१. ग्रियर्सन् JRAS 1918 pp. 489 ff.

१. ग्रियर्सन् JRAS 1913 p. 875. अपभ्रंश और देश भाषा के विषय में जेकोबी का मत भेद है। देखो भविसत्त कह की उपोद्घात।

और बंगला का रूप धारण करते समय तक इन की किसी मध्यवर्ती अपभ्रंश का उल्लेख नहीं मिलता। पुरानी विभाषाएं किसी एक प्राकृत विशेष के स्थानीय या जातीय रूप होंगे न कि मध्यकालीन भारती भाषाओं का स्वतन्त्र रूप। इस लिये हम इन के थोड़े बहुत भेदादि तो जान सकते हैं परन्तु आर्य-भारती के विकास-वृक्ष में इन का स्थान-निर्देश नहीं कर सकते।



अध्याय ११

प्राकृत साहित्य ।

सब से प्राचीन प्राकृत जो लेखारूढ मिलती है वह वि० पू० तीसरी शताब्दी की महाराज अशोक की धर्मलिपियों की है। बौद्ध ग्रंथ तो पहिले भी विद्यमान थे और जैसा कि ऊपर कहा गया है, अशोक ने कुछ ऐसे पाठों के प्रतीक भी दिये हैं जो उसे विशेष प्रिय थे, परन्तु प्रतीकों के जो शब्द उद्धृत किये गए हैं उन से प्रतीत होता है कि वे अभी उस पाली भाषा में बद्ध नहीं हुए थे जिस में रचा हुआ त्रिपिटक लंका और ब्रह्मदेश के हीनयान संघ में प्रचलित है। हम किसी पाली ग्रंथ को निश्चय के साथ अशोक से पूर्वकालिक नहीं मान सकते।

जब किसी भाषा के साहित्य का वर्णन करना हो तो शिलालेख, ताम्रशासन आदि को प्रायः साहित्य के अंतर्गत नहीं करते। परन्तु यदि अशोक की धर्मलिपियां पुस्तकाकार में सुरक्षित होतीं तो प्रत्यक्ष है कि वे प्राकृत साहित्य का सब से प्राचीन ऐसा अंश होतीं जिस का समय निश्चय पूर्वक ज्ञात है। इन लिपियों की भाषा तथा व्याकरण का पहले भी कुछ वर्णन किया जा चुका है। इन की रचना शैली गद्य के इतिहास में विशेष महत्त्व रखती है। वह अलंकारों से सर्वथा शून्य है और महाराज अशोक की सत्यप्रियता तथा उद्योगशीलता का परिचय देती है। यह मानने में कुछ आ-

पत्ति नहीं कि धर्मलिपियां महाराज ने स्वयं अपने मुख से लिखवाई होंगी क्योंकि इन में प्रशंसा या स्तुति का कोई लेश नहीं है जो इन में स्वाभाविक तौर पर पाया जाता, अगर वे किसी राजकवि या लिपिकार की रचना होतीं।

इन लिपियों की रचना की तुलना पारसीक महाराज दारा के लेखों से की गई है। यह तो सर्वथा संभव है कि अपनी जीवन घटनाओं को चट्टानों पर उत्कीर्ण करने का ख्याल महाराज अशोक को पारसीक देश के लेखों से आया हो; परंतु यह बात कि पाटलि-पुत्र की राजसभा के सदस्य पारसीक भाषा से भली भांति परिचित थे एक हृदयग्राही उपन्यास है जो अभी तक निश्चयपूर्वक सिद्ध नहीं हो पाया है। और कुछ ही हो, परंतु इन दोनों लेखों की बाह्य आकृति में बड़ा भारी अंतर है।

महाराज दारा तो अपने इष्टदेव अहुर्मज़्दः की सहायता से शत्रुओं पर विजय पाने और विशाल राज्य के स्थापन करने पर हर्ष प्रकट करता है परन्तु महाराज अशोक कलिङ्ग देश को विजय कर के पश्चात्ताप सा करता है। अशोक का मुख्य प्रयोजन यह है कि देश देशांतरों में धर्मवृद्धि हो अर्थात् बौद्ध धर्म फैले। इस निमित्त से जो जो उपाय उस ने किये उन का वर्णन कर के धर्म वृद्धि के लिये शासनों द्वारा उद्घोषण करता है। प्रसंगवश ये लेख मौर्य राज्य की शासन पद्धति तथा उस समय का प्रजाहितैषी राजा लोकोपकार के क्या काम कर सकता था इस विषय पर कुछ प्रकाश डालते हैं। इन लिपियों की सरलता एक विशेष महत्त्व रखती है जो उत्तरकालीन अलंकृत प्रशस्तियों में नहीं पाई जाती।

यदि "प्राकृत साहित्य" का व्यापक अर्थ लें, तो सब से प्रधान स्थान पाली को देना होगा। इस स्थान के लिये पाली का अधि-कार केवल इस की प्राचीनता पर ही निर्भर नहीं है, प्रत्युत इस के

आनुषङ्गिक गुण और प्राचीन बौद्ध साहित्य के ऐतिहासिक गौरव पर भी है। भारत वर्ष के सब धर्मों में से बौद्ध धर्म ही ऐसा है जिस ने समस्त एशिया द्वीप पर अतीव गहिरा प्रभाव डाला है। इस धर्म के सब से प्राचीन ग्रंथ जो अब तक विद्यमान हैं पाली त्रिपिटक में ही शामिल हैं। इस बात के अतिरिक्त बौद्ध ग्रंथों में हमें भारतीय जीवन का ऐसा चित्र मिलता है जो कथा, आख्यायिका तथा ब्राह्मण धर्म के ग्रंथों में पाए जाने वाले आत्मश्लाघा के चित्रों का शेषपूरक है। भारतीय इतिहास के प्रत्येक अभ्यासी को कुछ न कुछ जातक अर्थात् बुद्ध भगवान् के पूर्व जन्मों की कथाएं अवश्य पढ़ लेनी चाहियें। बौद्ध स्तूप तथा विहारों के किवाडों पर इन जातकों और बुद्ध भगवान् की जीवन-घटनाओं के चित्र निरंतर खुदे हुए मिलते हैं। सच तो यह है कि बौद्ध दर्शन का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त किये बिना और बौद्ध भिक्षु तथा उपासकों का जीवन चरित्र जाने बिना जैसा कि इन प्राचीन ग्रंथों में मिलता है कोई अभ्यासी उस सत्ता का यथार्थ स्वरूप नहीं जान सकता जो बुद्ध भगवान् के निर्वाण के पश्चात् एक हज़ार वर्ष तक भारत के इतिहास में प्रधान रही। इसी प्रकार भारतीय दर्शन के अभ्यासी को पता लगेगा कि अतिसूक्ष्म तर्क वितर्क तथा उच्च और प्रगल्भ विचार ब्राह्मण दर्शनों तक परिमित न थे किन्तु बौद्धों में भी पाए जाते थे।

पाली में ऐतिहासिक साहित्य का उदाहरण भिक्षुसमुदाय का गाथाबद्ध वृत्तांत है जो लंका के प्राचीन इतिहास का वर्णन करने वाले "महावंस" में मिलता है।

साधारण तौर पर पाली साहित्य प्राकृत साहित्य के अंतर्गत नहीं गिना जाता। यदि पाली ग्रंथों को पृथक् कर दें तो समग्र प्राकृत साहित्य का अधिकांश जैन साहित्य ही रह जाता है। जैसा कि पहले कहा गया है यह साहित्य तीन भिन्न२ प्राकृतों में मिलता है।

अर्धमागधी सब से पुराने जैन ग्रन्थों की भाषा है। ये ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय का सिद्धान्त या आगम कहलाते हैं। सिद्धान्त में सब ४५ ग्रन्थ हैं जिन में ११ अङ्ग और १२ उपाङ्ग भी शामिल हैं। इन का उल्लेख कभी प्राकृत नामों से और कभी संस्कृत नामों से किया जाता है।

१म अङ्ग—आयारंगसुत्तं=आचाराङ्गसूत्रम्।
२य अङ्ग—सूयगडंगं=सूत्रकृताङ्गम्।
७म अङ्ग—उवासगदसाओ=उपासकदशाः।
१म उपाङ्ग—ओववाइयसुत्तं=औपपातिकसूत्रम्।

विक्रम की पांचवीं शताब्दी में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने सिद्धान्त को एकत्र कर के लेखारूढ़ किया। यह काम भगवान् महावीर के निर्वाण से ९८० वर्ष पीछे समाप्त हुआ अर्थात् वि० सं० ५११ में (या शायद वि० सं० ५७१ में)।

वे प्राचीन ग्रन्थ जिन्हें पूर्व कहते थे और जिन के आधार पर सिद्धान्त की रचना हुई सर्वथा नष्ट हो गए हैं। अब सिद्धान्त के अन्दर भिन्न २ काल के रचित ग्रन्थ और अध्याय शामिल हैं और उन को एक दूसरे से पृथक् करना कठिन कार्य है। कई ग्रन्थ और अध्याय भद्रबाहु स्वामी की रचना माने जाते हैं जो भगवान् महावीर से १७० वर्ष पीछे हुए। उन में से एक ग्रन्थ कल्पसुत्तं (कल्पसूत्रम्) है जिस में भगवान् महावीर का जीवन चरित्र वर्णन किया गया है। वास्तव में यह देवर्द्धि गणि से पहिले का नहीं।

प्राचीन गद्य ग्रन्थों की रचनाशैली बड़ी शब्दबहुला है। इन में ग्राम, नगरआदि के लम्बे लम्बे वर्णन पाए जाते हैं तथा बहुत से पाठ बार बार दोहराए जाते हैं। आम पाठकों के लिये उन की महत्ता इस बात में है कि उन में प्रसङ्ग वश भारतीय जीवन का वृत्तान्त तथा घटनाओं का वर्णन पाया जाता है।

जैन साहित्य का सब से प्राचीन काव्य "पउमचरिय" है जिस में रामायण की कथा पाई जाती है। इस का रचना काल विक्रम की चतुर्थ शताब्दी प्रतीत होता है।

जैन माहाराष्ट्री में श्वेताम्बरों के आगम–बाह्य ग्रन्थ रचे हुए हैं। इन में अधिक तर कथा संग्रह हैं, जिन में तीर्थंकर आदि शलाका-पुरुषों और मुनियों के जीवन चरित्र तथा अन्य तीर्थियों के जैन धर्म ग्रहण करने का वृत्तान्त है। वर्तमान युग के विद्वानों ने श्वेताम्बर साहित्य का कुछ भाग ही दृष्टिगत किया है। भाषाविज्ञान तथा इतिहास के लिये अभी बहुत सा भाग दृष्टिगोचर करने योग्य है।

जैन शौरसेनी में रचे हुए दिगम्बर ग्रन्थ और भी कम प्रसिद्ध हैं। सर् भाण्डारकर ने कुन्दकुन्दाचार्य कृत "पवयण सार" और कार्त्तिकेय स्वामि कृत "कत्तिगेयाणुपेक्खा" के कुछ पाठ प्रकाशित किये हैं। ये दोनों ग्रन्थ छन्दोबद्ध हैं।

जैन साहित्य न तो इतना प्रसिद्ध है और न इस का इतना पठन पाठन किया जाता है जितना बौद्धों के पाली साहित्य का। बहुत सा तो अभी तक हस्तलिखित ही पड़ा है या अशुद्ध प्रकाशित हुआ है। और बहुत सा तो टीका की सहायता से भी समझना कठिन है, टीका के बिना तो कहना ही क्या है।

जैन आगम ग्रन्थों के पूर्व भी अर्धमागधी का प्रयोग साहित्य में होता था। इस में प्रमाण यह है कि अश्वघोष तथा उस के सहकालीन कवियों के बनाए नाटकों में और कई एक लेखों में अर्धमागधी पाई जाती है[1]। जैन माहाराष्ट्री कक्कुक के शिलालेख में मिलती है।

---

१ देखो अध्याय १०, "पाली" तथा "अश्वघोष"।

काव्य रचना के लिये देर से मुख्य प्राकृत माहाराष्ट्री रही है[1]। यही भाषा है जिस में प्राकृत महाकाव्य तथा खण्ड काव्य रचे जाते हैं और इसी का वर्णन प्राकृत व्याकरणों में सब से पहिले पाया जाता है।

सब से प्रसिद्ध महाकाव्य सेतुबन्ध है। इस की रचना शैली इतनी अच्छी है कि कई विद्वान् इसे कवि कालिदास की कृति मानते हैं। प्राकृत में इस काव्य को रावणवहो या दहमुहवहो कहते हैं। इस में रामायण की कथा वर्णन की गई है परन्तु ख्याल किया जाता है कि इस की रचना काश्मीर के राजा प्रवरसेन के श्रीनगर में पुल बनवाने की यादगार के लिये हुई।

विक्रम की आठवीं शताब्दी के आरम्भ में कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा ने बंगाल देश (गौड) पर विजय पाई इस विजय की स्मृति में "गउडवहो" काव्य रचा गया। इस के कर्ता का नाम वप्प-इराअ (वाक्पतिराज) शायद कवि का गुप्त नाम है। इस कवि ने एक और काव्य "महुमहविअअ" रचा परन्तु इस के एक दो श्लोक ही बचे हैं, शेष नष्ट हो गया है।

रावणवहो और गउडवहो की रचना शैली पर संस्कृत काव्यों का गहरा प्रभाव पड़ा है। इन दोनों में खूब लम्बे २ समास पाए जाते हैं।

हेमचन्द्र कृत द्व्याश्रय महाकाव्य के अन्तिम आठ सर्गों का छोटा सा प्राकृत महाकाव्य बन जाता है जिस का नाम है 'कुमार पाल चरित'। इस में अणहिलवाड (गुजरात) के राजा कुमारपाल के पराक्रम का वर्णन है। समग्र काव्य की न्याईं इन आठ सर्गों का

---

१ प्रो० जेकोबी का विचार है कि माहाराष्ट्री ने यह प्रधान पद ४र्थ शताब्दी में प्राप्त कर लिया था (प्राकृत कथा १८८६)। इस से पहिले के लेख जो महाराष्ट्र में मिलते हैं उन की भाषा पाली जैसी है। तीसरी शताब्दी के कई लेखों में स्वरमध्यवर्ती व्यञ्जनों का लोप देखा जाता है। जैन आगम विक्रम की छठी शताब्दी के प्रारम्भ में लेखारूढ हुए और इन की अर्धमागधी पर माहा-राष्ट्री का पक्का प्रभाव है। दण्डी कवि सेतुबन्ध की बड़ी प्रशंसा करता है।

प्रयोजन भी कवि के अपने बनाए 'सिद्ध-हेमचन्द्र' नामी संस्कृत प्राकृत व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण देना है।

माहाराष्ट्री के ज्ञान के लिये सब से मुख्य ग्रन्थ हाल कृत सत्तसई (सप्तशतकम्) है। यह ग्रन्थ बहुत से कवियों के श्लोकों का संग्रह है। एक टीकाकार ११२ कविनामों का उल्लेख करता है। परन्तु भुवनपाल ३८४ कवियों के नाम प्रकट करता है। भिन्न २ प्रतियों में श्लोकों का क्रम भिन्न २ है और अब थोड़े ही श्लोक ऐसे हैं जो निश्चय से किसी एक कवि के बनाए कहे जा सकते हैं। इस संग्रह से अनुमान किया जा सकता है कि माहाराष्ट्री में कितनी कविता बनी होगी जो अब नष्ट हो चुकी है। हाल की बाबत ख्याल किया जाता है कि यह राजा सातवाहन था जिसे शालिवाहन आदि भी कहते हैं। और साधनों से हाल के अतिरिक्त कई दूसरे कवियों का पता भी लगता है। राजशेखर अपनी कर्पूर मञ्जरी (अङ्क १) में हरिउड्ढ, णन्दिउड्ढ और पोट्टिस का उल्लेख करता है। विदूषक कहता है—"ता उज्जुअं जेव किं ण भणीअदि, अम्हाणं चेडिआ हरिउड्ढ-णन्दिउड्ढ-पोट्टिस-हाल प्युहुदीणं पि पुरदो सुकइत्ति[1]।"

इस सप्तशती के रचना काल का अभी निश्चय नहीं हुआ। प्रो० वेबर तीसरी और सातवीं शताब्दी के बीच इस की रचना मानता है। मैकडानल का कहना है कि हाल दसवीं शताब्दी से पहिले हुआ।

इस हाल-सातवाहन को आन्ध्रवंश का १७ वां (वि० सं० १२५) का राजा मान लेने से कुछ गड़बड़ सी हो गई है। जेकोबी कहता है कि यह हाल प्रतिष्ठान नगर का राजा सातवाहन था जिसने वि० सं० ५२४ में जैनों के संवत्सरी पर्व की तिथि में कुछ परिवर्तन किया था।

इस में सन्देह नहीं कि यह सप्तशती जिस के संग्रहीत कवि राजशेखर के समय तक प्रसिद्ध थे, प्रथम शताब्दी की रचना

---

१ अनुवाद—तो स्पष्ट क्यों नहीं कह देते कि यह हमारी दासी हरिवृद्ध, नन्दिवृद्ध, पोट्टिस, हाल आदि से भी बढ़िया कवि है।

नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय की प्राकृत पाली से मिलती जुलती होनी चाहिये। सप्तशती के प्रारम्भ के श्लोक इस बात की सूचना देते हैं कि दक्षिण के ये शृङ्गाररस भरे श्लोक उस समय इतने प्रचलित नहीं थे जितने कि वे पहिले हुआ करते थे।

इसी प्रकार की एक और सप्तशती है जिस का नाम जअवल्लहं या वज्जालग्ग है। इस का संकलन श्वेताम्बर भिक्षु जयवल्लभ ने किया। इस में भी ७०० छन्द हैं जिन में से कई एक हाल की सप्तशती में भी मिलते हैं।

नाटकीय प्राकृतें।

संस्कृत का प्रत्येक पाठक जानता है कि संस्कृत नाटकों में तीन प्राकृतें (महा०, शौ०, माग०) भी व्यवहृत होती हैं। कौन कौन से पात्र को कौन कौन सी प्राकृत बोलनी चाहिये इस में कुछ मत भेद है[1]। मृच्छकटिक में प्राकृतों की सब से अधिक संख्या पाई जाती है। नाटक के नायक तथा विदूषक को छोड़ कर उस के शेष साथी संस्कृत में बोलते और गाते हैं। स्त्री पात्र संस्कृत नहीं बोलते परन्तु मालती माधव में बौद्ध भिक्षुणी संस्कृत बोलती है। केवल प्राकृत का नाटक जिस में नायक भी प्राकृत बोलता हो अपवाद भूत समझना चाहिये। ऐसे नाटक का प्रसिद्ध उदाहरण कर्पूरमञ्जरी है। इस के कर्ता कवि राजशेखर ने यह बतलाना उचित समझा कि इस में संस्कृत का प्रयोग क्यों नहीं किया। प्रस्तावना में सूत्रधार चिन्तन करता है, "फिर किस लिये कवि ने संस्कृत को छोड़ कर प्राकृत में ही रचना की है?" इस के उत्तर में पारिपार्श्वक माहाराष्ट्री में कहता है—

परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुउमारो।
पुरिस-महिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाणं॥

संस्कृत रचना कठोर होती है लेकिन प्राकृत रचना कोमल भी हो

---

१ भास के 'कर्णभार' में ब्राह्मण रूप धारी इन्द्र भी प्राकृत बोलता है।

सकती है। इस विषय में उन में इतना अन्तर है जितना स्त्री पुरुष में होता है।

स्त्री पात्र और विदूषक साधारण बात चीत शौरसेनी में करते हैं परन्तु गीत महाराष्ट्री के गाते हैं। दास, दासी, वामन, परदेसी आदि मागधी बोलते हैं। जैसे—शकुन्तला में दोनों राजपुरुष तथा धीवर। जैन भिक्षु तथा छोटे वालक भी इसी प्राकृत को बोलते हैं[1]।

लिखित तथा छापे की पुस्तकों में पात्रों की भाषा-वांट बहुधा अलङ्कार ग्रन्थों और टीकाकारों के मत के विरुद्ध होती है। वे

---

१. पिशल् (§ २३) के अनुसार निम्नलिखित पात्र मागधी बोलते हैं—

मृच्छकटिक—शकार, उस का नौकर स्थावरक, संवाहक, कुम्भीलक, वर्धमानक, दोनों चाण्डाल और रोहसेन।

शकुन्तला—धीवर, राजपुरुष, सर्वदमन।

प्रबोधचन्द्रोदय—चार्वाकशिष्य और उत्कलदूत।

मुद्राराक्षस—दास, जैनभिक्षु, दूत, सिद्धार्थक और समिद्धार्थक जब चाण्डाल बनते हैं।

ललितविग्रहराज—वैतालिक और गुप्तचर (जो कभी शौ० बोलता है), तुरुष्क बन्दीजन और गुप्तचर। भारतवासी गुप्तचर शौ० बोलता है।

वेणीसंहार—राक्षस और उस की भार्या।

मल्लिकामारुत—हस्तिपालक।

नागानन्द—नौकर चाकर।

चैतन्य चन्द्रोदय—नौकर चाकर।

चण्डकौशिक—चाण्डाल और धूर्त।

धूर्तसमागम—नापित।

हास्यार्णव—साधुहिंसक।

लटकमेलक—दिगम्बर भिक्षु।

कंसवध—कुब्जा।

अमृतोदय—जैन भिक्षु।

प्राकृतों को भी आपस में मिला कर संकर कर देते हैं और मागधी को शौरसेनी जैसी ही कर देते हैं।

संस्कृत नाटक के इस भाषा बाहुल्य पर बहुत विचार किया गया है और इस का कई प्रकार से समाधान किया गया है।

इस भारतीय प्रथा का उदाहरण और कहीं नहीं मिलता। सुखान्त नाटकों में विदेशियों की भाषा की नक़ल कर के सदा हंसी उड़ाई जाती है। अरिस्तोफनेस[1] थ्रेस के म्लेच्छ त्रिबलोस से टूटी फूटी यूनानी भाषा बुलवाता है। लातीनी के सुखान्त नाटकों में फिनीशन भाषा की नक़ल की जाती थी। परन्तु अब उन के पाठ इतने भ्रष्ट हो गए हैं कि अब वे पूर्णतया समझ में नहीं आते। शेक्सपियर के नाटकों में वेल्ज़ तथा फ्रांस निवासियों की भाषा से पाठक परिचित ही होंगे। प्रहसनादिकों में ग्राम्य और शिष्ट भाषा का अन्तर सदा दिखाया जाता है। शेक्सपियर के समय से दूसरे नाटकों में भी कुछ २ कृत्रिम भाषा का प्रयोग होता रहा है।

यूनानी दुःखान्त नाटकों में ध्रुवगान की भाषा नाटक की साधारण भाषा से कुछ भिन्न होती है।

ऐटिक नाटकों में डोरिक ध्रुवगान, गीतात्मक काव्य की भांति, एक कृत्रिम भाषा में होता है जो डारिक भाषा के आधार पर बनी हुई कविता की भाषा है। इस प्रकार की भाषा को भारत में साहित्यक प्राकृत कहेंगे।

लेकिन भारतीय प्रथा इन एकदेशीय समता रखने वाले उदाहरणों से भिन्न है। प्रथम तो एक ही घर में चार नहीं तो तीन भिन्न भाषायें तो नियम से बोली जाती हैं। दूसरे इन में से एक शिष्ट (मृत) भाषा है जो कि भाषा जीवन की प्राचीन अवस्था से सम्बन्ध रखती है। तीसरे एक ही नाटक में दूर २ बोली जाने

1. एक यूनानी नाटक कार।

वाली भाषाएं पाई जाती हैं और बिना किसी स्पष्ट कारण के खास२ पात्रों के लिये नियत हैं। और अन्ततः यह प्रथा परिच्छिन्न नियम बन गई है।

यह आश्चर्य की बात नहीं कि नाटकीय प्राकृतों के प्रयोग के नियम बन गए हैं। नाटक से सम्बन्ध रखने वाली हर एक वस्तु के नियम हैं-भिन्न २ प्रकार के नायक के गुणों से लेकर रचना शैली के असंख्य दोषों तक सब बातों के विषय में ग्रन्थ रचे गए हैं। हर एक वस्तु के सूक्ष्म नियम बनाना ब्राह्मण पण्डितों को सदा प्रिय रहा है।

इस संस्कृत-प्राकृत नाटक का समाधान दो या तीन प्रकार से हो सकता है। (१) वास्तविक अवस्था अर्थात् नाटकों के सम्भाषण गुप्त काल के लगभग भारत-जीवन की सच्ची परिस्थिति को प्रकट करते हैं। ग्रियर्सन् का लिखना है—भारतवर्ष में इस प्रकार का बहुभाषी वार्तालाप होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं। आज कल भी बंगाल प्रान्त के किसी बड़े घराने में ऐसी ही परिस्थिति पाई जाती है अर्थात् भिन्न २ प्रान्तों से आए हुए लोग अपनी ही भाषा बोलते हैं। दूसरे सब लोग उन्हें समझ लेते हैं यद्यपि कोई भी अपनी मातृ भाषा के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा को बोलने की चेष्टा नहीं करता। बीम्स् भी इस प्रकार से समाधान करता है। यह जरूर मानना पड़ेगा कि नाटकीय प्राकृतें बहुत कुछ बनावटी और असली भाषाओं से कुछ भेद रखती हैं। खास २ पात्रों का इन प्राकृतों को बोलना थोड़ा बहुत वास्तविक परिस्थिति के अनुसार प्रतीत होता है, अर्थात् वे पात्र एक खास भाषा बोलने वाले होते होंगे। यह भी माना कि पढ़े लिखे पुरुष संस्कृत बोल सकते थे और स्त्रियां प्रायः नहीं बोल सकती थीं, लेकिन यह नहीं समझना चाहिये कि पुरुष सिवाय संस्कृत के और कुछ बोल ही न सकते थे और कि सदा घर में अपने बाल बच्चों और नौकरों के साथ इसी भाषा में बात चीत करते थे।

भली प्रकार पढ़ा लिखा पुरुष संस्कृत बोल सकता था इस लिये नायक संस्कृत बोलता था और नाटकीय नियम के अनुसार सदैव संस्कृत बोलता था जैसे असली राजा तो कभी ही मुकुट पहिनते हैं परन्तु नाटकों में राजा सदैव मुकुट पहिनते हैं।

उपर्युक्त विचार से यह सूचना भी होती है कि संस्कृत नाटक ने शूरसेन में स्थिर रूप प्राप्त किया[1]। गीतों में माहाराष्ट्री का प्रयोग करना—इस के लिये एक और युक्ति देनी पड़ेगी। यह भी कवि समय की बात है दक्षिण में गीतात्मक कविता ने ऐसी उन्नति की कि वह दूर २ फैल गई। निःसन्देह माहाराष्ट्री गीत समग्र भारत में गाए जाते थे, जैसा कि अब फ़ारसी के छन्द गाए जाते हैं। स्वाभाविक था कि प्राकृत गीतों के लिये लोग इसी भाषा को उपयुक्त समझने लगे। इस युक्ति के आधार पर नाटक में दूसरी प्राकृतों के प्रयोग का समाधान करना कठिन न होगा। इस प्रश्न का संस्कृत नाटक के विकास और इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु इस विषय में हमारा ज्ञान बहुत ही कम है। इस बात में मतभेद है कि किसी नाटक में प्राकृतों की संख्या का अधिक होना (जैसा कि मृच्छकटिका में) उस की प्राचीनता का द्योतक है वा अर्वाचीनता का। फिर कई एक विद्वानों का मत है कि पहिले पहिल नाटक प्राकृत में ही होते थे। उन में संस्कृत का प्रयोग पीछे से हुआ।

प्राकृत मूल न केवल नाटक का ही बल्कि इतिहास और पुराणों का भी माना गया है[2] यह तो स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि

---

१. सिलवां लेवी (भारतीय नाटक १८९० पृ० ३३१, फ्रेंच भाषा) का कहना है कि नाटक में शौरसेनी के प्रयोग का सम्बन्ध तो मथुरा को कृष्ण-सम्प्रदाय के साथ है, और मागधी मगध देश के मागध (भाटों) की दात है।

२. पार्जिटर्—कलियुग के राजवंश। ग्रियर्सन्। Encycl. Brit. प्रो० हर्टल ने पञ्चतन्त्र का भी प्राकृत मूल माना है। कोई गीतगोविन्द का भी प्राकृत मूल मानते हैं।

बृहत्कथा पैशाची प्राकृत में थी महाभारत और पुराणों का भी मूल प्राकृत में ही बताया जाता है। इस में प्रमाण यह है कि उन के वर्तमान संस्कृत रूप में व्याकरण तथा छन्द सम्बन्धी कई ऐसी बातें हैं जो इस बात की सूचना करती हैं कि वे प्राकृत से अनुवाद किये गए हैं। इस विषय पर यहां विचार नहीं किया जा सकता। तथापि यह याद रखना चाहिये कि वह कविता अथवा छन्द जो मूलतः साधारण लोकों में प्रचलित हो, वह संस्कृत में अनूदित होने से पहिले किसी न किसी साधारण लौकिक भाषा में (चाहे वह कितनी ही अनियत और परिवर्तनशील हो), रची हुई होगी। यदि ऐसी कविता बहुत पुरानी हो तो उस का मूल प्रथम युग की प्राकृत में होगा न कि मध्य युग की प्राकृत में। प्रथम युग की प्राकृत पाणिनीय संस्कृत के सर्वथा सदृश तो न होगी, हां उन में समानता बहुत होगी। (तदुत्तरवर्ती काल में किसी ग्रन्थ को संस्कृत रूप देने की उत्तरोत्तर चेष्टा जिस से उस ग्रन्थ के सब भागों को एक जैसी सफलता न हो वर्तमान महाभारत तथा पुराणों की सी भाषा को ही जन्म देगी)। इस प्रकार प्रथमयुगीन प्राकृत का संस्कृत रूप और बात है और मध्य-युगीन प्राकृत से पाणिनीय संस्कृत में अनुवाद करना और बात है।

प्राकृत व्याकरण प्राकृत साहित्य का एक विशेष अङ्ग है। सब से प्राचीन ग्रन्थ भारतीय नाट्यशास्त्र है जिस के अध्याय १७ में श्लोक ६—२३ में प्राकृत व्याकरण का संक्षिप्त वर्णन पाया जाता है। अध्याय ३२ में प्राकृत के उदाहरण दिये हैं। खेद है कि इस का पाठ इतना भ्रष्ट हो गया है कि अब यह काम में नहीं लाया जा सकता।

पाणिनि को भी प्राकृत लक्षण नामी एक प्राकृत व्याकरण का कर्ता बतलाया जाता है, परन्तु इस में कोई उचित प्रमाण नहीं है। सब से प्राचीन व्याकरण जो अब तक विद्यमान है वररुचि कात्या-

यन का प्राकृत प्रकाश है। यह वही वररुचि है जो पाणिनि का वार्त्तिककार है। प्राकृत प्रकाश पर सब से प्राचीन टीका भामह कृत मनोरमा है। इस टीका के साथ इस व्याकरण का कौवल महाशय ने अंग्रेज़ी अनुवाद सहित संपादन किया है। दसवें अध्याय में भामह ने पैशाची के दो छोटे से पाठ दिये हैं। ये शायद बृहत्कथा से उद्धृत किये हैं[1]।

चण्ड अपने प्राकृत लक्षण में महाराष्ट्री तथा जैन प्राकृतों (अमा०, जैम०, जैशौ०) का वर्णन करता है। इस के विषयक्रम के आधार पर कह सकते हैं कि यह ख़ासा पुराना है।

सब से अधिक उल्लेखनीय प्राकृत व्याकरण हेमचन्द्र का है (वि० सं० ११४५—१२२६) जो उस के सिद्धहेमचन्द्र का आठवां अध्याय है। इस से पहिले सात अध्याय संस्कृत व्याकरण का प्रतिपादन करते हैं। हेमचन्द्र ने देशीनाममाला कोश भी लिखा है।

और व्याकरण ये हैं—

क्रमदीश्वर के संक्षिप्तसार का अन्तिम अध्याय। यह वररुचि का अनुसरण करता है और किसी काम का नहीं।

त्रिविक्रमदेव का प्राकृत व्याकरण जो तेरहवीं शताब्दी में लिखा गया, हेमचन्द्र का अनुसरण करता है।

प्राकृत सर्वस्व—इस का कर्ता मार्कण्डेय कवीन्द्र सत्रहवीं शताब्दी में उड़ीसा के राजा महेन्द्रपाल के समय में हुआ।

रामतर्कवागीश का प्राकृतकल्पतरु।

इन के अतिरिक्त और कई व्याकरण हैं जो अधिक प्रसिद्ध नहीं।

---

१. सूत्र ४ के नीचे—इवस्य पिवः॥ कमलं पिव मुखं। सूत्र १४—हृदयस्य हितअकम्॥ हित अकं हरसि मे तलुनि।

अपभ्रंश के फुटकर श्लोक जैन ग्रन्थों में, अलंकारशास्त्रों में तथा शुकसप्तति, वेतालपंचविंशति आदि अर्वाचीन कथासंगूहों में पाए जाते हैं। आश्चर्य की बात है कि विक्रमोर्वशीय नाटक की कई प्रतियों में चौथे अङ्क में राजा पुरुरवा के मुख से अपभ्रंश के श्लोक कहलवाए हैं[1]। चौदहवीं शताब्दी के छन्दोगून्थ प्राकृत पिङ्गल में भी अर्वाचीन प्राकृत या अपभ्रंश के पद्य पाए जाते हैं। इन की भाषा इतनी अर्वाचीन है कि जेकोबी इस को अपभ्रंश कहना उचित नहीं समझता। इसे तो आधुनिक भाषाओं का आदि रूप कहना चाहिये।

अपभ्रंश का सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ जो अब मिलता है धणवाल कृत भविसत्तकह है। इस में एक वणिक्पुत्र भविष्यदत्त का चरित वर्णन किया गया है। किस प्रकार उस ने यात्रा करते समय कुरु-जाङ्गल और पोतन के युद्ध में भाग लिया। जेकोबी के मतानुसार पोतन तक्षशिला का नाम है। इस के पश्चात् मुख्य कथा पात्रों के पूर्व तथा उत्तर भावों का वर्णन है।



---

१. शङ्कर पाण्डुरङ्ग ने अपने संस्करण में इन श्लोकों को नहीं दिया। अब ये प्रक्षिप्त माने जाते हैं।

दूसरा भाग।

पाठावली

पाठ १

[शौरसेनी]

श्रीहर्षकृत "रत्नावली" नाटक के द्वितीय अङ्क का प्रवेशक । नायिका की दो सखियों सुसंगता और निपुणिका का संलाप ।

(ततः प्रविशति सारिकापञ्जरव्यग्रहस्ता सुसंगता ।)

सुसंगता—हद्धी हद्धी[1] ! अध कहिं दाणिं मम हत्थे इमं सारिअं णिक्खिविअ[2] गदा मे पिअसही साअरिआ भविस्सदि ? (अन्यतो दृष्ट्वा) एसा खु णिउणिआ, इदो ज्जेव्व[3] आअच्छदि ।

---

१. हद्धी=हा धिक्। अध § १४। कहिं ७मी एक० का रूप=कस्मिन्; "कहां" और "किधर" का अर्थ भी देता है। दाणिं § ७४।

२. णिक्खिविअ=निक्षिप्य। इस से पहिले अङ्क में जिक्र है कि सागरिका ने मैना सुसंगता के हाथ सौंप दी थी। गदा § १२५। पिअसही §§ ६, ७६, १३।

३. इदो जेव्व § ६८ (२)

(ततः प्रविशति निपुणिका)

निपुणिका—उवलद्धो[1] खु मए भट्टिणो वुत्तन्तो; ता जाव गदुअ भट्टिणीए णिवेदेमि । (इति परिक्रामति)

सुसं०—हला णिउणिए ! कहिं दाणिं विम्हआक्खित्तहिअआ[2] विअ इधट्ठिदं मं अवधीरिअ इदो अदिक्कमसि ?

णिपु०—कधं सुसंगदा ? हला सुसंगदे ! सुट्ठु[3] तए जाणिदं । एदं[4] खु मम विम्हअस्स कारणं । अज्ज[5] किल भट्टिणा सिरिपव्वदादो आअदस्स सिरिखण्डदासनामधेअस्स धम्मिअस्स सआसादो अआल-कुसुम-संजणण-दोहलं सिक्खिअ, अत्तणो[6] परिगहिदं णोमालिअं कुसुम-समिद्धि[7]-सोहिदं करिस्सदि त्ति एदं वुत्तन्तं देवीए णिवेदिदुं पेसिद म्हि । तुमं उण[8] कहिं पट्ठिदा ?

सुसं०—पिअसहिं साआरिअं अण्णेसिदुं[9] ।

---

१. उवलद्धो §§ १७, १२५ । मए § १०६ । भट्टिणो § ६६ । ता=वैदिक तात् "इस लिये" । जाव §§ १, २६ । गदुअ=गत्वा § १२२ ।

२. विम्हअ § ४७ । आखित्त (आ+क्षिप्) § १२५ । हिअअ §§ ६; ६० विअ=इव (व्=क्रम इव) । ठिद (स्था) § १२५ । अदिक्कमसि (अति=क्रम्) ।

३. सुट्ठ § ३८ । जाणिदं § १२५ (ज्ञा) ।

४. एदं § १२ ।

५. अज्ज § ०४ । सिरि § ६८ । पव्वदादो=पर्वतात् § ५०, § ८६ । आअद § २ । धम्मिअ=धार्मिक, यहां अर्थ है " जादूगर, इन्द्रजालिया ।" सआसादो=सकाशात् । अआल=अकाल ।

६. अत्तणो § १०० । गहिद [ग्रह] § १२५ । णोमालिआ § ७५ ।

७. समिद्धि=समृद्धि । त्ति § ७४ । पेसिदम्हि § ६८ [१] ।

८. उण " परन्तु " § ३; " लेकिन ?" अर्थ में पुणो । पट्ठिदा [प्र+स्था] ।

९. अण्णेसिदुं, तुमुन्नन्त [अनु+इष्] ।

निपु०—दिट्ठा मए साअरिआ गहिद-समुग्गअ-चित्तफलअ-वत्तिअ कअलीहरं पविसन्ती। ता गच्छ पिअसहिं । अहं पि[2] देवी-सआसं गमिस्सं। [इति निष्क्रान्ते]

भाषानुवाद।

[हाथ में मैना का पिंजरा लिये सुसङ्गता आती है]

सुसंगता—हा धिक् ! हा धिक् !! मेरे हाथ में इस सारिका को सौंप कर मेरी प्रियसखी सागरिका न जाने अब कहां चली गई। [दूसरी ओर देखकर] ऐं! यह निपुणिका इधर ही आरही है।

[निपुणिका आती है]

निपु०—भर्ता (राजा) से मुझे यह वृत्तान्त मिला है, इसे अभी जाकर भट्टिनी (रानी) से निवेदन करूं। [इधर उधर घूमती है।]

सुसं—हला निपुणिके, यह क्या ? विस्मय से व्याकुल (आक्षिप्त-हृदया) सी होकर तुम यहां खड़ी हुई मुझे विना देखे ही इधर से जा रही हो ?

निपु०—क्या सुसंगता है ? प्यारी सुसंगता, तुम ने ठीक जाना है। मेरे विस्मय का कारण यह है कि भर्ता ने आज ही श्रीपर्वत से आये हुए श्रीखण्डदास नामक एक धार्मिक (मदारी?) से

---

१. दिट्ठ=दृष्ट § १२५। समुग्गअ=समुद्गक "डिब्बा"। चित्तफलअ=चित्रफलक "वह तख़्ता जिस पर कपड़ा या काग़ज़ बिछा कर चित्र बनाते हैं। वत्तिआ=वर्त्तिका, चित्र बनाने की तूलिका या बुर्श; [दीपक की बत्ती, हिं० बाती]। कअलीहरं=कअलीघरं के लिये है।

२. पि § ७४

अकाल-कुसुम (बेमौसमे फूल) उत्पन्न करने की विधि सीखी है और वह आत्म परिगृहीत नवमालिका को कुसुमों की समृद्धि से शोभित करेगा। इस वृत्तान्त (खबर) को निवेदन करने के लिये मुझे देवी (रानी) के पास भेजा गया है। हां, पर तुम किधर जा रही हो ?

सुसं०—प्रियसखी सागरिका को ढूंढने।

निपु०—हां, मैंने सागरिका को रंगों की डिबिया, चित्रफलक और वर्तिका (बुरश) लिये हुए कदलीगृह में जाते हुए देखा है। तो तुम प्रियसखी के पास जाओ। मैं भी देवी के पास जाती हूं।

[दोनों चली गईं]

पाठ २

[शौरसेनी]

रत्नावली, अङ्क २। सागरिका का स्वागत भाषण और सुसंगता से बात चीत।

[ततः प्रविशति गृहीतचित्रफलकवर्तिका मदनावस्थां नाटयन्ती सागरिका।]

साग०—हिअअ, पसीद पसीद[1]। किं इमिणा[2] आआस-मेत्तफलएण दुल्लहजण-प्पत्थणाणुबन्धेण ? अएणं च। जेण जेव्व दिट्ठमेत्तेण ईदिसो[3] संतावो वट्टदि पुणो वि तं जेव्व पेक्खिदुं अहिलससि त्ति अहो दे[4] मूढदा ! अदि णिसंसे[5] हिअअ। जम्मदो[6] पहुदि सह

---

१. पसीद=प्रसीद।

२. इमिणा=अनेन। मेत्त § ६६। दुल्लह=दुर्लभ। प्पत्थणा=प्रार्थना। अएणं § ४८।

३. ईदिसो § ७०। संताव=संताप। वट्टदि § ४५। अहिलससि=अभिलषसि।

४. दे § ३।

५. अदिणिसंस=अतिनृशंस ' अतिकठोर "।

६. जम्मदो=जन्मतः। पहुदि § १२। वड्ढिध [√वृध्+क्त] परिच्चइअ=परित्यज्य [देखिये, सच्च § ४४]।

संवड्ढिदं इमं जणं परिच्चइअ खणमेत्त-दंसण परिचिदं[1] जणं अणु-गच्छन्तो ण लज्जासि? अधवा को तुह दोसो? अणंग-सर-पडणे-भीदेण तए एव्वं अज्झवसिदं। भोदु! अणंगं दाव उवालहिस्सं[3] [सास्त्रम्] भअवं कुसुमाउह! णिज्जिद-सुरासुरो[4] भविअ इत्थीजणं पहरन्तो ण लज्जासि? सव्वधा मम मन्दभाइणीए इमिणा दुण्णिमित्तेण[5] अवस्सं मरणं उवट्ठिदं। [फलकमवलोक्य] ता जाव ण को वि इध आअच्छदि ताव आलेक्ख-समप्पिदं तं अहिमदं जणं पेक्खिअ[7] जधासमीहिदं करिस्सं [सावष्टम्भमेकमना भूत्वा नाट्येन फलकं गृहीत्वा निश्वस्य] जइ वि अदिसद्धसेण[8] वेवदि अअं अदिमेत्तं मे अग्गहत्थो, तधा वि तस्स जणस्स अण्णो दंसणोवाओ[9] णत्थि त्ति जधा तधा आलिहिअ पेक्खिस्सं। [ततः प्रविशति सुसंगता]

सुसं०—एदं खु कअलीहरं ता जाव पविसामि [प्रविश्यावलोक्य च सविस्मयम्।] किं उण एसा गरु[10] आणुराआखित्त-हिअआ आलिहन्ती ण मं पेक्खदि। ता जाव दिट्ठिविधं से[11] परिहरिअ णिरूवइस्सं।

---

१. दंसण § ४६, ६४।

२. पडण § २० [देखो हि० पड़ना]। अज्झवसिदं § ४४ [अधि+अव+ √सो] भोदु॥ ७५।

३. उवालहिस्सं=उपालप्स्ये।

४. णिज्जिद=निर्जित। भविअ § १२२। इत्थी=स्त्री, यह शब्द प्राचीन रूप इस्त्री की सूचना देता है। पहरन्तो=प्रहरन्।

५. दुण्णिमित्त=दुर्निमित्त। उवट्ठिद=उपस्थित।

६. आलेक्खसमप्पिद=आलेख्यसमर्पित।

७. पेक्खिअ § १२२।

८. सद्धस=साध्वस।

९. उवाअ=उपाय § १७। णत्थि=नास्ति § ८३।

१०. गरुअ=गुरु [क] " भारी " § ७१।

११ दिट्ठिविध=दृष्टिपथ। से=तस्याः § १०६।

कधं ? भट्टा आलिहिदो ! साहु साअरिए साहु ! अध वा ण कमलाअरं वज्जिअ राअहंसी अण्णस्सिं अहिरमदि।

साग०—(सास्रम्) आलिहिदो मए एसो। किं उण णिव-डन्त-बाह-सलिलो मे दिट्ठी पेक्खिदुं ण पभवदि।

कधं सुसंगदा ? सहि सुसंगदे, इदो उवविस।

सुसं०—(उपसृत्य फलकं गृहीत्वा दृष्ट्वा च) सहि, को एसो तए आलिहिदो ?

साग० (सलज्जम्)—सहि, णं पउत्त-महूसवो भअवं अणंगो।

सुसं०—(सस्मितम्) अहो दे णिउणत्तणं ! किं उण सुण्णं विअ चित्तं पडिभादि ! ता अहं पि आलिहिअ रदि-सणाधं करिस्सं।

साग०—(विलोक्य सक्रोधम्) कीस तए अहं एत्थ आलिहिदा ?

सुसं० (विहस्य)—सहि, किं अआरेण कुप्पासि ? जादिसो तए कामदेवो आलिहिदो, तादिसी मए रदी आलिहिदा ता अण्णधा-सभाविणि किं तुह एदिणा आलविदेण ? कधेहि सव्वं वुत्तन्तं।

साग०-(सव्रीडं स्वगतम्) णं जाणिदम्हि पिअसहीए। पिअसहि,

---

§ १०६। परिहरिअ क्त्वान्त (परि+हृ)। णिरूवइस्सं निरूपण करूंगी § १७।

१—कमलाअरं 'कमलों का ढेर', कमलों की बावड़ी। वज्जिअ वजदि (वृज्) का क्त्वान्त रूप, "छोड़कर"।

२—णिवडन्त § १७।-बाह-(वाष्प) § ३८ के विरुद्ध। "आँसू" के लिये प्रत्यक्षतः बप्फ *बाफ—बाह (§§ ६१, १३) हो जाता है। "भाप" इत्यादि के अर्थ में वह बप्फ रहता है (तुलना करो—हिन्दी बाफ, भाप) (पिशल § ३०५)।

३—उववस (उप+विश्)।

४—पउत्त § १२५ (प्र+वृत्)।

५—कीस "क्यों-?"। एत्थ "यहाँ" § ७०।

६—कुप्पसि "तू क्रोध करती है"।

७—एदिणा=एदेण। आलविद (आ+लप्)। सव्व § ४५ (हिन्दी सब)।

८—णं=नूनं।

महदी खु मे लज्जा। ता तधा करेसु जधा ण एदं वुत्तन्तं अवरो को वि जाणिस्सदि।

सुसं०—सहि, मा लज्ज, मा लज्ज।

अनुवाद

सागरिका—हृदय, शान्त हो जा, शान्त हो जा। इस दुर्लभ जन की प्राप्ति के लिए आशा बनाये रखने से क्या फ़ायदा है? इसका परिणाम केवल क्लेश है। एक और बात—यह कैसी मूर्खता है कि यद्यपि उसके दर्शनमात्र से ऐसा सन्ताप होता है तथापि तू उसको फिर देखना चाहता है! निष्ठुर, ऐ निष्ठुर हृदय! क्या तुझे लज्जा नहीं आती कि तू इस जन को छोड़कर जो जन्म से ही तेरे साथ बढ़कर बड़ा हुआ है, एक ऐसे व्यक्ति के पीछे जा रहा है जिसको तूने केवल एक क्षणिक झलक में देखा है? नहीं इसमें तेरा क्या दोष है? तूने कामदेव के बाणों के गिरने से भयभीत होकर ऐसा निश्चय किया। अस्तु, मैं काम-को डांटूंगी। (आँसू बहाती हुई) भगवन् कुसुमायुध! सुर और असुरों को हराने के बाद क्या तुम्हें स्त्रियों पर प्रहार करने में लज्जा नहीं आती? इस दुर्निमित्त से मुझ सर्वथा मन्दभागिनी का मरण अवश्य निकट है। (चित्रफलक को देखती है) इसलिए जब तक कोई दूसरा नहीं आता तब तक इस अभिमत जन को चित्र में बना कर मैं अपने अभिलाष को पूरा करूंगी। (चित्र-फलक को बड़े ध्यान से देखकर आह भरती हुई) यद्यपि संक्षोभ के कारण मेरी उंगली अत्यन्त कांप रही है तथापि उसे देखने का और कोई उपाय नहीं है। इसलिए यथा-कथञ्चित् चित्र बनाकर उसे देखूंगी। (सुसंगता आती है)।

सुसंगता—निःसन्देह यह कदली-गृह है। इसलिए मैं पहिले अन्दर जाऊँगी। (अन्दर जाती है और विस्मय से देखती है)

१—करेसु § ११६। अवरो § १७ (हिन्दी और)।

यह क्या, इसका हृदय उत्कट अनुराग से इतना तन्मय हो रहा है कि चित्र बनाती हुई यह मुझे नहीं देखती । तो पहिले आँख बचाकर वास्तविकता का पता लगाऊँगी। (चुपके चुपके उसके पीछे जाती है और उसके कन्धे के ऊपर से देखती है, प्रसन्न होकर) यह क्या, महाराज का चित्र बनाया गया है? साबाश, सागरिका साबाश ! अथवा कमलाकर को छोड़कर राजहंसनी दूसरे के साथ रमण नहीं करती ।

सागरिका—(आंखों में आँसू भरे हुए) मैंने इसका चित्र बना लिया है। किन्तु मेरी दृष्टि गिरते हुए आँसुओं में डूबकर इसे देख नहीं सकती। कैसे, सुसंगता? सखी सुसंगता, इधर बैठ।

सुसंगता—(निकट आकर और चित्र फलक को देखकर) सखी ! यह तुमने किसका चित्र बनाया है ?

सागरिका—सखी ! भगवान् अनङ्ग का, जिनका महोत्सव मनाया जा रहा है।

सुसंगता—(मुसकराती हुई) अहो ! बलिहारी है तेरी निपुणता की ! किन्तु चित्र सूना जैसा लगता है इसलिए मैं भी इस के पार्श्व में रति का चित्र बनाये देती हूँ । (कूची को लेकर चित्र बनाती है) ।

सागरिका—(चित्र को पहिचान कर, रोष से) क्यों, तूने इस पर मेरा चित्र बनाया है ?

सुसं०—सखी, अकारण क्रोध क्यों करती है ? जैसा तूने कामदेव बनाया है वैसे ही मैंने रति बना दी है । अतएव ये पाखण्डिनी ! तेरे इस प्रलाप का क्या प्रयोजन ? सारा वृत्तान्त कह सुना ।

सा०—(सकुचाती हुई, आप ही आप) अच्छा, तो प्यारी सखी ने मेरे दिल की बात जान ली । (प्रगट) प्यारी सखी, मैं

बहुत लज्जित हूँ। इसलिए ऐसा कर जिससे इस बात को कोई दूसरा न जाने।

सुसं०—सखी न लजा, न लजा।

उद्धरण नं० ३

शौरसेनी।

यह उद्धरण पिशल के द्वारा सम्पादित (१८७७) बंगाल संस्करण से लिया गया है, पृष्ठ २६ (अङ्क २, आरम्भ)। साधारण देवनागरी वाचनाओं के साथ इसकी तुलना करने से मालूम होगा कि मूल-पुस्तक में अन्धाधुन्ध हेरफेर किया गया होगा। यहाँ राजा अपने हाथ में धनुष धारण किये हुए है और वनपुष्पों की माला पहिने हुए है, दूसरे विवरण में वह यवनस्त्रियों से (जवनीहिं) परिवारित है जो धनुष धारे और फूल पहिने हुई हैं। वहाँ राजा अपनी प्रेमिका के चिन्तन में जाग कर रात बिताता है, यहाँ राजा नहीं किन्तु विदूषक है जो सो नहीं सकता, यद्यपि वह निद्रा की गोद में विश्राम लेने की चेष्टा में व्यग्र है।

शकुन्तला के दूसरे अङ्क में विदूषक मृगयाशील राजा के वयस्यभाव के कारण होनेवाले अपने दुःखों का वर्णन करता है।

ही माणहे[1], हदो म्हि, एदस्स मिअआ-सीलस्स[2] रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो। 'अअं मओ[3], अअं वराहो' त्ति मज्झन्दिणे

१—ही माणहे, खेद-सूचक शब्द जो साहित्यकारों के मतानुसार विदूषक के मुँह से निकलता है। पाठान्तर-ही ही भो; यह विस्मय-सूचक है।

२—मिअआ=मृगया "शिकार"। रण्णो § ६६। णिव्विण्ण=निर्विण्ण। (निर्+विद्)।

३—मओ="मृग"। मज्झंदिणे, तुलना करो § ६६। गिम्हे=ग्रीष्मे § ४७। पादव='पेड़' § १७।

वि गिम्हे विरल-पादव-च्छाआसु वण-राईसु[1] आहिण्डिअ, पत्त-संकर कसाअ-विरसाइं[2] उण्ह-कडुआइं पिज्जन्ति गिरिणई-सलिलाइं। अणिअद-वेलं[3] च उण्हुण्हं मंसं भुञ्जीअदि। तुरअ-गआणं च सद्देण रत्तिं[4] पि णत्थि पकाम-सुइदव्वं।

महन्ते ज्जेव पच्चूसे[5] दासीए पुत्तेहिं[6] साउणिअ-लुद्धेहिं कण्णो-वघादिणा[7] वणगमण-कोलाहलेण पबोधीआमि[8]। एत्तिकेणावि[10] दाव पीडा ण वुत्ता जदो गण्डस्स उवरि विप्फोडओ संवुत्तो। जेण[11]

१—वणराईसु='जंगली पगडण्डियों में'। आहिण्डिअ 'भटक कर' हिण्ड् 'भटकना' धातु प्राकृतिक शायद अनार्य धातु है, तुलना करो, आहिण्डअ 'पथिक' (मृच्छकटिक)।

२—पत्त='पता' § ४५। संकर 'मिश्रण'। उण्ह=उष्ण § ४७। कडुअ कटुक। पिज्जन्ति=पिये जाते हैं (कर्मवाच्य)।

३—अणिअद=अनियत (√यम्)। भुञ्जीअदि='खाया जाता है (कर्मवाच्य)।

४—रत्तिं पि, कालावधि-सूचक कर्मकारक 'रात भर' पाठान्तर रत्तिम्मि वि 'रात को भी'। सुइदव्वं=प्रा० सुविदव्वं, सुवदि (सोता है) क्रिया से।

५—पच्चूसे='सुबह' तुलना करो § ४४। साउणिअ=(शाकुनिक)–लुद्ध=(लुब्ध, अधिक प्रचलित रूप लुब्धक), 'चिड़ीमार', 'शिकारी'।

६—कानों को फाड़ने वाला; कण्ण=कर्ण, तुलना करो, पं० कन्न, हिं० कान। वणगमण (चिड़ीमारों का), 'तपस्वियों का नहीं।' पाठान्तर वणग्गहण "जंगल को घेरना और जीवों को बाहर न निकलने देना", यह पाठ अच्छा अर्थ देता है।

७—पबोधीआमि=(कर्मवाच्य) 'जगाया जाता हूँ'।

८—शौ० एत्तिक, एत्तिअ=एतावत्। वुत्ता= (वृत्ता) 'समाप्त हुई'"। विप्फोडओ=विस्फोट (क), "फोड़ा"।

९—पाठान्तर हिओ=ह्यस्, कल § ५८। अम्हेसुं, सप्तमी बहु० § १०६, अनुस्वार वैकल्पिक है।

१०—दासीपुत्र गाली है, जैसे हिं० हराम जादा, पं० कंजर दा पुत्त।

११—पाठ,–ग्गहण।

किल अम्हेसुं अवहीणेसुं तत्थभवदा मआणुसारिणा अस्समपदं पविट्ठेण[1] मम अधण्णदाए सउन्तला णाम कावि तावसकण्णा दिट्ठा। तं पेक्खिअ सम्पदं णअर-गमणस्स कन्धं[2] पि णं करेदि। एदं ज्जेव चिन्तअन्तस्स मम पहादा[3] अच्छीसुं रअणी। ता का गदी? जाव णं किदाआरपरिकम्मं[4] पिअवअस्सं पेक्खामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एसो बाणासण-हत्थो हिअ-णिहिद-पिअ-अणो वण-पुप्फ-मालाधारी इदो ज्जेव आअच्छदि पिअवअस्सो। भोदु अङ्ग-मद्द-विअलो[5] भविअ चिट्ठिस्सं, एवं पि णाम विस्सामं[6] लहेअं। (दण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थितः)।

अनुवाद

ऊः! मैं इस मृगयाशील राजा के वयस्य-भाव से तंग आ गया हूँ। 'यह मृग है, यह सुअर है' इस प्रकार ग्रीष्म के मध्याह्न समय भी ऐसे वन मार्गों में भटक कर, जहाँ प्रायः कोई छाया वृक्ष नहीं हैं, पत्तों के मेल से कसैले गिरि-नदियों का नीरस

१—पविट्ठ=(प्र+विश्)। अधण्णदा='अधन्यता' § ४८। शुद्ध पाठ सउन्तला है, न कि सउन्दला।

२—कधं=कहानी § १३ (कथाम्)।

३—पहादा=प्रभाता (प्र+भा)। 'प्रभात हो गई'। अच्छीसु, सप्तमी बहु०, § ३१।

४—किद § १२५, आआर=(आचार), परिकम्मो=नित्यकर्म।

५—मद्द=मृद 'मर्दन, मुरकना'' पाठान्तर भङ्ग। विअलो=(विकलो)। लङ्गडा।

६—विस्सामं=विश्राम। लहेअं, विधिलिङ् उ० पु० एकव० §११७ (२) लभ्।

कड़ुवा जल पीना पड़ता है । अनियत समय जला भुना मांस खाना पड़ता है। हाथी घोड़ों के कोलाहल से रात को भी मन भर कर सोना नहीं मिलता। सुबह बड़े तड़के दासीपुत्र चिड़ीमार मुझे जंगल को घेरने के कर्ण भेदी कोलाहल से जगा डालते हैं । और यह सब कुछ होते हुए भी मेरे क्लेशों का अन्त नहीं हो पाता, क्योंकि फोड़े के ऊपर यह एक और फुन्सी निकल आई है। क्योंकि (कल) हमें पीछे छोड़ जाने के बाद महाराज हिरन का पीछा करते करते एक आश्रम में जा निकले और मेरे दुर्भाग्य से उनकी दृष्टि शकुन्तला नाम की तापस कन्या पर पड़ी । जब से उन्होंने उसको देखा है वे नगर को लौटने का नाम तक नहीं लेते । मैं इसी विचार में पड़ा हुआ था कि मेरी आँखों में ही रात कट गई। तो अब क्या हो सकता है? चलकर अपने सखा के दर्शन करता हूँ जो स्नानादि नित्य कर्म से निवृत्त हो चुके हैं। (घूमकर ऊपर को देखता है) ये हाथ में धनुष लिये हृदय में प्रियजन को रक्खे और गले में जंगली फूलों का हार पहिने वे आ रहे हैं । अच्छी बात, अङ्ग अङ्ग के टूटने की विकलता दिखलाकर खड़ा हो जाता हूँ। इस तरह शायद विश्राम मिल जाय । (लाठी पर झुककर खड़ा होता है)

———

उद्धरण ४

शौरसेनी

राजा के सामने शकुन्तला, जिसे वह भूल गया है।

अङ्क ५[1] (स्वगतम्) इमं अवत्थंतरं[2] गदे तादिसे अणुराए

१—पिशल् का संस्करण, पृ० १०४ । तुलना करो मोनियर् विलियमस् पृ० २०३।

२—अवस्थान्तरम्, बदली हुई दशा।

किं वा सुमराविदेण[1]। अध वा अत्ता दाणिं मे सोधणीओ[2]। भोदु, ववसिस्सं[3]। (प्रकाशम्) अज्जउत्त,—(अर्द्धोक्ते) अध वा संसइदो[4] दाणिं एसो समुदाआरो[5]। पोरव! जुत्तं णाम[6] तुह पुरा अस्समपदे सब्भावु-त्ताण-हिअअं[7] इमं जणं तधा समअ-पुव्वं[8] सम्भाविअ संपदं ईदिसेहिं अक्खरेहिं पच्चाचक्खिदुं[9]।

राजा हैरानी और रोष की हालत में[10]।

शकुन्तला आगे कहती है—

भोदु। परमत्थदो[11] जइ पर-परिग्गह-सङ्किणा तए एदं पउत्तं ता अहिण्णाणेण[12] केण वि तुह[13] संदेहं अवणइस्सं।

१—सुमरेदि धातु का णिजन्त क्रान्त रूप।

२—सोधणीओ-शुध्+णिच्+अनीय। पाठान्तर सोअणीओ=शोचनीय।

३—ववसिस्सं-वि+अव+सो का लृट् रूप, 'मैं निश्चय करूँगी'। टीका में 'रहस्य की बात कहना' दिया गया है। अज्जउत्त § २।

४—संशयित "संशयात्मक" (सम+शी) शायद 'कोशिश करूँगी।"

५—समुदाचारो "उचित संबोधन" अर्थात् "अज्जउत्त" शब्द। नाटकों में स्त्री अपने पति को इसी शब्द से संबोधन करती है। यह शब्द और सम्बन्ध में भी व्यवहृत होता है।

६—जुत्तं णाम "यह तो ठीक ही है" § ३४। पाठान्तर-ण जुत्तं णाम।

७—"स्वभाव से शुद्ध और सरल हृदय वाली"

८—समयपूर्वम्, समय=क़ौल। संभाविअ का पाठान्तर पतारिअ "धोखा देकर"। अक्खर=अक्षर।

९—प्रति+आ+चक्ष् प्रत्याख्यान करना।

१०—शौरसेनी संवादों के बीच जो संस्कृत वाक्य थे वे छोड़ दिये गये हैं।

११—परमार्थत: 'वास्तव में'। जइ शौरसेनी में जदि भी होता है § १। परिग्गह 'परिग्रह'=पत्नी। पउत्तं=प्रयुक्तम् § १२९ (युजू)।

१२—निशानी। शौरसेनी में इस नाटक का नाम अहिण्णाण-सउन्तलं होगा।

१३—पिशल का पाठ तव। सन् १९०० में उन्हें भी 'तुह' पाठ प्राप्त होता। तुलना करो ग्रामर § ४२१।

[राजा 'प्रथम समय' के सम्बन्ध में व्यावहारिक शब्द कहता है]।

हद्धी ! हद्धी ! अंगुलीअअ-सुएणा[1] में अंगुली । (सविषादं गौतमीमुखमीक्षते)।

गौतमी--जादे[2] णं दे सक्कावदारे सचीतित्थे[3] उदअं वन्दमाणाए पब्भट्टं अंगुलीअअं।

[राजा स्त्रियों की चतुराई पर मुसकराता है]।

शकु०—एत्थ[4] दाव विहिणा दंसिदं पहुत्तणं[5], अवरं दे कधइस्सं[6]।

[राजा अब भी सुनने के लिए इच्छुक है]

णं एक्कदिअसं वेदस-लदा-मण्डवए णलिणी-वत्त-भाअणगदं[7] उदअं तुह हत्थे संणिहिदं आसी[8]।

[राजा अब भी सुनता है]।

तक्खणं सो मम पुत्त-किदओ मअ-सावओ[9] उवत्थिदो। तदो तए अअं दाव पढमं[10] पिवदु त्ति अणुकम्पिणा उवच्छन्दिदो। ण उण दे अवरिचिदस्स[11] हत्थादो उदअं अवगदो पादुं। पच्छा तस्सिं

१—"अंगूठी से सूनी।"

२—जाद "पुत्र"!

३—शक्रावतारे शचीतीर्थे। पब्भट्टं=गिरगयी (प्र+भ्रंश्)।

४—एत्थ "यहाँ" § ७०।

५—=(प्रभुत्वम्); त्तणं, इसकी उत्पत्ति-त्वनं से है।

६—कधइस्सं § १३४।

७—कमल के पत्तों के "दोने में"।

८—आसी § १३३।

९—=तत्त्वणम्। पुत्तकिदओ "गोद लिया हुआ बच्चा"। इस समास में पदव्यत्यय है। मअसावओ=मृगशावकः "हरिण का बच्चा"।

१०—पढमं § २०। उवच्छन्दिदो (उप+छन्द्) "पुचकार कर बुलाया गया"।

११—अवरिचिद=अपरिचित (अ+परि+चि)।

ज्जेव्व उदए मए गंहिदे[1] कदो तेण पणश्रो[2]। पत्थन्तरे विहासिश्र भणिदं तए। "सव्वं सव्वो सगन्धे वीससदि[3], जदो दुवे वि तुम्हे आरण्णकाश्रो" त्ति।

[राजा दयार्द्र होजाता है, परन्तु सोचता है कि ये "झूठे और मधुर वचन हैं", और गौतमी के साग्रह वचन कहने पर कोकिला के कपट-सूचक श्लोक से उत्तर देता है—स्त्रियों के कपट का तो कहना ही क्या!]

शकुन्तला-(सरोषम्)-अणज्ज ! अत्तणो हिश्रश्राणुमाणेण किल सव्वं पदं पेक्खसि। को णाम अण्णो धम्म-कञ्चुअ-ववदेसिणो[4] तण-च्छण्ण-कुवोवमस्स तुह अणुकारी भविस्सदि।

[राजा कहता है—दुष्यन्त के कार्य भली भांति प्रसिद्ध हैं, यह सब निरर्थक है]

शकु०-सुट्ठु। दाणिं अत्तच्छन्दाणुआरिणी संवुत्त म्हि जा इमस्स पुरु-वंसस्स पच्चएणं[5] मुह-महुणो हिश्रश्र-पत्थरस्स हत्थब्भासं उवगदा (पटान्ते मुखमावृत्य रोदिति)।

अनुवाद

शकुन्तला—(आप ही आप) जब वह स्नेह ही न रहा तो

१—गहिद § १२५।

२—पणश्रो=प्रणयः "विश्वास" (प्र+नी)।

३—वीससदि=प्रा० विस्ससदि (वि+श्वस्) तुलना करो § ६३। धम्म § ४८।

४—ववदेसिणो=छली का (वि+अप+दिश्)। छण्ण "छन्न"=छिपा हुआ।

५—पच्चश्र=(प्रत्यय)। पत्थरस्स, तुलना करो हिन्दी 'पत्थर" (प्र+स्तृ)। अब्भासं=अभ्यासं, "निकटता इत्यादि" के अर्थ में कभी कभी अभ्यासं भी लिखा जाता है।

अब सुध दिलाने से क्या प्रयोजन ? फिर भी मुझे लोकापवाद से बचने के लिये अपनी सफाई देनी होगी। अच्छा, तो मैं कोशिश करूंगी। (प्रगट) आर्यपुत्र ! (आधा कह कर रुक जाती है) अथवा यह शिष्टाचार इस समय अनुचित है। पौरव, क्या तुमको यह उचित है कि उस समय तपोवन में मुझ सीधे स्वभाववाली को प्रतिज्ञाओं से फुसलाकर मेरे साथ समागम करने के पश्चात् अब तुम ऐसे शब्दों से मेरा प्रत्याख्यान करते हो ?

ऐसा ही सही। यदि सचमुच तुम समझते हो कि मैं पराई स्त्री हूँ और इस कारण तुमने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया है तो मैं तुम्हारे सन्देह को एक स्मृति चिन्ह से दूर किये देती हूँ—अफ़सोस ! मेरी उंगली पर अंगूठी नहीं है। (विषाद से गौतमी का मुँह ताकती है)।

गौतमी—पुत्री निस्सन्देह शक्रावतार के निकट शचीतीर्थ में जल की बन्दना करते समय तेरी मुँदरी गिर गई होगी।

शकुन्तला—यह तो विधाता ने अपना बल दिखलाया किन्तु अभी एक बात और कहूँगी—एक दिन माधवी कुञ्ज में तुम अपने हाथ में कमल के पत्तों के दौने में पानी लिये हुए थे। उसी क्षण मेरा पाला हुआ मृगछौना आया। तुमने बड़े प्यार से कहा-आ छौने, पहिले तू ही पीले। उसने तुम्हें परदेशी जान तुम्हारे हाथ से जल नहीं पिया। फिर उसी पत्ते से मैंने पिलाया तो उस ने प्रेम से पी लिया। तब तुम हंसे और तुमने कहा—"सचमुच सब कोई अपने आत्मीय को पतियाता है, तुम दोनों ही एक ही बन के वासी हो।"

अनाड़ी ! तू अपना सा कुटिल हृदय सबका जानता है। तुझ सा छलिया कौन होगा जो घास फूंस से ढके हुए कुंए की भाँति धर्म का वेष रखता है।

उद्धरण नं० ५

शौरसेनी

कर्पूरमञ्जरी अङ्क ४

चरित्र-नायिका कर्पूरमञ्जरी रानी के महल के एक कमरे में बंद की गई है। किन्तु इस कमरे से महल के उद्यान तक एक सुरङ्ग है। रानी ने इस सुरङ्ग के उद्यान वाले द्वार को बन्द करवा दिया है।

सारङ्गिका राजा के पास प्रवेश करती है और विदूषक रानी से सन्देश लेकर उसके पास आता है।

सारङ्गिका--(पुरतोऽवलोक्य) एसो महारावो मरगद-पुञ्जादो[1] कअली-घरं अणुप्पविट्ठो। ता गदुअ देवीए विण्णाविदं[2] णिवेदेमि। (उपागच्छति) जअदु जअदु भट्टा। देवी विण्णवेदि जधा साअंस-मए[3] तुम्हे मए परिणायिदव्वे[4] त्ति।

विदूषक--भोदि किं एदं अकण्ड-कुम्भण्ड-पडणं[5]?

राजा--सारङ्गिए सव्वं वित्थरेण कधेसु।

सारङ्गिका--एदं विण्णवीअदि[6]। अणन्तरादिक्कन्त-चउद्दसी-दिवसे देवीए पोम्म-राअ-मई गोरी भेरवानन्देण कदुअ पडिट्ठा-

---

१-मरगद § १२। " मरकतपुञ्ज " प्रत्यक्षतः किसी आसन या कुञ्ज का नाम है, जहाँ से राजा कर्पूरमञ्जरी को हिंडोले पर झूलती देखा करता था। अणुप्पविट्ठो (अनु+प्र+विश्)।

२-णिजन्त क्तान्त (वि+ज्ञा)।

३-साअंसमये " सांझ समय "।

४-णिजन्त-विधि-कृदन्त (परि+नी)।

५-अकण्ड (अकाण्ड) 'अनपेक्षित' कुम्भण्ड 'सफेद तुम्बी' § ६२। लेनमैन इसका अनुवाद करते हैं—" विमल आकाश से तरबूजों की बौछार।"

६-' णिजन्त कर्मवाच्य।

७-'चौदहवें दिन जो अभी बीता है'। पोम्म § ३६ 'लालों का बना हुआ'।

विदो। अण्णं च दिक्खा[2]-विहि-प्पविट्ठाए देवीए विण्णत्तो[3] जोईसरो गुरु-दक्खिणा-णिमित्तं। भणिदं च तेण "जइ अवस्सं दक्खिणा दाद-व्वा, ता एसा दीअदु[4]।" तदो देवीए विण्णत्तं। "जं आदिसदि भअवं" त्ति। पुणो वि उल्लविदं[5] तेण। "अत्थि एत्थ लाडदेसे चण्ड-सेणो णाम राआ तस्स दुहिदा घण-सार-मञ्जरि त्ति। सा देव्व-ण्णएहि[6] णिद्दिट्ठा जधा एसा चक्कवट्टि-घरिणी[7] भविस्सदि त्ति। तदो सा महारायेण परिणेदव्वा[8] जेण गुरुस्स[9] वि दक्खिणा दिण्णा भोदि, भट्टा वि चक्क-वट्टी किदो भोदि।" तदो देवीए विहसिअ भणिदं "जं आदिसदि भअवं" ति। अहं च विण्णवेदुं पेसिदा। गुरु-दक्खि-णा वि दिण्णा।

विदूषक—(विहस्य) एदं तं सीसे सप्पो, देसन्तरे वेज्जो[10]। इध अज्ज विवाहो, लाडदेसे घणसार-मञ्जरी !

राजा—किं दे भेरवाणन्दस्स पहावो परोक्खो[11] ?

१– णिजन्त क्रान्त (प्रति+स्था)।

२–दिक्खा 'दीक्षा' विहि 'विधि' प्पविट्ठ (प्र+विश्) 'आरम्भ किया गया।'

३–विण्णत्तो 'परामृष्ट' (=विज्ञप्त), जोईसरो 'जादूगर'–योगेश्वर। दक्खिणा 'दक्षिणा'

४—दीअदु कर्मवाच्य आज्ञा 'दिया जावे'।

५—(उत्+लप्)

६—देव्वण्णअ 'दैवज्ञ' (दैवज्ञ+क), निद्दिट्ठा (नि+दिश्)।

७—घरिणी 'पत्नी' चक्कवट्टी 'चक्रवर्ती'।

८—ब्याही जानी चाहिये।

९—गुरुस्स § ६०। दिण्ण § १२५। विण्णवेदुं "सूचना देने को"।

१०—कहावत "सांप सिर पर, और वैद्य दूर देश में", वेज्जो=वैद्य § ६१।

११—पहावो, "प्रभाव" (प्र+भू), परोक्ख 'परोक्ष'।

सारंगिका—देवीए कारिदं पमदुज्जाणस्स[1] मज्झ-ट्ठिद-वड-तरु-मूले चामुण्डा-अदणं[2] । भेरवाणन्दो वि देवीए समं तहिं आगमिस्सदि । तग्गदे[3] अ तक्खण-विहिदे कोदुअ-घरे विवाहो भविस्सदि (परिक्रम्य निष्क्रान्ता) ।

राजा—वअस्स ! सव्वं एदं भेरवाणन्दस्स विअंभिदं[4] ति तक्केमि ।

विदूषक—एवं णेदं[5] । ण हु मअ-लंच्छणं[6] अन्तरेण अण्णो मिअङ्क-मणि-पुत्तलिअं[7] पज्झरावेदि सेहालिआकुसुमुक्करं वा करेदि ।

(ततः प्रविशति ऐन्द्रजालिको भैरवानन्दः) ।

भैरवानन्द—इअं सा वडतरुमूले णिब्भिण्णस्स[8] सुरंगा-दुवारस्स पिधाणं चामुण्डा । (तामाराधयितुं हस्तौ प्रसारयति महाराष्ट्रीमाश्रित्य श्लोकमेकञ्च पठति) । " जयतु काली " इत्यादि (प्रविश्य उपविशति) अज्ज वि ण निग्गच्छदि सुरंगा-दुआरेण कप्पूरमञ्जरी ।

(सुरंगामुखे छिद्रं विधाय कर्पूरमञ्जरी प्रविशति) ।

कर्पूरमञ्जरी—भअवं पणमामि[9] !

१—' प्रमदोद्यान ' (प्र+मद्), मज्झ § ४४,-ट्ठिद् §§ ३८, १२५ ।

२—आअदणं ' धर्मस्थान ' (आयतनं), तहिं § २६ ।

३—तग्गदे=संस्कृत तद् गते, कोदुअ=कौतुक ।

४—विअम्भिदं ' प्रपञ्च, षड्यन्त्र ' (वि+जृम्भ्) । तक्केमि § ४५ ।

५—णु+इदं ।

६—' चन्द्रमा ' (मृग-लाञ्छन) ।

७—मिअङ्कमणि ' चन्द्रकान्तमणि ', पुत्तलिआ ' पुतली ', पज्झरावेदि ' चुवाता है ' णिजन्त (प्र+क्षर्) § ४० । सेहालिआ (=शेफालिका), उक्कर ' ढेर ' ।

८—णिब्भिण्ण (निर्+भिद्), दुआर ' दरवाज़ा ' § ५७ ।

९—(प्र+नम्) ।

भैरव—उइदं[1] वरं लहसु। इध ज्जेव्व उवविस।

(कर्पूरमञ्जरी उपविशति)

भैरव—(स्वगतम्) अज्ज वि ण एदि देवी।

(ततः प्रविशति राज्ञी)

रानी—(परिक्रम्य पुरतोवलोक्य) इअं भअवदी चामुण्डा (परिणमति) (ततः परितोऽवलोकयन्ती) इअं कप्पूरमञ्जरी। ता किं णेदं? (भैरवानन्दं प्रति) इदं विण्णवीअदि, णिअ-भवणे[2] विवाह-सामग्गिं कदुअ आअदम्हि। ता गेण्हिअ[3] आगमिस्सं।

भैरव—वच्छे एवं करीअदु।

(राज्ञी निष्क्रमणं नाटयन्तीव परिक्रामति)।

भैरव—(विहस्य स्वगतम्) इअं कप्पूरमञ्जरी-ठाणं अण्णेसिदुं[4] गदा।

(प्रकाशम्) पुत्ति कप्पूरमञ्जरि सुरङ्गा-दुआरेण ज्जेव तुरिद-पदं[5] गदुअ सट्ठाणे चिट्ठ। देवीए आगमणे पुणो आगन्तव्वं।

(तथा करोति)

रानी—इदं रक्खा-घरं[6]। (प्रविश्य परितोवलोक्य)

(स्वगतम्) अए, इअं कप्पूरमञ्जरी! सा का वि सारिक्खा[7]

१—उचितम्। लहसु § ११६, नोट २ (लभ्), उवविस (उप+विश्)।

२—विण्णवीअदि णिजन्त कर्मवाच्य (वि+ज्ञा)। णिअ-भवणे 'स्वयं मेरे घर में'।

३—गेण्हिअ गेण्हदि (ग्रह्) का क्त्वान्त रूप, वच्छा 'लड़की' (=वत्सा)।

४-'ढूँढना'

५—'तेज चाल से' § ७५। गदुअ § १२२। सट्ठाणे स्वयं तुम्हारे कमरे में, तुलना करो § २०।

६—रक्षा-गृहम्।

७—सारिक्खा 'सदृश' §§ ६६, ५०।

दिट्ठा। (प्रकाशम्) वच्छे कप्पूरमञ्जरी कीदिसं दे सरीरं?

(आकाशभाषितम्) किं भणासि मह सिरो-वेअणा समुप्पण्ण त्ति। (स्वगतम्) ता पुणो तहिं गमिस्सं। (प्रविश्य समन्तादवलोक्य) हला सहिओ विवाहोवअरणाइं लहुं गेण्हिअ आअच्छध (परिक्रामति)।

(कर्पूरमञ्जरी प्रविश्य यथापूर्वमुपविशति)।

रानी—(पुरतोऽवलोक्य) इअं कप्पूरमञ्जरी।

भैरव—वच्छे विब्भमलेहे आणीदाइं विवाहोवअरणाइं?

रानी—अध इं! किं उण घणसारमञ्जरी-समुइदाइं आहरणाइं विसुमरिदाइं। ता पुणो गमिस्सं।

भैरव—एवं भोदु।

[राज्ञी निष्क्रमणं नाटयन्ती]

भैरव—पुत्ति कप्पूरमञ्जरि तं जेव करीअदु।

[निष्क्रान्ता कर्पूरमञ्जरी]

रानी—(कारागारप्रवेशं नाटयन्ती कर्पूरमञ्जरीमवलोक्य) अए! सरिक्खदाये विणडिदम्हि। (स्वगतम्) झाणविमाणेण खिडिविग्घं परिसप्पिणा तं आणेदि जोईसरो। (प्रकाशम्) सहीओ जं जं णिवेदिदं तं गेण्हिअ आअच्छध। (चामुण्डामन्दिरं प्रति निवर्तनं नाटयन्ती कर्पूरमञ्जरीमवलोक्य) अहो सारिक्खदा!

१-कीदिस § ७०।

२—सिरो-वेअणा 'सिर दर्द', शिरो वेदना।

३—उवअरण=उपकरण § १७। लहुं 'तेजी से' (=लघु)।

४—(आ+नी)।

५—आहरण 'आभरण', विसुमरिद 'विस्मृत', तुलना करो सुमरदि § ५७।

६-लोट्, कर्मवाच्य।

७-विणडिदा "विकल" (णड्, प्राकृत धातु)। झाण 'ध्यान',

भैरव—देवि उवविस, महाराओ वि आअदो ज्जेव वट्टदि।

अनुवाद

सारंगिका—(सामने देखकर)ये महाराज तो मरकत के कुञ्ज में कदली गृह के अन्दर बैठे हैं। सो जाकर राजा को विज्ञापनीय (बात) निवेदन करती हूँ। (निकट जाकर) महाराज की जय हो! महारानी कहती हैं कि हम सांझ को तुम्हारा विवाह करेंगे।

विदूषक—अरी यह आकस्मिक श्वेत कद्दुओं का गिरना क्या?

राजा—सारङ्गिका, सारी बात विस्तार से कहो।

सारङ्गिका—यह विज्ञापनीय निवेदन करती हूँ। गत चतुर्दशी के दिन देवी ने भैरवानन्द द्वारा पद्मराग मणि की गौरी बनवा कर प्रतिष्ठापित की थी और यह योगीश्वर दीक्षा विधि में तत्पर महारानी द्वारा गुरुदक्षिणा के लिए विज्ञापित किया गया था। इस पर उसने कहा–'यदि अवश्य दक्षिणा देनी ही है तो लाइए, दीजिए।' तब महारानी ने कहा—'जो भगवान् आज्ञा करते हैं वही होगा'। उसने फिर कहा—'लाट देश में चन्द्रसेन नाम का एक राजा है। उसकी कन्या घनसारमञ्जरी के विषय में ज्योतिषियों ने बताया है कि वह चक्रवर्ती राजा की गृहिणी होगी। इसलिए उसका महाराज से विवाह होना चाहिए जिससे गुरु की दक्षिणा भी दी जावे, साथ में महाराज भी चक्रवर्ती बन जावें'। तब महारानी ने हंस कर कहा—'जो भगवान् की आज्ञा है वही हो। मैं आपको सूचना

'जादू' § ४४ णिव्विग्घं 'निर्विघ्न' § ३६। वट्टदि § ४५। इस प्रकार की थोड़ा बहुत निष्प्रयोजन "होना" क्रियाओं में हम सहायक क्रियाओं की उत्तरकालीन प्रथा के आरम्भों को पाते हैं। आअदो वट्टदि, तुलना करो आ गया है; दिण्णो भोदि—तुलना करो, दिया है; किदो भोदि—तुलना करो, किया है।

देने के लिए भेजी गई हूँ। गुरुदक्षिणा भी दे दी गई है।

विदूषक—(हंस कर) इधर यह सिर पर सांप है और वैद्य कहीं दूर देश में है। इधर आज विवाह, और लाट देश में घन-सारमञ्जरी !

राजा--तुझे इस से क्या, भैरवानन्द के प्रभाव से सब कुछ परोक्ष है।

सारङ्गिका—महारानी ने प्रमदोद्यान के मध्य में स्थित वटवृक्ष के नीचे चामुण्डा का मन्दिर बनवाया है। भैरवानन्द भी महारानी के साथ वहाँ आयेगा। और उसी क्षण कौतुकगृह के बन जाने के पश्चात् उसी के अन्दर विवाह होगा। (जाती हैं)

राजा--मित्र ! मेरा विचार है कि यह सब भैरवानन्द का ही प्रभाव है।

विदूषक—ठीक है। चन्द्र को छोड़ कर चन्द्रकान्तमणि की मूर्त्ति को कौन द्रवित करता है अथवा शेफालिका-कुसुम स्तवक को बनाता है।

[भैरवानन्द जादूगर का प्रवेश]

भैर०—इस वट के मूल में सुरङ्ग के दरवाज़े पर चामुण्डा की मूर्त्ति है। (आराधना करने के लिए हाथ फैलाता है और महाराष्ट्री में एक श्लोक पढ़ता है "काली की जय हो" इत्यादि, प्रवेश करके बैठ जाता है) अभी तक सुरङ्ग-द्वार से कर्पूरमञ्जरी नहीं निकली !

[सुरङ्ग के मुख पर छेद करके कर्पूरमञ्जरी प्रवेश करती है]

कर्पू०—भगवन्, प्रणाम करती हूँ।

भैर०—योग्य वर पाओ। आओ, यहाँ बैठो।

[कर्पूरमञ्जरी बैठ जाती है]

भैर०—(आप ही आप) अभी तक महारानी नहीं आई !

(रानी का प्रवेश)

रानी—(आगे होकर उसकी तरफ़ देखती है) अरे, यही भगवती चामुण्डा है (झुक कर इधर उधर देखती है) और यह कर्पू-

रमञ्जरी है। तो यह सब क्या है? (भैरवानन्द के प्रति) प्रार्थना है कि मैं अपने घर में विवाह-सामग्री तय्यार कर आई हूँ सो उसे ले आती हूँ।

भैर०—बेटी, ऐसा ही करो।

[रानी जाने का नाट्य करती हुई घूमती है]

भैर०—(हंस कर) यह कर्पूरमञ्जरी का स्थान ढूंढने गई है। (प्रकट) बेटी कर्पूरमञ्जरी सुरङ्ग द्वार से शीघ्र जाकर अपने स्थान पर ठहर। महारानी के आने पर फिर आ जाना।

[कर्पूरमञ्जरी ऐसा ही करती है]

रानी—यह रक्षा-गृह है। (प्रवेश करके चारों ओर देख कर आप ही आप) अहो यह कर्पूरमञ्जरी है! यह बहुत बुरी हालत में दिखाई देती है। (प्रकट) पुत्री कर्पूरमञ्जरी, तेरा शरीर कैसा है? (आकाश में) क्या कहती है कि बड़ी भारी शिरोवेदना हो रही है। (आप ही आप) तो फिर वहीं चलती हूँ। (प्रवेश कर के चारों ओर देखती है) प्यारी सखियो, विवाह-सामग्री शीघ्र ले आओ। (घूमती है)

[कर्पूरमञ्जरी प्रवेश करके पहिले ही की भांति बैठ जाती है]।

रानी—(देखकर) यह कर्पूरमञ्जरी है।

भैर०—पुत्री विभ्रमलेखा, क्या विवाह-सामग्री ले आई हो?

रानी—और क्या? परन्तु घनसारमञ्जरी के योग्य आभरण लाना भूल गई। सो फिर जाती हूँ।

भैर०—ऐसा ही हो।

[रानी बाहर निकल जाने के बहाने नृत्य के साथ]।

भैरव—पुत्री कर्पूरमञ्जरी फिर वैसा ही करो।

[कर्पूरमञ्जरी का प्रस्थान]।

रानी—(बन्दीगृह में प्रवेश करने के बहाने कर्पूरमञ्जरी की ओर देखकर) अहो! मैं सदृशता के कारण भ्रम में पड़ गई हूँ।

(आप ही आप)।

(प्रकट) सखिओ जो कुछ तुम्हें कहा है वही लेकर आओ । (चामुण्डा के मन्दिर में जाने का बहाना करके कर्पूरमञ्जरी को देखती है) अहो !

भैर—देवि बैठो। महाराज भी आते होंगे।

उद्धरण नं० ६।

शौरसेनी]

कर्पूरमञ्जरी अंक २।

श्लेषपूर्ण शैली का नमूना—विदूषक अपने स्वामी के प्रेम-ज्वर का वर्णन करता है।

एसो पिअवअस्सो हंसो विअ मुक्कमाणसो[1], करी विअ मअ-क्खामो[2], मुणालदण्डो[3] विअ घणघम्ममिलाणो[4], दिणदिण्णदीवो[5] विअ विअलिदच्छाओ[6], पभाद-पुण्णिमा-चन्दो विअ पण्डुर-परि-क्खीणो चिट्ठदि।

१—(क) 'शून्यहृदय' (ख) 'मानस (झील) को छोडकर'।

२—(क) 'काम से दुर्बल' (राम) (ख) मद से दुर्बल (हाथी)'।

३—मुणाल § ६०।

४—(क) 'अत्यधिक काम से क्षीण' (ख) 'अत्यधिक धूप से कुम्ह-लाया हुआ' मिलाण § ४७।

५—'दिन के समय दिया गया प्रदीप' अनुप्रास को देखो 'दिन के समय प्रज्वलित दीपक की भान्ति'।

६—विअलिद 'विगलित-चली गई' (वि+गल्)। छाआ (क) रंग (ख) प्रकाश।

अनुवाद

यह शून्यहृदय प्यारे मित्र मानस (झील) को छोड़े हुए हंस के समान, दुर्बल मद-रहित हाथी के समान मद-क्षाम मुरझाए हुए कमल की डण्डी की नाईं अत्यधिक काम-ज्वर से क्षीण, दिन के समय प्रज्वलित दीप की भान्ति शोभा रहित प्रातःकाल के पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान कान्ति रहित और उदास होकर बैठे हैं।

उद्धरण नं० ७

शौरसेनी

मृच्छकटिक अङ्क ६

वसन्त सेना और एक चेटी

चेटी—कधं अज्ज वि अज्जआ ण विबुज्झदि[1]। भोदु। पविसिअ पडिबोधइस्सं। (इति नाट्येन परिक्रामति)।

(ततः प्रविशति आच्छादितशरीरा प्रसुप्ता वसन्तसेना)।

चेटी—उत्थेदु[2] उत्थेदु अज्जआ ! पभादं संवुत्तं।

वसं०—(प्रतिबुध्य) कधं[3] रत्ति ज्जेव पभादं संवुत्तं ?

चेटी—अम्हाणं एसो पभादो। अज्जआए उण रत्ति ज्जेव।

वसं०—हञ्जे[4], कहिं उण तुम्हाणं जूदिअरो ?

१—अज्जआ 'आर्या'। विबुज्झदि 'जागती है' (वि+बुध्)।

२—उत्थेदु 'उठे' (उत्+स्था)। पभादं 'प्रभात', सुबह।

३—'कैसे, अभी तो रात है सबेरा कैसे होगया ?' संवुत्तं नपुंसक लिङ्ग है। अगले वाक्य में पभादो पुल्लिङ्ग है।

४—हञ्जे शब्द से कोई भी महिला अपनी चेटी को सदा सम्बोधित करती है। जूदिअरो 'जुआरी' (द्यूतकरो)।

चेटी--अज्जए, वड्ढमाणअं समादिसिअ पुप्फकरण्डअं[1] जिण्णु-ज्जाणं गदो अज्ज चारुदत्तो।

वसं०--किं समादिसिअ ?

चेटी--जोएहि[2] रत्तीए पवहणं, वसन्तसेणा गच्छदु त्ति।

वसं०--हञ्जे! कहिं मए गन्तव्वं ?

चेटी--अज्जए, जहिं चारुदत्तो।

वसं०--(चेटीं परिष्वज्य) सुट्ठु ण णिज्झाइदो[3] रत्तीए। ता अज्ज पच्चक्खं[4] पेक्खिस्सं। हञ्जे, किं पविट्ठा अहं इह अब्भन्तर-चदुस्सालअं ?

चेटी--ण केवलं अब्भन्तर-चदुस्सालअं। सव्वजणस्स वि हिअअं पविट्ठा।

वसं०--अवि संन्तप्पदि[5] चारुदत्तस्स परिअणो।

चेटी--संतप्पिस्सदि।

वसं०--कदा ?

चेटी--जदो अज्जआ गमिस्सदि।

वसं०--तदो मए पढमं संतप्पिदव्वं (सानुनयम्) हञ्जे, गेण्ह एदं रअणावलिं[6]। मम बहिणिआए[7] अज्जा-धूदाए गदुअ समप्पेहि!

१--पुप्फ § ३८। करण्डअ 'टोकरी', जिण्ण 'पुराना' जीर्ण, (जॄ), उज्जाण 'उद्यान'।

२--जोएहि 'जुतवाओ' (युज्) का णिजन्त लोट् रूप। रत्तिए, जैसाकि उद्धृत संस्करण में पाया जाता है, असम्भव है। बम्बई संस्करण में रादीये।

३--=निध्यातः।

४--प्रत्यक्षं। चदुस्सालअं 'जिसके चार कमरे हों'।

५--'संकट में है'।

६--रअण 'रत्न' § ५१। शौरसेनी में भी रदण है।

७--बहिणिआ 'बहिन'। * बधिनी=भगिनी, तुलना करो हिन्दी बहिन

भणिदव्वं च ' अहं सिरिचारुदत्तस्स गुणणिज्जिदा दासी, तदा तुम्हाणं पि। ता एसा तुह ज्जेव कण्ठाहरणं होदु रअणावली '।

चेटी--अज्जए, कुप्पिस्सदि[1] चारुदत्तो अज्जाए दाव।

वस०—गच्छ। ण कुप्पिस्सदि।

चेटी-(मालां गृहीत्वा) जं आणवेदि। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविशति) अज्जए, भणादि अज्जा धूदा—' अज्जउत्तेण तुम्हाणं पसादीकिदा[2]। ण जुत्तं मम एदं गेण्हिदुं। अज्जउत्तो ज्जेव मम आहरण-विसेसो त्ति जाणादु भोदी'।

(ततः प्रविशति दारकं गृहीत्वा रदनिका)

रद०—एहि वच्छ,—सअडिआए[3] कीलम्ह।

दारकः—(सकरुणम्) रदणिए ! किं मम एदाए मट्टिआए[4] सअडिआए ? तं ज्जेव सोवण्ण-सअडिअं देहि।

रद०—(सनिर्वेदं निःश्वस्य) जाद, कुदो अम्हाणं सुवण्णववहारो। तादस्स पुणो वि रिद्धीए[5] सुवण्ण-सअडिआए कीलिस्ससि। ता जाव विणोदेमि[6] णं। अज्जआ-वसन्तसेणाए समीवं उवसप्पिस्सं[7] (उपसृत्य) अज्जए पणमामि।

पञ्जाबी भैया। समप्पेहि णिजन्त लोट् लकार (सम्+ऋ)।

१--कुप्पिस्सदि ' क्रोध करेगा '।

२--' उसे तुम्हें दिया ', अर्थात् माला को।

३—सअडिआ ' खिलौना गाड़ी ' (शकटिका)। कीलम्ह ' हम खेलें ' § २२, § ११६।

४-मट्टिआ मिट्टी' § ५५ (तुलना करो हिन्दी मिट्टी, माटी)। चारुदत्त के लड़के रोहसेन को मागधी बोलनी चाहिए किन्तु यहाँ उसके मुख में साधारण शौरसेनी रक्खी गई है।

५—रिद्धि=ऋद्धि § ६०।

६—णिजन्त लोट् (वि+नुद्)।

७—(उप+सृप्) H. P. में सेणाआए पाठ है।

वसं०--रदणिए, साअदं दे। कस्स उण अअं दारओ ? अण-लंकिदसरीरो वि चन्दमुहो आणन्देदि मम हिअअं।

रद०--एसो क्खु अज्ज चारुदत्तस्स पुत्तो रोहसेणो णाम।

वसं०--(बाहू प्रसार्य) एहि मे पुत्तअ आलिङ्ग। (इति अंके उपवेश्य) अणुकिदं अणेण पिदुणो रूवं।

रद०--ण केवलं रूवं, सीलं पि तक्केमि। एदिणा अज्ज चारु-दत्तो अत्ताणअं विणोदेदि।

वसं०--अध किं णिमित्तं एसो रोअदि।

रद०--एदिणा पडिवेसिअ-गहवइ-दारअ-केरिआए सुवण्ण-स-अडिआए कीलिदं। तेण अ सा णीदा। तदो उण तं मग्गन्तस्स मए इअं मट्टिआसअडिआ कदुअ दिण्णा। तदो भणादि "रदणिए, किं मम एदाए मट्टिआ-सअडिआए। तं ज्जेव सोवण्णसअडिअं देहि" त्ति।

वसं०--हद्धी हद्धी ! अअं पि णाम पर-सम्पत्तीए सन्तप्पदि। भअवं कअन्त पोक्खर-वत्त-पडिद-जल-बिन्दु-सरिसेहिं कीलसि तुमं पुरिस-भाअधेएहिं। (इति साम्रा) जाद ! मा रोद। सोवण्ण-सअडिआए कीलिस्ससि।

दारक--रदणिए, का एसा ?

१--'लड़का' (दारक)।

२--पिदुणो § १७।

३--रोदसि 'रोता है', तुलना करो रोद- उससे आगे रोदासि, और रोदिस्सं।

४--पडिवेसिअ 'पड़ोसी', गहवइ (= गृहपति), केरिआ, 'का' केरअ का स्त्रीलिंग, अतएव (चन्दवरदाई की हिन्दी में सम्बन्धकारक का चिन्ह केरौ है।

५--मग्गन्त मग्गदि का शत्रन्त रूप 'मांगता है', संस्कृत मार्गति (हिन्दी मांगना)।

६--कअन्त 'तकदीर'। पोक्खर § ३८, § ७१, 'वत्त' पत्ता।

७--रोअदि 'रोता है', तुलना करो आगे रोदसि और रोदिस्सं।

वसं०—पिदुणो दे गुणणिज्जिदा दासी।

रद०—जाद, अज्जआ दे जणणी भोदि।

दारक—रदणिए, अलिअं[1] तुमं भणासि। जइ अम्हाणं अज्जआ जणणी, ता कीस अलंकिदा?

वसं०—जाद, मुद्धेण मुहेण अदिकरुणं मन्तेसि (नाट्येनाभरणानि अवतार्य्य रुदती) एसा दाणिं दे जणणी संवुत्ता। ता गेण्ह एदं अलंकारअं। सोवण्ण-सअडिअं घडाँवेहि[2]।

दारक—अवेहि। ण गेण्हिस्सं। रोदसि तुमं।

वसं०—(अश्रूणि प्रमृज्य) जाद, ण रोदिस्सं। गच्छ कील। (अलङ्कारैर्मृच्छकटिकं पूरयित्वा) जाद! कारेहि सोवण्णसअडिअं (इति दारकमादाय रदनिका निष्क्रान्ता)।

अनुवाद

चेटी--अरी! बाई जी अभी तक नहीं उठीं, अच्छा तो अब चल के जगाऊँ। (घूम कर)

(सोकर उठी हुई जैसी चादर ओढ़े वसन्तसेना आती है।)

चेटी--उठिए उठिए, बाई जी, सवेरा हो गया।

वसन्त०-(आँखें खोलकर) अरी, रात ही को सवेरा होगया?

चेटी-हमारे लेखे तो सवेरा हो गया, आप चाहे रात ही समझें।

वसन्त-अच्छा तुम्हारे जुआरी कहाँ गये?

चेटी--जी, श्रीचारुदत्त वर्द्धमानक से कहकर पुष्पकरण्ड बाग में चले गये।

वसन्त—क्या कहकर?

चेटी—कि रात ही को बहेली जोत छोड़ना ताकि वसन्तसेना जा सके।

वसन्त--अरी! मुझे कहाँ जाना है?

चेटी--बाई जी, जहाँ चारुदत्त जी हैं।

१—अलिअं § ६७।

२—घट् घड़ना का णिजन्त (तुलना करो हिन्दी गढ़ना, घड़ाना)।

वसन्त—(चेटी को गले लगाकर) सुन, रात को उन्हें अच्छी तरह देख न पाई, आज दिन में जी भर के निहारूंगी। अरी, क्या मैं भीतर के चौक में हूँ या बाहर ?

चेटी—आप भीतर के चौक में क्या, सब के मन में समा गई हैं।

वसन्त—अरी, चारुदत्त जी के घर मेरा रहना किसी को खला तो नहीं।

चेटी—खलेगा।

वसन्त—कब ?

चेटी—जब आप चली जाएंगा।

वसन्त—तब तो पहले मुझी को खलेगा। अरी, यह माला ले और मेरी बहिन धूता जी के पास ले जाके कह कि मैं चारुदत्त जी की (उनके) गुणों से खरीदी लौंडी हूँ, वैसी ही आप की। यह माला आप के गले को शोभित करे।

चेटी—चारुदत्त जी उन पर रिस करेंगे।

वसन्त—जा, नहीं करते।

चेटी—(हार लेकर) जो आज्ञा। [बाहर जाकर फिर आती है] बाई जी, धूता जी कहती हैं कि माला आपको आर्य्य-पुत्र ने दी है, मैं कैसे ले सकती हूँ, मेरे तो सब गहनों के गहने वही हैं। मुझे और कुछ न चाहिए।

(एक बालक को लेकर रदनिका आती है)

रद०—आओ बेटा, हम तुम इस गाड़ी से खेलें।

बालक—रदनिका, मैं इस मिट्टी की गाड़ी का क्या करूँ ? मुझे वही सोने की गाड़ी दो।

रद०—(ठंडी सांस भर कर) भैया ! हम लोगों के घर में अब सोना कहाँ ? जब फिर पिताजी की बढ़ती होगी तो सोने की गाड़ी से खेलना। —इतनी देर मुझे इसका मन बहलाना चा-

हिए। श्रीमती बसन्तसेना के पास चलूँ। (निकट जाकर) बाई जी प्रणाम।

वसन्त—आओ जी रदनिका, यह किसका लड़का है? कुछ नहीं पहने है, तो भी इसका चाँद सा मुँह मेरे हृदय को कैसा अच्छा लगता है!

रद०—यह श्रीचारुदत्तजी का पुत्र रोहसेन है।

वसन्त—(दोनों बाहें फैलाकर) आओ, बेटा, मेरी गोदी में आओ। (गोद में बैठा कर) इसकी अनुहार अपने पिता ही की जैसी है।

रद०—केवल रूप में ही नहीं, मेरे विचार से स्वभाव भी उन्हीं का-सा है। चारुदत्तजी इसी से अपना जी बहलाते हैं।

वसन्त—अब यह क्यों रोता है?

रद०—यह पड़ोस के एक भलेमानुस के लड़के की सोने की गाड़ी से खेल रहा था; वह अपनी गाड़ी ले गया, यह फिर माँगने लगा, तब मैंने इसको मिट्टी की यह गाड़ी बना दी। अब कहता है-रदनिका, मैं इस मिट्टी की गाड़ी का क्या करूँ! मुझे तो वही सोने की गाड़ी दो।

वसन्त—हा! शोक! इसे भी दूसरों की सम्पत्ति सताती है! भगवान् कमल के पत्ते पर पड़ी हुई पानी की बूँद के समान तुम हम लोगों के, भाग्यों को क्यों नचा रहे हो? (आंसू भर कर) बेटा, रो मत। सोने की गाड़ी से ही खेलेगा।

बालक—रदनिका, यह कौन हैं?

वसन्त—तुम्हारे बाप की गुणों से खरीदी लौंडी।

रद०—भैया, यह तुम्हारी मां हैं।

बालक—तू झूठी है। हमारी मां होती तो इतने गहने कहाँ से पाती?

वसन्त—(गहने उतार कर रोती हुई) बेटा, अपने मुग्ध मुख

से तुम अत्यन्त करुण बातें कहते हो। (गहने उतार कर रोती हुई) लो, अब मैं तुम्हारी माँ हो गई। इन्हें ले जाओ, सोने की गाड़ी बनवा लेना।

बालक—जाओ, मैं तुम्हारे गहने नहीं लेता। तुम तो रोती हो।

वसन्त—(आँसू पोंछ कर) न रोऊँगी। जाओ, खेलो। (गाड़ी को गहनों से भरकर) जाओ बेटा, सोने की गाड़ी बनवा लेना।

(बालक के साथ रदनिका बाहर जाती है)

उद्धरण नं० ८

शौरसेनी

मृच्छकटिक में विदूषक की बात में लम्बे समासों के दो नमूने (अङ्क ४)—

चेटी—पेक्खदु अज्जो। अम्हकेरअं गेहदुआरं।

विदूषक—(अवलोक्य, सविस्मयम्) अहो सलिल-सित्त-मज्जिद-किद-हरिदोवलेवणस्स विविह-सुअन्धि-कुसुमोवहार-चित्त-लिहिद-भूमिभाअस्स गअण-तलाअलोअण-कोदूहल-दूरुण्णामिदसीसस्स दोलाअमाणावलम्बिदेरावण-हत्थ-ब्भमाइद-मल्लिआ-दाम-गुणालंकिदस्स समुच्छिद-दन्ति-दन्त-तोरणावभासिदस्स महा-रअणो-

---

१—सित्त 'सींचा गया' (सिच्), मज्जिद 'बुहारा गया' (मृज्), हरिद 'हरित', उवलेवण 'लेप' (गोबर से) (उप+लिप्)।

२—सुअन्धि 'सुगन्धित', उवहार 'उपहार', चढ़ावा, चित्त-लिहिद शब्दार्थ 'चित्र-लिखित'। भाअ=भाग।

३—'गअण=' आकाश, (गगन), तल+अ (व्) अलोअण, उण्णामिद 'उठा हुआ' (उन्नामित), सीस 'सिर, सिरा'।

४—अवलम्बिद 'लटकता हुआ'।-ब्भमाइद, टीका में भ्रमागत दिया गया है। इससे शौरसेनी में ब्भमाअद होना चाहिये। बेहतर यह लगता है कि यह ब्भमा (व्)इद 'संक्षुब्ध' है, इस नाटक में तुलना करो रोदाविद, 'रुलाया गया'। मल्लिआ-दाम-गुण "चमेली के हार"।

५—'हाथी दान्त के ऊँचे तोरण से देदीप्यमान'।

वराओवसोहिणा पवण-वलंदोलण-ललन्त-चञ्चलग्गहत्थेण 'इदो एहि' त्ति वाहरन्तेण विअ मं सोहग्ग-पडाआ- णिवहेणोवसोहिदस्स तोरण-धरण-त्थम्भ-वेदिआ-णिक्खित्त-समुल्लसन्त-हरिद्-चूद-पल्लव-ललाम-फटिह-मङ्गल- कलसाभिरामोहअ-पासस्स महासुर-वक्ख-त्थल-दुब्भेज्ज-वज्ज-णिरन्तर-पडिबद्ध-कणअ-कवाडस्स[3] दुग्गद-जणमणोरहाआस-करस्स वसन्तसेणा-भवण-दुआरस्स सस्सिरी-अदा[5] ! जं सच्चं मज्झत्थस्स वि जणस्स बलादिट्ठिं[6] आअरेदि ।

१—सोहग्ग 'मङ्गलमय' पडाआ 'पताकाओं' के णिवहेण 'समूह से' उवसोहिद 'देदीप्यमान बनाया गया' वाहरन्तेण 'पुकारते हुए' (वाहरदि का शत्रन्त रूप-(वि+आ+हृ)), महारअण 'बहुमूल्य रत्न' या (=महारजन) 'अग्निशिख' के उवराअ 'रंग' से उवसोहिणा 'देदीप्यमान', अग्गहत्थेण 'उंगली से' चञ्चल 'कम्पायमान', पवण 'पवन' के बल से अन्दोलणा 'झूले' के साथ ललन्त 'आगे पीछे लहराता हुआ'।

२—'जिसके दोनों (उहअ) पार्श्व (पास, § ४४) स्फटिक (फटिह § १६, फडिह या फलिह बेहतर होगा देखो पिशल, § २०६) के बने हुए मङ्गल-कलशों से मनोहर (अभिराम), जो फाटक (तोरण) को थामने वाले (धारण) स्तम्भों (त्थम्भ) की वेदी (वेदिआ) या अट्टालिका पर रक्खे हुए (णिक्खित्त) हैं और जो आम की हरी कोंपलों (हरिद्-चूद-पल्लव) के शिरोभूषणों (ललाम) से देदीप्यमान (समुल्लसन्त) हैं'। (पास्स असम्भव है)।

३—'विशाल दानव (महासुर) के वक्षःस्थल (वक्ख-त्थल) जैसे दुर्भेद्य (दुब्भेज्ज (दुर्+भिद्) वज्र (वज्ज) से निरन्तर (णिरन्तर) खचित (पडिबद्ध) सोने के किवाड़ (कणअ—कवाड)।'

४—'जो ग़रीबों (दुग्गद=दुर्गत) को दुःख (आआस) देता है (कर)।'

५—सस्सिरीअदा=सश्रीकता 'सुन्दरता लावण्य,—स्स—मानो स्वरभक्ति का स्वर प्रयुक्त नहीं किया गया हो, तुलना करो सक्कुणोदि=शक्नोति।

६—प्रस्तुत संस्करण में बलादिट्ठीं' पाठ है जो सम्भव नहीं है। बला माहा-

चेटी—एदु एदु। इमं पढमं पओट्ठं पविसदु अज्जो।

विदूषक—(प्रविश्यावलोक्य च) ही ही भो! इधो वि पढमे पओट्ठे[1] ससि-सङ्ख-मुणाल-सच्छाहाओ[2] विणिहिद-चुण्ण-मुट्ठि-पण्डुराओ[3] विविह-रअण-पडिबद्ध-कञ्चण-सोवाण[4]-सोहिदाओ पासाद-पन्तीओ[5] ओलम्बिद-मुत्ता-दामेहिं फटिह-वादाअण[6]-मुहचन्देहिं णिज्झाअन्ति[7] विअ उज्जइणिं। सोत्तिओ[8] विअ सुहोवविट्ठो णिद्दाअदि दुवारिओ। सदहिणा[9] कलमोदणेण पलोहिदा ण भक्खन्ति वाअसा बलिं सुधा-सवण्णदाए। आदिसदु भोदी।

राष्ट्री में पाया जाता है। शायद बलादो बेहतर शौरसेनी है। आआरेदि णिजन्त (आ+कृ), मज्झत्थ 'उदासीन' मध्यस्थ।

१–पओट्ठं 'आंगन' (=प्रकोष्ठं)।

२–'उसी के जैसे रंग वाला' (सच्छाहावो, तुलना करो माहाराष्ट्री छाहा 'छाया', किन्तु माहाराष्ट्र शौरसेनी छाआ, 'सुन्दरता'। पिशल (§ २५५) ने छाहा की उत्पत्ति *छायाखा से *छाखा से *छायाका से बतलाई है। 'चन्द्रमा, शङ्ख या कमल-नाल'।

३—मुट्ठि 'मुट्ठ', चुण्ण 'चूना' (अपभ्रंश चुण्णउ, हिन्दी चूना)।

४—सोवाण 'सीढियां', सोपान, § १६।

५—'महलों की पंक्तियां', § ३५।

६—'खिड़कियां' 'जहाँ हवा अन्दर आती है" (वातायन)।

७—निझाअन्ति 'देखते हैं' (निर्+ध्यै)।

८—सोत्तिओ=श्रोत्रियो, निद्दाअदि "सोता है" (हिन्दी नींद), दोवारिओ (दौवारिक)।

९—सदहिणा करणकारक 'दही से' दधि, तुलना करो हिंदी दही कलम 'शरदऋतु के धान', पलोहिद (प्र-लुभ्), भक्खन्ति 'खाते हैं' (भक्ष्), वाअसा 'कौवे', [प्रस्तुत संस्करण में वायसा है जो संस्कृत है न कि शौरसेनी]।

अनुवाद

चेटी—आर्य, हमारे घर के द्वार को देखिये।

विदूषक (देखकर, विस्मय से)—क्या कहना है ! इस पर जल छिड़का गया है, मार्जन किया गया है और हरा रंग चढ़ाया गया है ! नाना प्रकार के सुगन्धित कुसुमों के उपहार से देहली चित्र जैसी सुहावनी हो रही है। यह फाटक गगन-तल को देखने के कौतूहल से अपने सिर को बहुत ऊंचा उठाए हुए है, चमेली के वन्दनवारों की लटकती हुई लड़ियों से अलंकृत है जो सुरगज की सूंड की भांति झूल रही हैं, हाथी-दांत के बने हुए उच्छ्रित तोरण से भासमान और मंगलमय पताकाओं से सुहावना है जो महारत्नों के उपराग से रञ्जित हैं और हवा में फहराती और अपनी चञ्चल उंगलिओं को थिरकाती हुई मानो मुझे भीतर बुला रही हैं ('इधर आओ' यह कह रही हैं)। दोनों पार्श्व तोरण के आधार-स्तम्भों की वेदिका पर रक्खे हुए, समुल्लसन्त हरित आम्र-पल्लवों से रमणीक, स्फटिक के बने हुए, मङ्गल-कलशों से सजे हुए हैं (मनोभिराम हो रहे हैं)। सोने के किवाड़ों (कनक-कपाटों) पर निरन्तर महा असुर के वक्षःस्थल जैसे कठोर हीरे जड़े हुए हैं। वसन्तसेना के गृह-द्वार की सश्रीकता का क्या कहना है ! यह दुर्गत मनुष्यों के मनोरथों के लिए आयासकारी है।

चेटी—आइए, आइए। यह पहला प्रकोष्ठ है। श्रीमान् प्रवेश करें।

विदूषक—(अन्दर जाकर और देखकर)—हहह ! इस पहले प्रकोष्ठ में चन्द्रमा-जैसी, कमल-नाल जैसी शुभ्र प्रासाद-पंक्तियां ऊपर फेंकी हुई चूर्ण-मुष्टियों से धवल और नाना प्रकार के रत्नों से जड़े हुए स्वर्ण-सोपानों से सुशोभित हो रही हैं। ये प्रासाद-पंक्तियां मानो स्फटिक के बने हुए झरोखों के रूप में अपने मुख-चन्द्रों से, जिन पर मोतियों की झालरें लटक रही हैं, उज्ज-

यिनी को निहार रही हैं। श्रोत्रिय की भांति आराम से बैठा हुआ द्वारपाल नींद ले रहा है। दही और भात से प्रलोभित कौवे चूने की सवर्णता के कारण बलि को भक्षण नहीं करते। श्रीमती जी आगे चलिए।

उद्धरण नं० ६

हाल की सत्तसई।

माहाराष्ट्री

श्लोक २ अमिअं पाउअ-कव्वं
पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति,
कामस्स तत्त-तन्ति
कुणन्ति, ते कह ण लज्जन्ति ?

अमिअ=अमृत। पाउअ, शौरसेनी पाउद. § १२। कव्वं § ५०। पढिउं, 'पढ़ना', हिन्दी पढ़, सोउं 'सुनना'। आणन्ति, 'जानते हैं' § १३१। तत्त-तन्ति। काव्यमाला में यह पाठ है जिसमें इसका संस्कृत पाठ तत्त्वचिन्तां दिया गया है। यह पाठ गङ्गाधर भट्ट की टीका के अनुसार है जिस में तन्त्रवार्त्तां भी दिया गया है। वेबर (१८७०) को तन्ततन्ति पाठ उपलब्ध हुआ जिससे उन्होंने तन्त्र तन्त्रीं का अनुमान किया। अपने संस्करण में (१८८१) उन्होंने दूसरी हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर तत्ततत्तिं (=-तप्तिं) पढ़ा। इसका अनुवाद या तो यह हो सकता है—प्रेम के रहस्यों का अभ्यास करना' या 'प्रेम के सिद्धान्तों के विषय में चिन्ता करना', अर्थात् उन सिद्धान्तों का चिन्तन करना जो कामशास्त्र में दिये गये हैं। कह=कहं, 'कैसे'।

जो प्राकृत काव्यामृत को पढ़ना और सुनना नहीं जानते (और) काम-शास्त्र का तत्त्व-चिन्तन करते हैं वे क्योंकर लज्जित न होंगे ?

श्लोक ३—सत्त सआइं कइ-वच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्मि ।
हालेण विरइआइं सालंकाराण गाहाणं ॥

"कविवत्सल हाल ने एक करोड़ श्लोकों में से सात सौ सालंकार श्लोकों का संग्रह किया है।"

कइ=कवि, वच्छल, § ३६ । 'कविभक्त' । कोडीअ, 'एक करोड़ में से', § ६५,], मज्झआर जैन माहाराष्ट्री । मज्झयार 'मध्य' के लिए देशी शब्द ।

श्लोक ४—उअ निच्चल-निप्फन्दा
भिसिणी-वत्तम्मि रेहइ बलाआ ।
णिम्मल-मरगअ-भाअण-
परिट्ठिआ शङ्खसुत्ति व्व ॥

उअ 'लो !' वेबर ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि यह वैदिक √ऊह्, 'ध्यान में लाना, देखना', का संक्षिप्त रूप है । पिशल ने एक और ही *√उप् का अनुमान किया है जिससे ओप्पं की उत्पत्ति है, त्रिविक्रम में 'देखा गया' । भिसिणी= विसिनी, शौरसेनी विसिणी । पाली और अर्धमागधी में विस के लिये भिस शब्द है । घोष वर्ण की महाप्राणता दुर्लभ है, अघोष वर्ण की अधिक साधारण, § ६ । वत्तम्मि=पत्रे । रेहइ, 'चमकता है' तुलना करो वैदिक रेभति, 'चटकता है' इत्यादि, रेभायति, 'चमकता है' । भाअण, (भाजन) 'बर्तन' । शङ्खसुत्ति 'शङ्ख-शुक्ति, सीपी' यह श्लोक व्यङ्ग्य को समझाने के लिये काव्यप्रकाश और दूसरे साहित्य ग्रन्थों में उद्धृत किया गया है ।

"लो ! कमल के पत्ते पर एक सारस बिलकुल निश्चल होकर इस प्रकार चमक रहा है जैसे निर्मल मरकत भाजन के किनारे पर रक्खी हुई शङ्खशुक्ति ।"

श्लोक ८—अत्ता ! तह रमणिज्जं
अम्हं गामस्स मंडणी-हुअं ।

लुअ-तिल-वाडि-सरिच्छं
सिसिरेण कअं भिसिणी-संडं ॥

अत्ता तुलना करो मृच्छकटिक पृष्ठ ११० अत्तिआ के साथ, टीकाकारों के अनुसार 'सास'। प्रत्यक्षतः घर में माता, बड़ी बहिन इत्यादि किसी भी बड़ी महिला के लिये प्रयुक्त किया जाता है। लुअ 'कटा हुआ' (=* लुत, लून के लिये)। वाडि, 'वाटिका' (=वाटी)। तुलना करो हिन्दी बाड़ा (वाट+क)।

"ऐ माता! इस प्रकार शिशिर ने कमल-निचय को, जो ग्राम का मण्डन और उसके लिए इतना रमणीय था, कटे हुए तिलों के बाड़े के सदृश बना दिया है।"

इस प्रकार रमणी अपने प्रेमी को संकेत करती है। उसके ठीक ठीक अभिप्राय के सम्बन्ध में पण्डितों में मतभेद था। कुछ कहते थे कि तिल के बाड़े के बदले समागम का स्थान कमलों की बावड़ी बनाई जानेवाली थी, चूंकि लोग तिलों की फसल को काटने के लिये आने जाने लगेंगे, तुषार से जले कमल अब निर्जन पड़े होंगे। दूसरा मत यह था कि दोनों में से कोई भी स्थान अनुकूल नहीं था।

श्लोक १३ रंद्धण-कम्म-निउणिए!

मा झूरसु, रत्त-पाडल-सुअन्धं।
मुह-मारुअं पिअन्तो
धूमाइ सिही, ण पज्जलइ॥

"विनाश कार्य में निपुण", अर्थात् प्रेम के जादू में चतुर। झूरसु, 'क्रोधित होना' √ज्वर् या जूर्, 'गरम होना' (क्योंकि यह आग जलती नहीं)। धूमाइ=धूमायते। नाम-प्रत्यय 'आय' आअ बन जाता है, इसी प्रकार मागधी चिलाअदि=चिरायति। शौरसेनी शीदलाअदि=शीतलायति। यह आअ-प्रायः माहाराष्ट्री इत्यादि में संक्षिप्त होकर-आ बन जाता है। पज्जलइ 'प्रज्ज्वलित' होती है' (प्र+ज्वल्)।

'अग्नि (शिखी) तेरे मुख के रक्तपाटल जैसे सुगन्धित वायु (मारुत) को पीती हुई केवल धुँआ पैदा करेगी,

प्रज्ज्वलित नहीं होगी, क्योंकि इस दशा में फिर सांस ही निकलना बन्द हो जायेगा"।

श्लोक १६ अमअ-मअ गअण-सेहर
रअणि-मुह-तिलअ चन्द दे छिवसु।
छित्तो जेहिं पिअअमो
ममं पि तेहिं चिअ करेहिं॥

यह चन्द्रमा के प्रति सम्बोधन है। अमअ-मअ=अमृतमय। दे='ते'। छिवसु, छिवइ 'छूता है' का लोट्लकार, (√क्षिप्), छित्तो इसी का क्तान्त रूप। चिअ (K- M. ने इसको विअ पढ़ा है) मर्यादाद्योतक निपात 'स्वयं इन हाथों से'।

अमृतमय, गगन-शेखर, रजनी-मुख-तिलक, चन्द्र, तेरी जिन किरणों ने (मेरे) प्रियतम को स्पर्श किया है उन्हीं से मुझे भी (स्पर्श) कर।

श्लोक ४२ आरम्भन्तस्स धुअं
लच्छी मरणं वा होइ पुरिसस्स।
तं मरणं अणारम्भे
वि होइ, लच्छी उण ण होइ॥

धुअं, 'अवश्य' (ध्रुवम्)। लच्छी=लक्ष्मी।

कार्यारम्भ करनेवाले अध्यवसायी पुरुष की लक्ष्मी अथवा मरण निश्चित है। मरण आरम्भ न करनेवाले (आलसी व्यक्ति) का भी होता है किन्तु लक्ष्मी नहीं होती।

श्लोक ४६ थोअं पि ण णीसरेइ
मज्झण्हे उअ सरीर-तल-लुक्का।
आअव-भएण छाही
वि, ता पहिअ किं ण वीसमासि॥

थोअं, 'थोड़ा सा' (स्तोकम्)। णिसरेइ णीसरइ (=निःसरति) के लिए आया है; मज्झण्ह, 'मध्याह्न', § ५२। उअ, देखो श्लोक ४।

लुक्का 'लगा हुआ', संस्कृत में इस की व्याख्या 'लीन' शब्द से की गई है; 'फाड़कर शिथिल किया हुआ या फाड़ा हुआ'=*लुक्न जिसका सम्बन्ध √लुञ्च् से है (पिशल, § ४६६)। तुलना करो पंजाबी लुकना 'छिपना'। आअव 'गरमी', (आतप)। छाही 'छाया'. यह शब्द सीधे छाया से नहीं किन्तु * छायाकी > *छायाखी (महाप्राणता, § १६) > * छाआही से लिया गया है। (पिशल, § १६) *छाआही संक्षिप्त होकर छाही बन जाता है। पहिअ 'पथिक'। वीसमसि (वि+श्रम्)। ह्रस्व स्वर के लिये √क्रम् से बने हुए रूपों णिक्कमइ, शौरसेनी अदिक्कमसि इत्यादि और इसी तरह √श्रम् से माहाराष्ट्री जैन-माहाराष्ट्री वीसमइ, इत्यादि शौरसेनी वीसम, कर्मवाच्य वीसमिअदु रूपों के साथ तुलना करो।

मध्याह्न समय आतप के भय से छाया शरीर से किञ्चित् मात्र भी बाहर नहीं जाती है अथवा शरीर से लगी रहती है, इस लिए हे पथिक मेरे पास विश्राम करो।

श्लोक ७६—ण वि तह विएस-वासो
दोग्गच्चं मह जणेइ संतावं।
आसंसिअत्थ-विमुहो
जह पणइअणो णिअत्तंतो॥

विएस 'विदेश'। दोग्गच्चं 'निर्धनता' (दौर्गत्यम्)। विमुह 'उदासीन, विमुख'। आसंसिअ 'इच्छित' (आ+शंस्)। पणइ 'प्रेमी' (प्रणयिन्), अणो=जणो (जन)। णिअत्तंतो 'लौटता हुआ' (नि+वृत्)।

(प्रणयी का) विदेश-वास (और) दौर्गत्य (निर्धनता) मुझे उतना संताप नहीं देते जितना अभीष्ट अर्थ के प्रति विमुख प्रेमी का (विदेश से) लौटना।

श्लोक ८१ अद्दंसणेण पेम्मं
अवेइ, अइदंसणेण वि अवेइ।
पिसुण-जण-जंपिएण वि

अवेइ, एमेअ वि अवेइ ॥

'दृष्टि से दूर हुए कि मन से निकल चले' और 'अति परिचय से अनादर होता है।' अवेइ=अपेति। एमेअ=एवमेव (पिशल, § १४६)।

श्लोक ६४ सुअणो जं देसं अलं-

करेइ, तं चिअ करेइ पवसन्तो।

गामासण्णुम्मूलिअ-

महा-वड-ट्ठाण-सारिच्छं ॥

पवसन्त (प्र+वस्)। वड 'बड़' (वट)। उम्मूलिअ 'उन्मूलित'। सङ्केतस्थान रद कर दिया गया है।

श्लोक १०७

गोला-अड-ट्ठिअं पेच्छिऊण

गह-वइ-सुअं हलिअ-सोण्हा।

आढत्ता उत्तरिउं

दुक्खुत्तारार्ए पअवीए ॥

गोला=गोदावरी, अड 'तट'। सुअं 'सुत'। गहवइ (=गृहपति)। सोण्हा 'स्नुषा', सुण्हा से संक्षिप्त अधिक प्रचलित सुण्हा के लिए तुलना करो, पैशाची सुनुसा=स्नुषा। आढत्ता 'उसने आरंभ किया' (आ+धा का णिजन्त रूप आढवइ जिसका कर्मवाच्य आढप्पइ और क्रान्त आढत्त बनता है)। हलिअ 'हलवाहक'। पअवीए 'पथ से'।

वह देखना चाहती है कि यह मुझे सहारा देता है या नहीं।

श्लोक ११४

सव्वत्थ दिसा-मुह-पसरिएहि

अण्णोण्ण-कडअ-लग्गेहिं।

छल्लिं व मुअइ विंझो

मेहेहि विसंघडंतेहिं ॥

छल्लि 'छाल, त्वचा'। मुअइ (√मुच्)। मेह 'मेघ'। कडअ

'ढलान', इत्यादि (कटक)। वि+सम्+घट् ' तितर-बितर हो जाना, छिन्न भिन्न हो जाना '।

वर्षा ऋतु का अन्त।

श्लोक १२८

महु-मास-मारुआहअ-
महुअर-झंकार-निब्भरे रण्णे
गाइ-विरहक्खरावद्ध-
पहिअ-मण मोहणं गोवी ॥

मधुमास के समीर से लाये गए मधुकरों की झङ्कार से निर्भर अरण्य में कोई गोपी पथिक के मन को मुग्ध करनेवाला विरह-गीत गा रही है।

श्लोक १७१

गोला-णईए कच्छे
चक्खन्तो राइआइ पत्ताइं।
उप्फडइ मक्कडो खोक्खेइ
अ पोट्टं अ पिट्टेइ ॥

' गोला नदी के तट पर ', तुलना करो ऊपर का श्लोक १०७। चक्खन्तं वर्तमान शत्रन्त रूप। चक्खइ=जक्षति 'निगल जाता है', तुलना करो मराठी, हिन्दी<चाख। राइआ ' राई ', राजिका। मक्कड ' बन्दर ' (मर्कट)। उप्फडइ K M ने उत्पतति दिया है जिसका उप्पडइ बनना चाहिये। वेबर के उद्बोधनानुसार / स्फट् जिसका सम्बन्ध स्फुट् से है, तुलना करो फुडइ फिडइ। खोक्खेइ ' खीसता है ' देशी शब्द। पोट्टं ' पेट '? प्रोष्ठम् ' बेंच या पीढ़ा '। पिट्टेइ=' ठोंस लेता है ' देशी शब्द। वेबर का कहना है कि इसका सम्बन्ध √ पिण्ड् से है।

" गोला नदी के तट पर काली राई के पत्तों को निगलता हुआ बन्दर कूदता फांदता है, खीसता है और अपने पेट को ठसाठस भरता जाता है।"

उद्धरण नं० १०

माहाराष्ट्री

शकुन्तला से उद्धृत पद्य ।

(अ) प्रस्तावना में वसन्त ऋतु सम्बन्धी गीत—

इसीसि-चुम्बिआइं भमरेहिं सुउमार-केसर-सिहाइं ।
ओदंसअन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं ॥

(ब) शकुन्तला की विदाई का शोक—

उग्गलिअ-दब्भकवला मई परिच्चत्त णच्चणा मोरा ।
ओसरिअ-पंडु-वत्ता मुअन्ति अंसूइं व लआओ ॥

(स) अंक ३, शकुन्तला अपनी सखियों के कहने से अपने रचे हुए पद्य को पढ़ती है—

१—इसीसि=ईषदीषत् ।

२—(अव+तंस्) ।

३—उल्ललिअ, देशी शब्द (तुलना करो हिन्दी उलटना, उलानना) । उद्गलित व्याख्या है, अतएव प्राकृत पाठ उग्गलिअ । (पिशल का संस्करण, पृष्ठ १६१)—कवल 'निवाला' । मई 'मृगी' जैसा कि पिशल के संस्करण में है । देवनागरी हस्तलिखित प्रतियों में मिईओ पाठ है । वौटलिंक ने मिआ 'मृग' का अनुमान किया था ।

४—चत्त=त्यक्त । नच्चण, तुलना करो हिन्दी नाचना । मोरा 'मोर', पिशल मोरी 'मोरनी ।

५—ओसरिअ (अव+सृ) । वत्त 'पत्ता' । मुअन्ति (मुच्) ।

६—पिशल के बंगाल वाचना में अङ्गाइं व पाठ है । देवनागरी हस्तलिखित प्रतियों में अस्सूणि विअ पाठ है । वौटलिंक ने अंसू का अनुमान किया था 'अस्सूणि' (अस्सूइं के लिए) विअ लदाओ 'शौरसेनी है महाराष्ट्री नहीं । ऊपर दिया हुआ अंसूइं व लआओ पाठ बोलचाल की भाषा, छन्द और अर्थ के अनुकूल है । अंसु, §§ ४६, ६४ । लआ, § १२ ।

तुज्झ ण आणे हिअअं, मम उण मअणो दिवा अ रात्तिं च।
णिक्किव दावइ बलिअं तुह हुत्त-मणोरहाइ अंगाइं॥

ण आणे 'मैं नहीं जानती' तुलना करो नं० ६ पद्य १। मअणो, मोनियर विलियम्स ने कामो पाठ दिया है। णिक्किव 'निष्ठुर' निष्कृप। दावइ, टीका में तापयति दिया गया है। पिशल (पृष्ठ १५४) के कथनानुसार ठीक तापयति नहीं किन्तु मराठी दावेंण, गुजराती दाववुं, उर्दू दाबना। (मोनियर विलियम्स, तवेइ अर्थात् तवेइ=तापयति)। बलिअं (बलीयः)। हुत्त 'सामने' टीका—'अभिमुख'। इसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है। संख्याओं के साथ माहाराष्ट्री अर्धमागधी खुत्त=कृत्वः। मोनियर विलियम्स ने वुत्त=वृत्त पाठ दिया है। आइ षष्ठी एक वचन। दिवा अ=दिवा च।

"ऐ निष्ठुर! तेरे हृदय को मैं नहीं जानती किन्तु मेरे अङ्गों को कामदेव अत्यन्त पीडित करता है, मेरे मनोरथ तुझ में निहित हैं।"

(द) अंक ५ हंसपदिका गाना गाती हुई सुनाई देती है—

अहिणव-महु-लोलुवो तुमम्
तह परिचुम्बिअ चूअ-मञ्जरिं
कमल-वसइ-मेत्त-णिव्वुओ
महुअर वीसरिओसि णं कहं?

लोलुवो 'लोलुप', बंगाली संस्करण में लोह-भाविओ पाठ है। चूअ 'आम' (चूत)। मेत्त § ६६। निव्वुवो (निर्+वृत्), मोनियर विलियम्स ने निव्वुदो पाठ दिया है जो शौरसेनी है। महुअर 'मधुकर'। वीसरिओ 'विस्मृत'। मोनियर विलियम्स ने विम्हारिदो पाठ दिया है। इसके समर्थन में उन्हों ने वररुचि ३३२ का हवाला दिया है जिससे विम्हअ आदि की व्युत्पत्ति के विषय में तुलना करो § ४७। किन्तु इदो माहाराष्ट्री नहीं है। माहाराष्ट्री में वीसरिअ, विसरिअ होता है। शौरसेनी विसुमरिद (जैन शौरसेनी वीसरिद, जैन-

माहाराष्ट्री विस्सारिय, बोलचाल की भाषा में विम्हरिम्र, तुलना करो हिन्दी बिसरना। यह क्रान्त अर्थ में कर्तृवाच्य है।

"ऐ मधु के लोभी भौंरे ! आम्रमञ्जरी को इस प्रकार चुम्बन करके कमल के अन्दर निवास करने मात्र से सन्तुष्ट होकर तू उसे कैसे भूलगया है ?"

(इ) अंक ६-(मोनियर विलियम्स पृष्ठ २३०, पिशल पृष्ठ १२०)
अरिहासि मे चूअंकुर दिएणो कामस्स गहिअ-चावस्स
सच्चविअ-जुअइ-लक्खो पञ्चब्भहिओ सरो होउं।

गहिअ=शौरसेनी गहिद। चाव 'चाप'=धनुष। सच्चविअ, सच्चवइ=सत्यापयति का क्रान्त रूप, 'सच्चा करना' सच्चाई को परखना, कौल करना। जुअइ=युवती। पञ्च+अभि+अधिक। होउं 'होना'। मोनियर विलियम्स का इस में मतभेद है, उन्होंने अरिहासि होउं के लिये होहि 'होना' पाठ दिया है और तुं सि मए 'तू मुझ से समर्पित की गई है' से आरम्भ किया है; सच्चविअ के लिये अधिक आसान पहिअजण, तुलना करो मेघदूत ८ पाथिक-वनिताः।

"ऐ चूताकुर, मैंने तुझे गृहीतधन्वा कामदेव को दे दिया है। तू वाग्दत्ता युवतियों को अपना लक्ष्य बनाकर उस के पांच बाणों में से सब से बढ़िया बाण हो।"

अनुवाद।

(अ) दयार्द्र प्रमदा शिरीष कुसुमों के कर्णावतंस बना रही हैं, जिनकी सुकुमार पंखुड़ियों के सिरे भौंरों से थोड़ा थोड़ा चूमे गए हैं।

(ब) मृगियों ने दर्भ के ग्रासों को उगल दिया है, मयूरियों ने नाचना छोड़ दिया है, लता जिनसे पीले पत्ते झड़ रहे हैं आंसू जैसी बहा रही हैं।

उद्धरण नं० ११ ।

मृच्छकटिकम् ।

माहाराष्ट्री

(अ) (श्लोक १६)

विचलइ णेउर-जुअलं, छिज्जन्ति अ मेहला मणि-क्खइआ

वलआ अ सुन्दरअरा रअणंकुर-जाल-पडिबद्धा ।

णेउर, संस्कृत नूपुर के लिये नियमित प्राकृत रूप, किसी *नेपुर या *नेपूर रूप से, तुलना करो केयूर, प्राकृत केऊर । (P § १२६) । छिज्जन्ति, कर्मवाच्य (छिद्) । क्खइअ (खच्) । सुन्दरअर=शौरसेनी सुन्दरदर । रअण § ५१ ।

"नूपुर-युगल विचलित हो रहा है, मणि-खचित मेखला टूट कर गिर गई है, रत्नांकुर-जाल से प्रतिबद्ध सुन्दरतर बाजूबन्द (टूटकर गिर रहे हैं)"।

(ब) अंक २, कर्णपूरक (श्लोक २०)

आहणिऊण सरोसं तं हत्थि विञ्झ-सेल-सिहराभं

मोआविओ मए सो दन्तन्तर-सण्ठिओ परिव्वाजओ ।

आहणिऊण कृदन्त (आ+हन्) । विञ्झ, § ३५ । सेल=शैल [H P संस्करण में शैल पाठ है जो प्राकृत नहीं है, देखो पिशल, GR § ६०] । मोआविओ क्रान्त णिजन्त (मुच्) । ठिओ § ३८ । परिव्वाजओ ' परिव्राजक ।'

मैंने उस विन्ध्य-शैल-शिखर-सदृश हाथी को रोष से मारा और दान्तों के बीच स्थित उस परिव्राजक को छुड़ा डाला ।

(स) अङ्क ४ (श्लोक ३०) । विदूषक वसन्तसेना की माँ का उपहास करता है ।

सीहु-सुरासव-मत्तिआ

एआवत्थं गआ हि अत्तिआ,

जइ मरइ एत्थ अत्तिआ,

होइ सिआल-सहस्स-पज्जत्तिआ।

सीहु 'रम, एक प्रकार की मदिरा', (सीधु)। सुरा 'शराब, इत्यादि', आसव 'कच्चे साग पात और पानी से बना हुआ मद्य'। एआवत्थं=एतद्+अवस्थां। अत्तिआ 'मां', देखो मोनियर विलियम्स डिक्शनरी, अत्ता के नीचे। प्रत्यक्षतः यह आर्य भाषा का शब्द नहीं है। पज्जत्तिआ 'यथेष्टता' (पर्याप्तिका)। पुस्तकों में गदा और भोदि पाठ है, जो शौरसेनी रूप हैं।

"शराब, मदिरा, मद्य पीकर मां इस दशा को प्राप्त होगई है। यदि यह मां मर जाय तो सहस्र शृगालों के लिए पर्याप्त हो"।

उद्धरण नं० १२।

कर्पूरमञ्जरी।

माहाराष्ट्री

(अ) अङ्क २ श्लोक १०

णीसासा हार-लट्ठी-सरिस-पसरणा चन्दणुग्घोडकारी,

चण्डो देहस्स दाहो, सुमरण-सरणा हास-सोहा मुहम्मि,

अङ्गाणं पण्डु-भावो दिअह-ससिकला-कोमलो; किं च तीए,

णिच्चं बाह-प्पवाहा तुह, सुहअ कए होन्ति कुल्लाहि तुल्ला।

णीसास 'निःश्वास'। लट्ठी 'लाठी', 'हार की लड़ी' भी [लड़ी से मोतियों की भांति छूट पड़ते हैं, लैनमैन।] उग्घोड 'विशीर्ण होती हुई' चुट्--अर्थ निश्चित नहीं है चुट् का अर्थ 'चटकना' या 'चीण होना' बतलाया जाता है। शायद निःश्वासों की नम गरमी से चन्दन से सुगन्धि निकल रही है। चण्डो 'चण्ड'। सुमरण-सरणा, 'स्मरण ही जिसकी शरण है', तुह कए 'तेरे लिये' सुहअ=सुभग। कुल्ला 'नदी से निकली हुई नहर'। तुल्ल 'तुल्य'। बाह (देखो पृष्ठ८४)।

(ब) विदूषक का प्रत्युत्तर (श्लोक ११)

परं जोण्हा उण्हा, गरल-सरिसो चन्दणरसो,
खअ-क्खारो हारो, रअणि-पवणा देह-तवणा,
मुणाली वाणाली, जलइ अ जल-द्दा तणुलआ
वरिट्ठा जं दिट्ठा कमल-वअण सा सु-णअणा।

जोण्हा 'ज्योत्सना', 'चाँदनी'। उण्ह § ४७। गरल 'विष'। खअ 'क्षत, घाव'। क्खार 'क्षार, खारा'। तवणा (तप्)। जलइ जली जाती है'। जल-द्द, 'जलार्द्र'। तणुलआ 'तनु-लता', § १२। वरिट्ठा 'वरिष्ठा' 'उत्तम तरुणी'।

आन्तरिक तुकों पर ध्यान दें।

(स) (श्लोक २५)

णिसग्ग-चंगस्स वि माणुसस्स सोहा समुम्मीलइ भूषणेहिं,
मणीण जच्चाण वि हीरएहिं विहूसणे लग्गइ का वि लच्छी।

णिसग्ग 'निसर्ग, प्रकृति' (नि+सृज्)। चङ्ग 'दर्शनीय अच्छा' तुलना करो पञ्जाबी चङ्गा 'अच्छा'। मणीण 'मणीणं' के लिए षष्ठी बहुवचन। जच्चाण, षष्ठी ब० व० 'खरा' (जात्य)। लच्छी=लक्ष्मी।

(द) श्लोक ३२ इसमें नायिका के झूलने का वर्णन है।

रणन्त-मणि-णेउरं झण-झणन्त-हार-च्छडं
कणक्कणिअ किंकिणी-मुहल-मेहला-डम्बरं
विलोल-वलआवली-जणिअ-मञ्जु-सिञ्जा-रवं
ण कस्स मण-मोहणं ससि-मुहीअ हिन्दोलणं।

रण 'ठनठनाना'। झणझण 'झनझनाना'। छडा 'छटा'। कण-क्कण 'खणखणाना' (क्वण)। किङ्किणी 'घण्टी'। मुहल 'मुखर' § २६। डम्बर 'पुञ्जीभूत ध्वनि'। सिञ्जा 'झनझनाने की ध्वनि'। ससि-मुही 'शशि-मुखी'।

लैनमैन ने इस छन्द को अनुकरणात्मक शब्दों के प्रयोग का विशेष प्रयास वर्णन किया है, पृष्ठ २५५।

(इ) विदूषक की वाग्मिता भी उड़ान लगाने लगती है और

वह आठ श्लोकों में झूलने का वर्णन करता है जिसका अन्तिम श्लोक ४० है।

इअ एआइ विलासुज्जलाइं दोला-पवञ्च-चरिआइं
कस्स ए लिहइ व चित्ते गिउणो कन्दप्प-चित्तअरो ?

इअ 'इस प्रकार', इति से सम्बद्ध। एआइ=शौरसेनी एदाइं। पवञ्च 'प्रपञ्च', प्रदर्शन। चित्त 'हृदय'। चित्तअरो 'चित्रकार'।

(फ) अंक ३ श्लोक २

मरगअ-मणि-गुत्था हार-लट्ठि व्व तारा
भमर-कवलिअन्ता मालइ-मालिअ व्व।
रहस-वलिअ-कण्ठं तीअ दिट्ठी वरिट्ठी
सवण-पह-णिविट्ठा माणसं मे पविट्ठा।

गुत्थ 'गुंथा हुआ' (गुंफ्)। तारा 'चमकीला', कवलिअ 'कवलित', 'चूसा हुआ'। अन्त 'अन्त'। रहस 'रभसा' 'तीव्रता से', वलिअ 'वलित', मुड़ा हुआ। सवण 'श्रवण' कान (श्रु)। पह=पथ।

(ग) श्लोक २५ नायिका की रचना।

मण्डले ससहरस्स गोरीए दन्त-पञ्जर-विलास-चोरए
भाइ लंच्छणमओ फुरन्तओ केलि-कोइल-तुलं धरन्तओ।

'शशधर', चन्द्रमा। दन्त 'हाथी दान्त'। भाइ 'भाति', चमकीला है (अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ आविर्भूत होता है')। मओ 'मृग'। फुरन्तओ 'स्फुट (स्फुर्), तुलं 'तुल्यता'।

(ह) अंक ४, भरतवाक्यम्

अणुदिअहं विफुरन्तो मणीसि-जण-सअल-गुण-विणास-अरो
रित्तत्तण-दावग्गी विरमउ कमला-कडक्ख-वरिसेण।

मणीसि 'मनीषिन्', चतुर, कृतविद्य। रित्तत्तण 'रिक्तता, निर्धनता'। दावग्गी 'दावाग्नि'। कमला=लक्ष्मी। कडक्ख 'कटाक्ष'। वरिस 'वर्षा' § ५७।

अनुवाद

श्लो० १० (उसके) निःश्वास हार की लड़ियों के सदृश बिखर रहे हैं, चन्दन-लेप चटका जाता है, देह का दाह प्रचण्ड होगया है, मुख पर हँसी की शोभा स्मृति का विषय रह गई है, अङ्गों की पाण्डुरता दिन के समय की शशि-कला के समान कोमल (मन्दप्रभ) हो रही है, और ऐ सुभग! तुम्हारे कारण प्रतिदिन (उसके) वाष्प-प्रवाह (अश्रुधाराएं) कुल्याओं (गूलों) के तुल्य हो रहे हैं।

श्लो० ११ (उसे) ज्योत्स्ना अत्यन्त उष्ण (लगती) है, चन्दन का लेप विष-सदृश (हो रहा) है, हार घाव पर नमक छिड़कने के तुल्य अत्यन्त (दुःसह) है, रात की हवाएं देह को तपाने वाली हो रही हैं और मृणाली (कमलनाल) तीरों की बौछार (जैसी क्लेशका-रिणी) है, जलार्द्र तनुलता (सुकुमार देह) जली जाती है, इस दशा में मैंने उस सुनयना, कमलमुखी वराङ्गना को देखा था।

श्लो० २५ स्वभाव-सुन्दर मनुष्य की भी आभूषणों से शोभा बढ़ती है। उत्तम मणियों की भी हीरों के साथ सजाने में लक्ष्मी (शोभा) अनिर्वचनीय लगती है।

श्लो० ३२ चन्द्रमुखी (कर्पूरमञ्जरी) का झूलना (हिन्दोलन) किस के मन को नहीं मोहता? (जिसमें) मणिनूपुर बज रहे हैं, हार-च्छटा की झणझणाहट हो रही है, कल क्वणन करती हुई किंकिणियों (घुंघुरुओं) से मेखलाडम्बर मुखरित हो रहा है, [और] विलोल वल-यावलि से मञ्जु झनझन ध्वनि निकल रही है।

श्लो० ४० इस प्रकार इन उज्ज्वल विलासयुक्त दोला-प्रपञ्च के चरित्रों को निपुण कन्दर्प-चित्रकार [कामदेव रूपी चितेरा] किसके चित्त पर अंकित नहीं करता?

अंक ३ श्लोक २—

मरकतमणियों से गुम्फित हार की लड़ी की भांति देदीप्यमान, भ्रमर कवलितान्त मालती-माला के समान, तीव्र वेग से तिरछी

गर्दन किये हुई उसकी सुन्दर चितवन ने श्रवण-पथ से होकर हृदय में प्रवेश किया।

श्लो० ३१ हाथी-दान्त के विलास को चुराने वाले [अत्यन्त शुभ्र] चन्द्रमा के गौर मण्डल में केलि-कोकिल के सादृश्य को धारण करता हुआ सुव्यक्त लाञ्छन-मृग सुशोभित हो रहा है।

अंक ४ भरतवाक्य—

कमला [लक्ष्मी] की कटाक्ष-वर्षा से मनीषियों के अशेष गुणों को विनष्ट करनेवाली प्रतिदिन सुलगती हुई निर्धनता रूपी दावाग्नि शान्त हो।

उद्धरण नं० १३

माहाराष्ट्री

रत्नावली।

(अ) अंक १ मदनिका गाती है।

कुसुमाउह-पिय-दूअओ मउलाइअ-बहु-चूअओ
सिढिलिअ-माण-ग्गहणओ वाअइ दाहिण-पवणओ।
विरह-विवड्ढिअ-सोअओ कंखिअ-पिअ-अण-मेलओ
पडिवालणासमत्थओ तम्मइ जुवई-सत्थओ।
इह पढमं महुमासो जणस्स हिअआइं कुणइ मउआइं
पच्छा विज्झइ महुमासो जणस्स हिअआइं कुणइ मउआइं
पच्छा विज्झइ कामो लद्ध-प्पसरेहिं कुसुम-बाणेहिं

वाअइ 'बहती है'। दाहिण 'दक्षिण', स्वर को दीर्घ करने से दक्खिण * दाक्खिण हो जाता है और इससे § १२ से दाहिण बनता है। तुलना करो 'दक्खिन' और हिन्दी दाहिना।

कंखिअ 'उत्कण्ठित' पिअ-अण 'प्रिय-जन', वालण (पाल्) असमत्थओ 'असमर्थ'। सत्थओ 'दल'। कुणइ 'करता है।'

मउअ ' स्निग्ध ' (मृदुक)। पच्छा § ३८। विज्झइ (विध्यति) § ३५। लद्ध-प्पसर ' लब्ध-प्रसर ', बेरोकटोक।

" कुसुमायुध कामदेव का प्यारा दूत आमों को मुकुलायित करने वाला, (स्त्रियों के) मान-ग्रहण को शिथिल करने वाला, दक्षिण पवन बह रहा है। विरह से विवर्द्धित शोकयुक्त प्रियजन के मिलने के लिये उत्कण्ठित अपनी रक्षा करने में असमर्थ युवतियों का समुदाय [सार्थक] प्रेम के कारण कुम्हला रहा है। यहाँ पहले बसन्त-मास [मधुमास] मनुष्यों के हृदयों को मृदुल बनाता है, इस के पश्चात् कुसुम-बाणों [फूलों के बाणों] से कामदेव बेरोकटोक उन्हें बींधता है।"

[ब] अंक ४ ऐन्द्रजालिक

पणमह चलणे इन्दस्स इन्दआलम्मि लद्धणामस्स,
तह अज्ज-सम्बरस्स वि माआ-सुपडिट्ठिअ-जसस्स।
किं धरणीए मिअंको आआसे महिहरो जले जलणो,
मज्झण्हम्मि पओसो दाविज्जउ देहि आणत्तिं।

पणमह, लोट् [प्र+नम्]। चलणे, पुं० द्वितीया ब० व०, संस्कृत न० लिं०। इन्दआल [इन्द्रजाल] 'माया'। पडिट्ठिअ [प्रति+स्था] जस 'यश'। आआस 'आकाश'। जलणो [ज्वल्]। मज्झण्ह § ५२। दाविज्जउ, लोट् कर्मवाच्य णिजन्त [दा] 'दिलवाया जाय'। आणत्ति [आ+ज्ञा]।

"इन्द्रजाल से अपना नाम ग्रहण करनेवाले इन्द्र की करतूतों को प्रणाम करो। इसी प्रकार माया से सुप्रतिष्ठित यशवाले सम्बर की करतूतों को प्रणाम करो। धरणी पर मृगांक [चन्द्रमा] आकाश में महीधर [पहाड़], जल में अग्नि, मध्याह्न में प्रदोष [सांझ], इन में से क्या हो? आज्ञा दीजिये।"

[स] किं जम्पिएण बहुणा जं जं हिअएण महासि सन्दट्ठुं,
तं तं दंसेमि अहं गुरुणो मन्त-प्पहावेण।

महासि तू चाहता है'।

"बहुत प्रलाप से क्या? जिस जिस वस्तु को हृदय से देखना चाहता है उस उस को मैं गुरु के मन्त्र के प्रभाव से दिखलाये देता हूँ।"

(द) हरिहर-बम्ह-प्पमुहे देवे दंसेमि देवराअं च,

गअणम्मि सिद्ध-विज्जाहर-वहु-सत्थं च णच्चन्तं।

बम्ह, तुलना करो §५२। देवे द्वितीया ब० व०।

"गगन में हरिहर ब्रह्मा आदि देवताओं को और देवराज को भी और सिद्ध-विद्याधर-वधुओं के नृत्य करते हुए समुदाय को दिखलाये देता हूँ।"

इस नाटिका में बहुत कम माहाराष्ट्री है। उसकी सादगी और हासशील कर्पूरमञ्जरी के साथ उसके महान् विरोध पर ध्यान दीजिये। कर्पूरमञ्जरी में भी स्वयं चरित्र नायिका को लाकर इन्द्र-जाल के द्वारा उसके दर्शन की आयोजना की गई है।]

उद्धरण नं० १४

माहाराष्ट्री

सेतुबन्ध या रावणवहो।

सर्ग १ श्लोक ५७।

इस में यह दिखलाया गया है कि बन्दरों ने पहाड़ी नदियों को कैसे पार किया।

बोलन्ति अ पेच्छन्ता पडिमा-संकन्त-धवल-घण संघाए।

फुड-फडिह-सिला-संकुल-खलिओवरि-पत्थिए विअ णइप्पवहे॥

√बोल् 'पार करना', तुलना करो बोलेइ 'कालक्षेप करता है'। माहाराष्ट्री पेच्छइ=शौरसेनी पेक्खदि § ४०। पेच्छन्ता, प्रथमा ब० व० सन्नन्त। पडिमा-संकन्त 'प्रतिमा-संक्रान्त, प्रति-बिम्बित'। संघाये, द्वितीया बहुवचन § ८६। खलिअ=शौरसेनी

खलिद । पत्थिअ=शौरसेनी पत्थिद (प्र+स्था) । प्पवहे=प्रवाहान् ।

" और वे नदियों की उन धाराओं को पार करते हैं जिनमें वे सफ़ेद बादलों को प्रतिबिम्बित देखते हैं, मानो वे चू कर स्वच्छ स्फटिक शिलाओं के पुञ्ज के ऊपर दौड़े जा रहे हों ।"

सर्ग ७ श्लोक ५६

जैसे जैसे बन्दर पानी में पहाड़ों को डालते हैं लहरें आकाश को आप्लावित करती हैं ।

उत्थंघिअ-दुम-णिवहा गिरि-घा-उव्वत्त-मुच्छिअ-महा-मच्छा ।
वेला-सेला-क्खलिआ उद्धं भिज्जन्ति उअहि-जल-कल्लोला ॥

उत्थंघिअ, टीका=उत्तम्भित (उत्+स्तम्भ्) । यह नियम से माहाराष्ट्री में उत्तंभिअ और शौरसेनी में उत्तंभिद होता है । उव्वत्त (उद्+वृत्) । मुच्छिअ 'मूर्च्छित', मच्छ § ५६ क्खलिअ (स्खल्) । भिज्जन्ति, भिद् का कर्मवाच्य । उअहि 'उदधि', समुद्र ।

" समुद्र के जल की लहरें उन वृक्षों के समूहों को उठाये जिन पर पहाड़ों के पुञ्ज से मूर्च्छित महामच्छ विद्यमान हैं तट की शिलाओं पर स्खलित होकर आकाश ही में छिन्न भिन्न हो जाती हैं ।"

सर्ग ८ श्लोक ३

समुद्र बैठ जाता है ।

गिरि-सङ्खोह-विमुक्का भीणा अप्पत्त-पढम-गमणोआसा,
मन्दंदोलण-मउआ गआगअ च्चिअ समुद्द-सलिल-उप्पीडा ।

सङ्खोह=संक्षोभ । विमुक्क (वि+मुच्) । भीण § ४० । अप्पत्त (अ+प्र+आप्) । पढम § २० । ओआस=अवकाश । मउअ=मृदुक । च्चिअ 'सदृश', 'जैसा' । उप्पीडा 'फ़व्वारे' फव्वारों के रूप में फूटते हैं' ।

" समुद्र जल के फव्वारे पहाड़ों के संक्षोभ से मुक्त होकर पहिले

जैसे ऊँचे नहीं उठते हैं किन्तु बैठ जाते हैं और मन्द मृदुल आन्दोलन के साथ दोलायमान हो रहे हैं।"

श्लोक ६ जल और थल का मिश्रित ध्वंसावशेष।

मोत्ता-घडन्त-कुसुमं सम-मरगअ-वत्त-भङ्ग-भरिआवत्तं,

विद्दुम-मिलिअ-किसलअं स-सङ्ख-धवल-कमलं पसम्मइ सलिलं।

मोत्ता 'मुक्ता'। घडन्त, शत्रन्त रूप (घट्) 'जोड़ा जाता हुआ'। मरगअ 'मरकत' § १२। वत्त 'पत्ता'। आवत्तं (आ+वृत्) । विद्दुम 'विद्रुम', मूंगा। पसम्मइ (प्र+शम्)।

"जल शान्त हो जाता है, फल मोतियों से मिले हुए हैं, भंवर (आवर्त) पत्तों और पन्नों के टुकड़ों से भर गये हैं, कलियां मूंगों से, (और) सफेद कमल शङ्खों से मिल गये हैं।"

श्लोक १४ काम करनेवालों की थकावट—(सुग्रीव नल से बातें करता है)।

खविओ वाणरलोओ दूरट्ठिअ-विरल-पव्वअं महि-वेढं,

ण अ दीसइ सेउ-वहो, मा हु णमेज्ज गुरुअं पुणो राम-धणुं।

खविओ 'परिश्रान्त' (क्षप् क्षि का णिजन्तरूप)। पव्वअ 'पर्वत' महि 'पृथ्वी'। वेढ=वेष्ट 'घेरा' § ३८, तुलना करो माहाराष्ट्री वेढिअ शौरसेनी वेढिद, टीका में इसका अर्थ मही-पृष्ठं दिया गया है। दीसइ=दृश्यते। वहो=पथः। णमेज्ज विधिलिङ् अन्यपुरुष एक वा बहुवचन।

टीकाकार को निश्चय नहीं है कि धणुं प्रथमा है या द्वितीया।

(अ) यदि प्रथमा हो तो 'राम का धनुष न झुके',

(ब) यदि द्वितीया हो तो 'राम अपने धनुष को न झुकावें'।

टीकाकार ने नमयत शब्द को प्रस्तुत किया है किन्तु णमेज्ज मध्यम पुरुष बहुवचन नहीं है।

"वानर लोग परिश्रान्त हो गये हैं, पृथ्वी के तल पर पर्वत तो हैं किन्तु दूर स्थित और विरल, सेतुपथ दृष्टिगोचर नहीं होता, अतएव

(कहीं) राम का धनुष फिर गुरुता से न झुके'' ।

श्लोक २० नल का उत्तर—

खविश्रो पव्वश्र णिवहो दलिश्रं व रसाश्रलं धुश्रो व्व समुद्दो,
जीअं वा परिश्रत्तं अज्ज व संभावणा तुहं णिव्वूढा ।

परिश्रत्तं (परि+त्यज्) । टीका के अनुसार वा प्रकृतार्थ-बोधक है। अज्ज के बाद एक टीकाकार वि पाठ रखना उचित समझता है।

"पर्वतों का एक समूह समाप्त हो चुका है, चाहे रसातल को छिन्न भिन्न करना पड़े, समुद्र संक्षुब्ध हो, जीवन का परित्याग करना पड़े, किन्तु अब आपकी आयोजना सिद्ध होनी चाहिए ।"

राक्षस सीता को अपनी माया से राम के कटे हुए सिर का नज़ारा दिखाते हैं—सर्ग ११ श्लोक ६१ पृष्ठ ३४५ ।

पेच्छइ अ सरहसोहरिअ-मण्डलग्गाहिघाअ-विसम-च्छिण्णं,
दूर-धणु-संधिश्रंचिअ-सर-पुंखालिद्ध-सामलिअ-आवंगं ।

ओहरिअ, क्रान्त (अव+हृ) । मण्डलाग्र 'खड्ग' । अहिघाअ (अभि+हन्) । संधिश्रंचिअ=संधित+आञ्चित § ६५ । सर-पुंख 'तीर का पङ्ख' । आलिद्ध (आ+लिह्)=*आलिग्ध । अवंग ' अपाङ्ग ' § १७ । पेच्छइ का कर्म ६६ वें श्लोक में आता है-"रामसिरं" ।

"आज सीता ने छिन्न-भिन्न (मानव सिर को) देखा जो तलवार के आघात से अपहृत किया गया था, आंखों के अपाङ्ग तान कर पीछे को खींचे हुए धनुष पर रक्खे बाण के पंख से अन्धकार मय हो गये थे ।"

श्लोक ६२

णिव्वूढ-रुहिर-पण्डुर-मउलन्त-च्छेअ-मास-पेल्लिअ-विवरं,
भज्जन्त-पडिअ-पहरण-कण्ठ-च्छेअ-दर-लग्ग-धारा-चुण्णं ।

णिव्वूढ=[निर्व्यूढ]। मउलन्त शब्दार्थ [जिससे कलियां निकल रही हों] [मुकुल] § ७१ । च्छेअ 'घाव' । पेल्लिअ*पेलिअ*पेरिअ= प्रेरित । टीकाकार ने इसका अर्थ मुद्रित 'जिस पर मुहर

१—टीकाकार कहता है समुद्दताडनाय, ' समुद्र का ताड़न करने के लिए' ।

लगी हो' दिया है। भज्जन्त भज्जइ से कृदन्त 'टूट गया है'। दर 'थोड़ा सा'।

"तलवार की धार का चूर्ण, प्रहार के कारण उसके कण्ठ पर पड़े हुए घाव पर लग गया जिस पर गिरने से तलवार टूट कर टुकड़े टुकड़े हो गई, जब कि घाव का पाण्डुर रुधिर-रहित मांस विशीर्ण हो चुका था और उसने उसके विवर को ढांप दिया था।"

श्लोक ६३

णिद्दअ-सन्दट्ठाहर-मूल-उक्खित्त-दर-दिट्ठ-दाढा-हीरं,

सङ्घाअ सोणिअ-पङ्क-पडल-पूरेन्त-कसण-कण्ठ-च्छेअं,

णिद्दअ 'निर्दय'। सन्दट्ठ (सम्+दंश्)। अहर=अधर। उक्खित्त (उत्+क्षिप्)। दाढा 'हाथी का दान्त', § ६५। सङ्घाअ टीका=संस्त्यान 'जमा हुआ', अत्यल्प प्रयुक्त धातु स्त्यै से। बेहतर *संस्कयात से होकर संस्त्यात क्रान्त से। कसण=कृष्ण।

"निर्दयता से काटे हुए अधर (निचले होंठ) के उठे हुए मूल पर एक हीरक दान्त थोड़ा दिखाई देता है और कण्ठ का काला घाव जमे हुए शोणित के पङ्क-पटल से भर गया है।"

श्लोक ६४

णिसिअर-कअ-ग्गहाणिअ-णिलाड-अड-णट्ठ-भिउडि-भुमआभंगं,

गलिअ-रुहिर-द्ध-लहुअं अणहिअ-उम्मिल्लतारअं रामसिरं !

णिसिअर=*निशिचर, कअ-ग्गह 'केशग्रहण' (कच)। आणिअ= आणीअ। णिलाड 'ललाट' णलाड भी होता है, पालि नलाट या ललाट और वर्ण-व्यत्यय से माहाराष्ट्री णडाल या माहाराष्ट्री शौर-सेनी णिडाल। अपभ्रंश णिडला (पिशल § २६०)।—अड=तट, भिउडि, टीका=भ्रुकुटि वस्तुतः=भृकुटि, जिसका प्रयोग देखने में आता है। अर्धमागधी भिगुडि। पिशल के कथनानुसार भुउडि बुउडि रूप अशुद्ध हैं (पिशल § १२४)। भुमआ 'भौंह'। अणहिअअ का अर्थ है अहृदय, तुलना करो अणमिलिअ=अमिलित, अणादीहर= अदीर्घ। उम्मिल्ल=*उन्मीलन=उन्मीलित।

"उसका भ्रूभङ्ग उसके ललाट-तट से नष्ट हो चुका था, क्योंकि राक्षस राम के सिर को केश पकड़ कर लाये थे जो खून के निकलने से आधा हलका हो गया था और जिसके तारक उन्मीलित किन्तु जीवन से शून्य हो गये थे।"

सीता का विलाप

श्लोक ७५ (पृष्ठ ३५०)

आवाअ-भअ-अरं चिअ ण होइ दुक्खस्स दारुणं णिव्वहणं,
जं महिला-वीहत्थं दिट्ठं सहिअं च तुह मए अवसाणं।

आवाअ=आपात, चिअ (अर्धमागधी चिय), स्वरों के बाद चिअ का अर्थ एव होता है; चेअ रूप भी होता है, (चैव तुलना करो णेय=नैव)। वीहत्थं=बीभत्सं। सहिअं 'सहन किया'।

"यद्यपि दुःख का आरम्भ भयंकर होता है उसका अन्त (निर्वहण) इतना दारुण नहीं होता, यदि मैं स्त्रियों-के-लिये-बीभत्स दृश्य को देख सकती हूँ और तुम्हारे अवसान को सहन कर सकती हूँ।"

सीता यह न जान कर कि सिर मायामय है इस बात से हैरान होती है कि मैं अभी तक जीवित हूँ। टीका में महिला-वीहत्थं का अर्थ 'स्त्रियों में निन्दा का कारण' दिया है।

श्लोक ७६

वाहु-ण्हं तुज्झ उरे जं मोच्छिहिमि त्ति सणिठअं मह हिअए,
घर-णिग्गमण-पअत्तं साहसु तं कम्मि णिव्वविज्जउ दुक्खं ?

वाह या बाह 'आंसू'। उण्हम् 'उष्ण'। पुस्तक में उहं पाठ है जो अशुद्ध है। तुज्झ, तुअ का यह गौण रूप हिन्दी 'तुझ को' में विद्यमान है; इस की उत्पत्ति मह्यं के सदृश * तुह्यं से है। उरे, उरो 'वक्षःस्थल' का सप्तमी का रूप। 'मोच्छिहिमि' मुच् का भविष्यत् का रूप, मोच्छं भी होता है। ठिअ § १२।

पअन्तं=प्रवृतम्। साहसु 'कहो' लोट, शास्। कम्मि सप्तमी=शौरसेनी कस्सिम्। णिव्वविज्जउ (निर्+वप्) कर्मवाच्य लोट् 'उंड़ेला जाय।'

'घर छोड़ने के समय से मेरे हृदय में यह बात बैठी हुई थी कि मैं तुम्हारे उरःस्थल पर उष्ण आंसू बहाकर अपने शोक को दूर करूंगी। अब मुझ से कहो मेरा शोक कहाँ उंड़ेला जायेगा।"

श्लोक ७७

विरहम्मि तुज्झ धरिअं दच्छामि तुमं त्ति जीविअं कह वि मए,
तं एस मए दिट्ठो फलिआ वि मणोरहा ण पूरेन्ति महं।

दच्छामि 'द्रक्ष्यामि', मैं देखूंगी, दच्छिमि और दच्छं रूप भी बनते हैं, शौरसेनी में पेक्खिस्सं का प्रयोग होता है। कह वि=कथम् अपि, कहं अधिक पाया जाता है। सर्वनामों और क्रिया विशेषणों में अन्तिम अनुस्वार की प्रवृत्ति अपवाद की ओर है। इस प्रकार महं=मह। एस=एसो। हेमचन्द्र के अनुसार 'एस' का प्रयोग स्वच्छन्दता से सभी लिङ्गों के लिए किया जाता है, इसके विपरीत 'स' का प्रयोग दुर्लभ है।

"तुम्हारे वियोग में मैंने इस विचार से कि फिर तुम्हें देखूंगी किसी तरह अपने जीवन को धारण किया। अब मैं तुम्हें इस दशा में देखती हूँ। मेरे मनोरथ फलीभूत होने पर भी मेरे सन्तोष की पूर्ति नहीं करते।"

श्लोक ७८

पुहवीअ होहिइ पई बहु-पुरिष-विशेस-चञ्चला राअसिरी
कह ता महं चिअ इमं णीसामण्णं उअत्थिअं वेहव्वं।

पुहवी 'पृथ्वी' शौरसेनी पुढवी। इअ-वाले अप्रधान कारकों के रूप माहाराष्ट्री में साधारणतया पाये जाते हैं। पई=पतिः। होहिइ 'होगा'। ता=वैदिक तात्। णीसामण्णं=निःसामान्यं। उअत्थिअ (उप+स्था)। वेहव्वं 'वैधव्यं' 'रण्डापा'।

"पृथ्वी का कोई न कोई पति बनेगा। राज्यश्री अनेकों प्रतिष्ठित पुरुषों के साथ चञ्चल है तो फिर मुझ ही पर यह असाधारण वैधव्य क्यों ढाया गया है?" [पृथ्वी और राज्यश्री राम की दूसरी पत्नियां मानी जाती हैं। 'निःसामान्य', शब्दार्थ जिसमें कोई बात साझी न हो (उन अन्य दो के साथ)]।

श्लोक ७९

किं एअ त्ति पलत्तं विस-उम्मिल्लेहि लोअणेहि अ दिट्ठं,
विअलिअ-लज्जाए मए फुडं णाह तुह मुहं ति परुण्णं।

एअं ति (शौरसेनी एदं ति) अधिक प्रचलित है। पलत्तं=*प्रलप्तं। विस का अर्थ है विषम; पाठ प्रत्यक्षतया विसमुम्मिल होना चाहिए। विअलिअ (वि+गल्)। फुड § ३८। परुण्णं (प्र+रुद्) भिद्, भिन्न के सादृश्य से क्रान्त रूप; छिद्, छिन्न, इत्यादि, शौरसेनी रुदिद।

"मैं चिल्लाई 'यह क्या है?' और मैंने अध-खुली आंखों से देखा, फिर लज्जा को तिलाञ्जलि देकर मैंने चीत्कार किया—'नाथ, निःसन्देह यह तुम्हारा मुख है'।"

श्लो० ८०

सहिओ तुज्झ विओओ रअणि-अरीहि समअं सहीहि व वुत्थं,
दट्ठुं तुमं ति होत्तं जइ एत्ताहे वि जीविअं विअलन्तं।

विओओ 'वियोग' §८। वुत्थं=व्युष्टं* 'सवेरा हुआ'। पिशल § ३०३, *वस्तं अ > उ के साथ। दट्ठुं=द्रष्टुं। होत्तं=होन्तं, होइ का शत्रन्त रूप। एत्ताहे (टीका=इदानीम्), तुलना करो एत्तिओ 'इतना'? *एत्तादृशे *एत्ताइशे *एत्ताहे, तुलना करो तारिस के लिए अपभ्रंश तैसा और दिवस के लिए माहाराष्ट्री दिवह। होत्तं और विलअन्तं हेतहेतुमद्भूत के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, तुलना करो हिन्दी प्रयोग 'यदि होता'।

'तुम्हारे वियोग को मैंने सहेली जैसी रजनी-चरियों के साथ

सहन किया—उसका प्रभात तारों के साहचर्य में हुआ—केवल तुम्हें देखने के लिये यह होता तो मेरा जीवन पिघल कर अनन्त में मिल जाता।"

श्लोक ८१

जाए परलोअ-गए तुमम्मि ववसाअ-मत्त-सुह-दट्ठव्वे,
हरिस-छणे वि महं डज्झइ अदिट्ठ-दहमुह-वहं हिअअं।

मत्त=मात्र, साधारणतया मॅत्त § ६१। दट्ठव्व=द्रष्टव्य। छणे टीका=स्थाने; इसे (तु) थाए होना चाहिये, या शायद हमें हरिस-च्छणे पढ़ना चाहिए। छण=क्षण, किन्तु इसका अर्थ साधारणतया 'उत्सव' होता है, 'क्षण' के लिए खण शब्द आता है, (पिशल, § ३२२)।

"अब चूँकि तुम परलोक को सिधार गये हो, और तुम मुझे केवल आयास से दिखाई दोगे, उस हर्ष के स्थान में मेरा हृदय धधक रहा है कि मैं दशमुख के वध को नहीं देख सकी"।

श्लोक ८२—

वाहं ण धरेइ मुहं आसाबन्धो वि मे ण रुम्भइ हिअअं,
णवरि अ चिन्तिज्जन्ते ण विणज्जइ केण जीविअं संरुद्धं।

रुम्भइ का अर्थ है रुणद्धि (रुध् से रुन्धइ रूप बनता है); यह किसी *रुभ् धातु से है जो किसी *लिभ् धातु से बने हुए लिभइ=लिह्यते के सदृश है (पिशल §§ २६६, ५०७)। णवरि 'इस पर', कोई कहते हैं 'न परे' से इसकी उत्पत्ति है, किन्तु पिशल इस का प्रतिवाद करता है (§१८४); तुलना करो णवरं 'केवल'। चिन्तिज्जन्ते <u>शत्रन्त</u> कर्मवाच्य। वि-णज्जइ कर्मवाच्य (वि+ज्ञा)।

"मेरे मुख पर कोई आँसू नहीं हैं, आशाबन्ध भी मेरे हृदय को नहीं थामता, और जब विचार किया जाता है तो ज्ञात नहीं होता कि जीवन किस से रुद्ध है"।

श्लोक ८३

बोलीणो मअरहरो मज्झ कएण मरणं पि दे पडिवएणं,

णिव्वूढं णाह तुमे अज्ज वि धरइ अकअरणुअं मह हिअअं।

बोलीणो 'पार किया'। यह रूप क्रान्त जैसा लगता है, तुलना करो मेलइ (मिल्) से मेलीण। मअर-हर मगरमच्छों का घर'। पडिवएणं (प्रति+पद्)। अकअरणुअ तुलना करो सव्वरणु §६६।

'मेरे लिए तुमने समुद्र को पार किया और इससे मर भी गए। नाथ, तुम चल दिये हो और इसपर भी मेरा कृतघ्न हृदय अपने आप को थामे हुए है"।

श्लोक ८४

उग्गाहिहि राम तुमं गुणे गणेऊण पुरिष-मइओ त्ति जणो,

गलिअ-महिला-सहावं सम्भरिऊण अ ममं णिअत्ति-हिइ कहं।

उग्गाहिहि 'गायेंगे'। गणेऊण 'गिनते हुए', पूर्वकालिक क्रिया। णिअत्तिहिइ भविष्यत् णिजन्त (नि+वृत्)। भरिऊण 'याद करते हुए' भरइ से कृदन्त रूप; *स्भरइ *स्हरइ=स्मरति शौरसेनी सुमरेदि, सुमरिअ। कहं 'कथा'।

"राम, लोग तुम्हारे गुणों और पुरुषार्थ का कीर्त्तन करते हुए तुम्हारे यश को गायेंगे और मुझे ऐसी स्मरण करके कि इसने स्त्री-स्वभाव को त्याग दिया वे कथा को बदल देंगे।"

श्लोक ८५

तुह वाणुक्खअ-णिहअं दच्छिम्मि दह-कएठ-मुह-णिहाअं ति कआ

महभाअधेअवलिआ विवरा-हुत्ता मणोरहा पल्हत्था।

उक्खअ, उक्खाअ के लिए, 'उत्खात' नष्ट किया गया। णिहअ (नि+हन्)। दच्छिमि या दच्छामि अधिक प्रमाणित है (देखो पिछला श्लोक ७७)। णिहाअ=निघात। विवरा=वि+परा-हुत्ता, टीका =मुखा, इसका भी वही अर्थ है किन्तु रूप अर्धमागधी है। खुत्त (कृत्वः) जैसा कि संख्याओं में होता है (पिशल §२०६)। तुलना

करो अर्धमागधी अणन्तखुत्त 'अनन्त समय, अनन्तता से'; क से ख और उस से ह होजाता है, तुलना करो णिहस §२६। पल्ह-त्थ, टीका=पर्यस्त, उद्विग्न, किन्तु इस दशा में पल्हत्थ होगा (र य को अपना अङ्ग बना लेता है और स्वयं ल बन जाता है प्रहत्थ *प्रह्लस्त, ह्रस्=ह्रस् धातु से, 'कम होना, घटना'।

"मेरे वे मनोरथ कि मैं दशकण्ठ के मुखों को तुम्हारे तीर से छिदे (और) चूरमूर हुए देखूंगी मेरे भाग्य के उलटफेर के कारण नष्ट होगये हैं"।

श्लोक ८६

जं तणुअम्मि वि विरहे पेमा-बन्धेण सङ्कई जणस्स जणो,
तं जाअं णवर इमं पेच्छन्तीए अ तारिसं मज्झ फलं।

तणुअ 'छोटा', पेमा=प्रेमा, पेम्म अधिक प्रयुक्त पाया जाता है § ६८। णवर, टीका=केवलं='केवल'। तुलना करो णवरि सर्ग ५ श्लोक ८२। नपरं से इसकी उत्पत्ति के विषय में पिशल का एतराज (§१८४), अर्थात् अनुस्वार गौण जैसा लगता है, प्रमाणित नहीं है।

"जिस बात की कोई व्यक्ति प्रेमबन्धन के कारण थोड़े से विरह में भी प्रेमपात्र के प्रति शङ्का करता है ऐसा ही भयंकर फल मेरे लिए हुआ है जो मैं इस दृश्य को देख रही हूँ"।

सर्ग १५ श्लोक ६४

अयोध्या को शुभ प्रत्यागमन।

घेत्तूण जणअ-तणअं करुचण-लट्ठिं व हुअ-वहम्मि विसुद्धं,
पत्तो पुरिं रघुवई काउं भरहस्स सप्फलं अणु-राअं।

घेतूण 'ग्रहण करते हुए' तुलना करो घेत्तुं § १३६। लट्ठि (लाठी), यष्टि के साथ इसकी समता अनोखी है। काउं=शौरसेनी मागधी कादुं, शौरसेनी में करिदुं भी होता है, सप्फलं, टीका=सफलं, किन्तु इस दशा में सफलं होगा (§ ५), बेहतर=सत्फलं।

"कञ्चन की लाठी के समान आग (हुतवह) में शुद्ध हुई जनकतनया को लेकर, रघुपति भरत को उसके अनुराग का सत्फल देने को नगर में पहुँचे।"

उद्धरण नं० १५

जैनमाहाराष्ट्री

मण्डिय।

(जेकोबि की चुनी हुई कथाएँ, नं० १)

बेण्णाडये णयरे[1] मण्डिओ णाम तुण्णाओ[2] पर-दव्व-हरण-पसत्तो आसी। सो य दुट्ठ-गण्डो मि त्ति जणे पगासेन्तो जाणु-देसेण णिच्चं एव अद्दावलेव-लित्तेण बद्ध-वण-पट्टो[3] राय-मग्गे तुण्णाग-सिप्पं उव-

---

१—बेण्णायड या बेण्णायड (बर्नातड) पश्चिमी भारतवर्ष का एक नगर। यहाँ यकार लघुप्रयत्न के लिए प्रयुक्त हुआ है, महाप्राण य के लिए नहीं (देखो पृ० ६)। णयर, इसीसे बहुत से आधुनिक नामों में=-नइर,-नेर।

जेकोबि ने अपनी हस्त-लिखित प्रति में उवजीवति, चक्कमति, इत्यादि पढ़ा है। विद्यार्थियों के लाभ के लिये उवजीवइ, चक्कमइ, इत्यादि अधिक नियमानुकूल रूप समाविष्ट किये गये हैं।

अर्धमागधी, जैन-माहाराष्ट्री, जैन-शौरसेनी में किसी शब्द के आरम्भ में अकेला न और मध्य में द्वित्व न रह सकता है। हस्तलिखित पुस्तकों में भिन्नताएं दृष्टिगोचर होती हैं।

२ तुण्णाओ या तुण्णागो का अर्थ 'भिखारी' मालूम होता है जिसमें दौर्जन्य का भाव भी है। ठीक व्युत्पत्ति अनिश्चित है किन्तु प्रत्यक्षत: उसका सम्बन्ध तूर्ण से है, जैसे तूर्णग 'तेज चलने वाला' में। पगासेन्तो पगासेइ 'दर्शाता है' (प्र+काश्) का शत्रन्त रूप। क्>ग् के लिये तुलना करो अर्ध-मागधी असोग (§ ११)।

३ दुट्ठ=दुष्ट। गण्डो के संस्कृत में कई अर्थ हैं जिनमें 'कपोल' 'फोड़ा'

जीवइ। चक्कमन्तो वि य दण्ड-धरिएणं पाएणं किलिम्मन्तो कहंचि चक्कमई[1]। रत्तिं त्र खत्तं खणिऊण दव्वजायं घेत्तूण-नगर-सरिणहिए उज्जाणेग-देसे भूमि-घरं, तत्थ निक्खिवई[2]। तत्थ य से भगिणी करणगा चिट्ठइ। तस्स भूमि-घरस्स मज्झे कूवो। जं च सो चोरो दव्वेण पलोभेउं[3] सहायं दव्व-वोढारं आणेइ, तं सा से भगिणी अगड[4]-समीवे पुव्वनत्थासणे णिवेसिउं पाय-सोय-लक्खेण पाए गेगिहऊण तंमि कूवए पक्खिवेइ। तओ सो विवज्जइ[5]। एवं कालो वच्चइ[6] णयरं मुसन्तस्स। चोर-ग्गाहा तं ण सक्केन्ति गेण्हिउं। तओ

'गैंडा' सम्मिलित है; प्राकृत के लिये हेमचन्द्र ने वनं (प्रचुरता?) दिया है। दाण्डपाशिको मो० वि० 'पुलिस का सिपाही', जेकोबि ने (इस स्थल के लिए) 'रात का पहरेदार', 'भिक्षु', (सम्भवत: ग्राम्य अर्थ), लघुमृग (?) और नापित: 'नाई' दिया है। अद्द 'ओदा' (आर्द्र)। अवलेव 'लेपन', (अव+लिप्)। लित्त 'लिपा हुआ'। वण 'घाव' (व्रण)। पट्ट 'पट्टी' जिससे पट्टिका आधुनिक पट्टी बनी है। यहाँ दुट्ठगण्डो बहुव्रीहि समास मालूम होता है और उसका अर्थ है 'बुरे फोड़े वाला'। यह कूट युक्ति अब भी काफी परिचित है।

१ चक्कमइ 'चक्कर लगाता है', 'भटकता फिरता है'। पाएण 'अपने पैर से'। किलिम्मन्तो किलिम्मइ थक जाता है' (क्लम्) का शत्रन्त रूप।

२ खत्तं 'छेद'। जाय (जात) "तायदाद"। सरिणहिए 'पड़ोस में' (सम्+निधा) एगदेस 'अंश'। तुलना करो § ११।

३ पलोभेउं पलोभेइ 'लुभाता है' णिजन्त (प्र+लुभ्) से तुमुन्नन्त रूप क्त्वान्त के अर्थ में प्रयुक्त।

४ अगड प्राकृत शब्द 'कुँआ', 'सोता'। नत्थ 'रक्खा हुआ' (न्यस्त) निवेसिउं णिजन्त (नि+विश्) असमापिका क्रिया। सोय 'धोना' (शौच)।

५—विवज्जइ 'नष्ट हो जाता है' (वि+पद्)।

६—वच्चइ 'जाता है, गुजरता है" साधारणतया इसका सम्बन्ध व्रज् से बतलाया जाता है (ज के स्थान में च, होने का यह एक उदाहरण है), किन्तु

णयरे बहुरवो जाओ। तत्थ य मूलदेवो राया पुव्व-भणिय-विहाणेण जाओ[2]। कहिओ य तस्स पउरेहिं तक्कर-वइयरो जहा, एत्थ णयरे पभूय-कालो मुसन्तस्स वट्टइ कस्सइ तक्करस्स, ण य तीरइ केणइ गेण्हिउं[3]। ता करेउ किंपि उवायं। ताहे सो अन्नं नगरारक्खियं ठवेइ, सो वि ण सक्कइ चोरं गेण्हिउं। ताहे मूलदेवो सयं नीलपडं पाउणिऊण रत्तिं णिग्गतो[4]। मूलदवो अणज्जन्तो एगाए सभाए णिवण्णो अच्छइ जाव, सो मण्डिय-चोरो आगन्तुं भणइ, को एत्थ अच्छइ? मूलदेवेण भणियं, अहं कप्पडिओ। तेण भण्णइ, एहि, मणुसं करेमि[6]। मूलदेवो उट्ठिओ। एगंमि ईसर-घेर खत्तं खयं। सुवहुं दव्व-जायं णीणेऊण मूलदेवस्स उवरिं चडाविय। पयट्टा णयर-

---

पिशल के विचारानुसार सम्भवतः व्रात्य से, अतएव=' आवारा फिरता है ", *वृत्यते से इसकी व्युत्पत्ति अधिक सुगम होगी, (तुलना करो पिशल् ग्रामर § २०२) हिन्दी बचना।

१—सक्केन्ति। शक् से या तो सक्केइ या सक्कइ।

२— विहाण ' विधान ' (वि+धा)।

३—वइयरो ' कथा ' (व्यतिकर)। कस्सइ (कस्य अपि) । तीरइ √ तॄ से कर्मवाच्य ' सिद्ध किया जाता है '।

४—पाउणिऊण ' धारण करना, पहिनना ' (प्रा+वृ) पाउणोमि, क्रान्त पाउणिअ।

५ अणज्जन्तो ' अज्ञात ' णज्जइ ' जाना जाता है ' का शत्रन्त रूप (ज्ञा)। णिवण्णो (नि+पद्)। अच्छइ ' ठहरता है ' § ६०। पिशल् ने इसकी व्युत्पत्ति ऋच्छति से बतलाई है (ग्रामर § ४८०। उन्होंने अन्य उपपत्तियों को उद्धृत किया है)। आगन्तुं- असमापिका क्रिया।

६—कप्पडिओ ' यात्री ', कार्पटिक। भण्णइ, भणइ का कर्मवाच्य।

७—' ईसर ' धनी मनुष्य '।

८—चडाविअ चडइ से क्रान्त णिजन्त, जिसके लिये हेमचन्द्र ने आ+रुह् दिया है (तुलना करो हिन्दी चढ़ना)। सुवहुं=सुबहुम्।

वाहिरियं। मूलदेवो पुरओ, चोरो असिणा कड्ढिएणं[2] पिट्ठओ एइ। सम्पत्ता भूमिघरं। चोरो तं दव्वं णिहणिउं[3] आरद्धो। भणिया य णेण भगिणी, एयस्स पाहुणयस्सं[4] पाय-सोयं देहि! ताए कूव-तडे[5]-सन्निविट्ठे आसणे णिवेसिओ। ताए पाय-सोय-लक्खेण पाओ गहिओ कूवे छुहामि त्ति[6]। जाव अतीव-सुकुमारा पाया, ताए णायं, जहेस कोइ अणुभूय-पुव्व-रज्जो विहलियंगो[7]। तीए अणुकम्पा जाया। तओ ताए पाय-तले सण्णिओ, एस्स त्ति मा मारिज्जिहिसि त्ति। पच्छा सो पलाओ। ताए वोलो कओ[8]; णट्ठो णट्ठो त्ति। सोयसिं कड्ढिऊण मग्गे ओलग्गो[9]। मूलदेवो राय-पह-अइसन्निकिट्ठं णाऊण चच्चर-सिवन्तरिओ ठिओ[10]। चोरो तं सिव-

---

१–पयट्टा=प्रवृत्ताः। वाहिरिय=बाहिरिय 'बाहर'।

२–कड्ढिअ 'निकाला गया कड्ढइ से (हे० ४, १८७=कृष्); कृष्ट से कट्ठ और उससे *कड्ढ बनना चाहिये।

३–णिहणिउं 'गाड़ना' (नि+खन्)।

४–पाहुणय 'पाहुना' (प्राघूर्णक)।

५–तड 'तट'।

६–छुहइ या छुभइ 'फेंकता है'। हेमचन्द्र=क्षिप्, बेहतर क्षुभ् से जो अंगरेजी 'Shove' से मिलता-जुलता है।

७–विहलिय (विह्वलित) 'कांपता हुआ'।

८–सण्णिओ (संज्ञितः) 'संकेत किया'। मारिज्जइ, मारेइ 'मारता है' का कर्मवाच्य। पलाओ 'भाग गया' पलायइ 'भागता है' का क्रान्त रूप। वोलो=वोलो माहाराष्ट्री में 'क्रन्दन'। बोलो=बोली' तुलना करो आधुनिक बोलना।

९–सोयसिं 'और वह' (अपनी) 'तलवार' (खींचकर) अथवा य् केवल सन्धि-व्यञ्जन है। ओलग्गो 'पीछा किया' का अर्थ है अनुलग्न, किन्तु रूप अव या अप+लग्न है।

१०–अइसन्निकिट्ठं=अति-सं-निकृष्टम्। चच्चर 'चबूतरा' (चत्वर)

लिङ्गं एस पुरिसो त्ति काउं कंकमएण असिणा दुहा-काउं पडिनियत्तो गओ भूमिघरं। तत्थ वसिऊण पहायाए रयणीए तओ निग्गन्तूण गओ बाहिं। अन्तरावणे तुण्णागत्तं करेइ। राइणा पुरिसेहिं सद्दाविओ। तेण चिन्तियं जहा, सो पुरिसो णूणं ण मारिओ, अवस्सं च एस राया भविस्सइ त्ति। तेहिं पुरिसेहिं-आणिओ। राइणा अब्भुट्ठाणेण पूइओ आसणे णिवेसाविओ, सु-बहुं च पियं आभासिओ संलत्तो, मम भगिणिं देहि त्ति। तेण दिण्णा, विवाहिया राइणा। भोगा य से संपदत्ता। कइसुवि दिणेसु गएसु राइणा मण्डिओ भणिओ, दव्वेण कज्जं ति। तेण सु-बहुं दव्व-जायं दिण्णं। राइणा संपूजिओ। अण्णया पुणो मग्गिओ, पुणो वि दिण्णं। तस्स य चोरस्स अतीव सक्कार-सम्माणं पउंजइ। एएण पगारेण सव्वं दव्वं दवाविओ। भगिणिं से पुच्छइ; तीए भणाति, एत्तियं चेव वित्तं। तओ पुव्वावेइय-लेक्खाणुसारेण सव्वं दव्वं दवावेऊण मण्डिओ सूलाए आरोविओ।

पिशल् § १११। अन्तरिओ 'अन्तर्हित, छिपा हुआ'।

१-कंकमअ 'टिटिहरी के चोंच की आकृति का'। दुहा काउं 'फाड़कर' (द्विधा कृत्वा)।

२-आवण 'हाट'। सद्दाविओ (शब्दापितः)।

३-णिवेसाविओ णिवेसेइ के पूरे रूप णिवेसावेइ का क्तान्त रूप।

४-संपदत्ता (सम्+प्र+दा)। से 'उस (की) पर'।

५-कइसुवि (कतिषु+अपि)।

६-सक्कार 'सत्कार'। पउंजइ 'प्रयुक्त करता है' (प्र+युज्)।

७-पगार 'प्रकार', दवाविओ णिजन्त क्तान्त (दा)।

८-आवेइअ णिजन्त आवेएइ का क्तान्त रूप (आ+विद्) लेक्ख 'फिहरिस्त'।

मण्डिओ।

बेन्नातड नगर में मण्डिओ नाम का एक भिखारी रहता था जिसे दूसरों के द्रव्य को हरने की लत पड़ी हुई थी। यह दिखलाने के लिए कि मैं नासूर से पीड़ित हूँ वह अपने घुटने पर चर्बी से लिबड़ी हुई पट्टियां बांध कर—जिन्हें सदा गीला रक्खा जाता था, राजमार्ग पर भिखारी की वृत्ति से जीविका करता था। थका मांदा, अपने पैर को लाठी के सहारे टिका कर, वह इधर उधर फिरा करता था। रात को वह (दीवार में) छेद करता था और बहुत सा माल नगर के निकट एक बाग़ के कोने पर एक तहख़ाने में ले जाकर गाड़ दिया करता था। वहाँ उसकी अविवाहित बहिन रहती थी। उस तहख़ाने के बीचोंबीच एक कुँआ था। चोर जिस किसी आदमी को लुभाकर अपने लूट के माल को ढोने के लिए अपने साथ लाता था, उसे उसकी बहिन, जो कुँए के किनारे पहले से ठीक किये हुए आसन पर बैठी रहती थी, धोने के बहाने पैर पकड़ कर कुँए के अन्दर ढकेल देती थी। और इस प्रकार वह विनष्ट हो जाता था। इस प्रकार समय बीतता गया और वह शहर को लूटता रहा। चोरों को पकड़नेवाले उसे पकड़ने में असमर्थ थे और शहर में इस विषय में बड़ा हल्ला मच गया था।

इन्हीं दिनों पूर्वोक्त विधान से मूलदेव यहाँ का राजा बना था। शहर के लोगों ने उसे चोर की कहानी सुनाई। उन्होंने कहा कि कुछ समय से कोई चोर शहर को लूट रहा है और उसे पकड़ने में कोई भी सफल नहीं हुआ है—इसलिए आप को कोई युक्ति निकालनी चाहिए। इस पर वह नगर की पुलिस का एक और सुपरिन्टेन्डेंट नियुक्त करता है। वह भी चोर को पकड़ने में असमर्थ है। फिर मूलदेव ने स्वयं एक काला चोगा पहिना और एक रात को बाहर निकला। मूलदेव जाता है और किसी घर में

अज्ञात वेश में लेट रहता है। मरिडओ चोर आता है और कहता है 'यहां कौन टिका हुआ है ?' मूलदेव ने कहा, ' मैं एक यात्री हूँ।' उसने कहा, 'आओ मैं तुम्हें आदमी बनाऊँगा।' मूलदेव उठा। किसी धनी आदमी के घर सँध लगाई गई। उसने बहुत सा लूट का माल निकाल बाहर किया और उसे मूलदेव पर लाद दिया। वे नगर की सीमा से बाहर जाने को रवाना होते हैं। मूलदेव आगे आगे चलता है, चोर नंगी तलवार लिये पीछे पीछे आता है। वे तहखाने में पहुँचे। चोर लूट के माल को गाड़ने में लग गया, और उसने अपनी बहिन से कहा—इस मेहमान के पाँव पखारो; उसने पाहुने को कुँए के किनारे पर रक्खे हुए आसन पर बिठाया और उसके एक पैर को इस प्रकार पकड़ा मानो उसे धोना चाहती हो, जिससे वह उस को कुँए के अन्दर ढकेल सके। चूंकि उसके पैर बहुत नाजुक थे, चोर की बहिन को मालूम हुआ कि यह कोई ऐसा व्यक्ति है जिसने राज्य सुख का उपभोग किया है और जिसके अंग बड़े संक्षोभशील हैं। उसको उस पर बड़ा तरस आया और उसने ज़मीन की सतह पर उसके पैर का निशान बनाया। "भाग जाओ नहीं तो मारे जाओगे।" इस के बाद वह भाग निकला। चोर की बहिन चिल्लाई—" वह भाग गया है, वह भाग है।" और उस (चोर) ने अपनी तलवार खींची और उसका पीछा करते हुए वह मार्ग पर पहुँचा। जब मूलदेव को मालूम हुआ कि मैं राजमार्ग पर चोर के बिलकुल पास ही हूँ तो वह किसी चौपाल में एकलिङ्ग के पीछे छिप रहा। चोर को इस शिव-लिङ्ग में मनुष्य का भ्रम हुआ, उसने उसके दो टुकड़े कर डाले और फिर अपने तहखाने को लौट चला। रात्रि का प्रकाश मन्द होने तक वह वहाँ ठहरा रहा, फिर बाहर निकला और वहाँ से चलता बना। बाजार में वह भिखारी की तरह रहता है। राजा ने उस को बुलाने के लिये आदमी भेजे। उसने अपने मन में सोचा, " तो

वह आदमी मारा नहीं गया, और सन्देह नहीं कि वह राजा ही निकल आये।"

राजा उसको प्रणाम करने को उठा, और उसने उसको आसन पर बिठाया। बहुत कुछ प्रिय भाषण के बाद राजा ने उससे कहा, "मुझे अपनी बहिन दे दो।" उसने अपनी बहिन देदी और राजा ने उसके साथ विवाह किया। उसको (चोर की बहिन को) सुखोपभोग के लिए धन-सम्पत्ति मिली।

जब कुछ दिन बीत गए, राजा ने मण्डिश्रो से कहा, 'मुझे कुछ धन चाहिए।' सो उसने उस को बहुत सा धन दिया। राजा ने उस की प्रतिष्ठा की। फिर उसने धन मांगा, और फिर धन दिया गया। वह चोर का अत्यधिक सत्कार और सन्मान करता है। इस प्रकार उसने चोर से उसका सारा धन ले लिया। वह उसकी बहिन को पूछता है। उस ने कहा, उसके पास इतनी ही सम्पत्ति थी। फिर उसने पहिले सुनाई हुई फ़ेहरिस्त के अनुसार यह सब धन लोगों को दिलवा दिया, और मण्डिश्रो को शूली पर चढ़ा दिया।

उद्धरण नं० १६

जैनमाहाराष्ट्री

दोमुह

सम्पइ दुम्मुहचरियम्। अत्थि इह् एव भारहे वासे कंपिल्लं नाम पुरम्। तत्थ हरिकुलवंससंभवो जश्रो नाम राया। तस्स गुणमाला नाम भारिया। सो य राया तीए सह रज्ज-सिरिं अणुहवन्तो गमेइ कालं। अन्नया अत्थाणमण्डव-ट्ठिएण पुच्छिश्रो दूश्रो —किं नत्थि मम, जं अन्नराईणं अत्थि? दूएण भणियं—देव,

१—सम्पइ=संप्रति, अब। दुम्मुह=दोमुह=द्विमुख=दो मुखवाला।

२—अत्थाण=आस्थान=सभामण्डप। 'दूश्रो दूत'।

चित्तसभा तुम्ह नत्थि। तओ राइणा आणत्ता[1] थवईणो, जहा लहुं चित्तसभं करेह! आएसणाणन्तरं समाढत्ता[2]। तत्थ धरणीए खन्नमाणीए कम्मगरेहिं[3] पञ्चमदिणे सव्व-रयणामओ जलणो-व्व तेयसा जलन्तो दिट्ठो महा-मउडो, स-हरिसेहिं सिट्ठो[4] जय-राइणो। तेण वि परितुट्ठ-मणेणं नन्दी-रव-पुव्वयं उत्तारिओ भूमि-विवराओ पूइया थवइम्-आईणो[5] जहारिह-वत्थम्-आईहिं। थेव-कालेण[6] वि निम्माया उत्तुङ्ग-सिहरा चित्तसभा। सोहण-दिणे कओ चित्त-सभाए पवेसो। आरोविओ मङ्गल-तूर-सद्देणं[7] अप्पणो उत्तिमङ्गे मउडो। तप्पभावेण दो-वयणो सो राया जाओ। लोएण[8] तस्स दोमुहो त्ति नामं कयं।

अइकन्तो कोइ कालो। तस्स य राइणो सत्त तणया जाया। दुहिया मे नत्थि त्ति गुणमाला अद्धिइं[9] करेइ। मयणाभिहाणस्स जक्खस्स इच्छइ उवाइयं। अन्नया य पारियाय-

---

१—आणत्ता=आज्ञप्ताः। थवइ=स्थपति=कारीगर।

२—समाढत्ता=समा √धा+त=समाहित=प्रारम्भ किया। ध को ढ हो जाता है, तुलना करो § ७। 'धा' धातु के स्थान में यहां 'रभ्' धातु की कल्पना असम्भव है।

३—धरणीए खन्नमाणीए=धरण्यां खन्यमानायाम्; जब ज़मीन खोदी जा रही थी। कम्मगर=कर्मकर=कारीगर।

४—सिट्ठो (साहइ का क्रान्त)=शिष्ट (* शासति)=कहा गया।

५—थवइमाइणो=स्थपत्यादयः=कारीगर आदि, 'म्' सन्धि व्यञ्जन है।

६—थेव (पाली में भी थेव)=थोड़ा। √स्तिप्=टपकना।

७—तूर=तूर्य=वाद्य।

८—लोएण=लोगों के द्वारा।

९—अद्धिइ=अधृति; चिन्ता।

१०—जक्खस्स=यक्षस्य; यक्ष को। इच्छइ; प्रतिज्ञा करता है। उवाइयं (उप+आ+ √कृ) उपायनम् भेंट।

मञ्जरी-उवलम्भ-सुविण-सूइया तीसे दुहिया जाया। कयं च वद्धावण-यं[1]। दिन्नं जक्खस्स उवाइयं। कयं च तीए नामं मयणमञ्जरी कमेण य जाया जोव्वणत्था।

इओ य उज्जेणीए चण्डपज्जोय-राया। तस्स दूएण साहियं, जहा—राया दोमुहो जाओ। पज्जोएण भणियं—कहं? दूएण भणियं-तस्स परिसो मउडो अत्थि; तम्मि आरोविए दो मुहाणि हवन्ति। मउडस्स उवरिं पज्जोयस्स लोभो जाओ। दूयं दोमुह-राइणो पेसेइ[2]—एयं मउड रयणं मम पेसेहि! अह न पेसेसि जुज्झसज्जो[3] होहि! दोमुह-राइणा दूओ भणिओ पज्जोय-सन्तिओ—जइ मम जं मग्गियं देह, तो अहं अवि मउडं देमि। दूएण भणियं—किं मग्गह? राइणा भणियं—

देह नलगिरी हत्थी अग्गीभीरू तहा रहवरो य।
जाया य सिवा देवी लेहारिय लोहजंघो य॥

एयं पज्जोयस्स रज्जसारं। पडिगओ दूओ उज्जेनिं। साहियं पज्जोयस्स दोमुह-सन्तियं पडिवयणं। कुद्धो[4] अईव पज्जोओ, चलिओ चउरंग-बलेण—दोन्नि लक्खा मयगलाणं[5], दोन्नि सहस्सा रहाणं, पंच अजुयाणि हयाणं, सत्त कोडीओ पयाइ-[6] जणाणं। अणवरय-[7]पयाणएहिं पत्तो पंचाल-जणवय-सन्धि। इयरो वि दोमुहराया

१—सूइय=सूचित, (सूच्) प्रकट की, शौरसेनी सूइद। सुविण=स्वप्न। परियाय=पारिजात; कल्पवृक्ष। वद्धावणयं=वर्धापन; जातकर्म।

२—पेसेइ=प्रेषयति; भेजता है।

३—जुज्झ-सज्जो=युद्धसज्जः; युद्ध के लिये तैयार।

४—कुद्धो=क्रुद्ध।

५—मयगल=मदकल=मत्त गज; मस्त हाथी।

६—पयाइ=पदाति; पैदल सैनिक।

७—अणवरय=अनवरत; निरन्तर।

चउरंगबल-समग्गो[1] नीहरिओ नयराओ । गओ पडिसंमुहं पज्जोयस्स । पंचाल-विसय-सन्धीए रइओ[2] गुरुड-वूहो पज्जोएण, सागरवूहो दोमुहेण । तओ सम्पलग्गं दोण्ह वि बलाण जुज्झं । सो मउड-रयण-पहावेण अजेओ[3] दोमुहराया । भग्गं[4] पज्जोयस्स बलं । बन्धिऊण पज्जोओ पवेसिओ नयरं । दिण्णं चलणे कडयं[5] । सुहेण तत्थ पज्जोयराइणो वच्चइ कालो ।

अन्नया दिट्ठा तेण मयणमञ्जरी । जाओ गाढाणुराओ, तओ कामग्गिणा डज्झमाणस्स चिन्ता-सन्ताव-गयस्स वोलिया[6] कहवि राई । पच्चूसे य गओ अत्थाणं दिट्ठो परिमिलाण-मुह-सरीरो दोमुह-राइणा; पुच्छिओ सरीर-पउत्तिं, न देइ पडिवयणं । सासंकेण य गाढयरं पुट्ठो । तओ दीहं नीससिऊण जंपियं[7] पज्जोएण—

मयण-वसगस्स, नरवर वाहि विघत्थस्स[8] तह य मत्तस्स ।
कुवियस्स मरन्तस्स य लज्जा दूरुज्झिया होइ[9] ॥
ता जइ इच्छसि कुसलं पयच्छ तो मयणमञ्जरिं धूयं[10] ।
निय-धूयं मे नरवर, न देसि पविसामि जलणम्मि ॥

१—समग्गो=समग्र ।

२—रइओ=रचित । वूह=व्यूह; मोरचाबन्दी ।

३—अजेओ=अजेय ।

४—भग्गं=भग्न; त्रुटित ।

५—कडय=कटक; वेढ़ी ।

६—डज्झमाण=दह्यमान; जलता हुआ । वोलिया=बीत गई; तुलना करो बोलेइ ।

७—नीससिऊण=लम्बी सांस भर कर । जम्पियं=जल्पितम् ।

८—वाहि=व्याधि । विघत्थ=(वि+ √घस्)=विघस्त, विग्रस्त; पीड़ित ।

९—कुविअ=कुपित; दूरुज्झिय=दूरोज्झित; दूर परित्यक्त ।

१०—धूयं=धूया=माहाराष्ट्री धूआ सौ० मा०=धूदा=*धूता *धुक्ता से, दुहिता ।

तओ दोमुहेण निच्छयं नाऊण दिन्ना । सोहण-दिण-मुहुत्ते कयं पाणिग्गहणं । कइवय-दिणेहिं धरिओ[1], पूइऊण विसज्जिओ, गओ उज्जेणिं पज्जोओ ।

अन्नया आगओ इन्दमहूसवो । दोमुह-राइणा आइट्ठा[2] नयर-जणा उब्भेह इन्दकेउं[3] । तओ मङ्गल-नन्दी-महारवेण धवल-धय-वडाहो डोय-खिंखिणी जालालंकिओ[4] अवलंबिय-वर-मल्ल-दामो मणि-रयण-माला-भूसिओ णाणा-विह-पलंबमाण-फल-निवह-चिंधइओ[5] उब्भिओ इंदकेऊ । तओ नच्चन्ति नट्टियाओ, गिज्जन्ति[6] सुकइ-रइया कव्व-बन्धा, नच्चन्ति नर-संघाया, दीसन्ति दिट्ठि-मोहणाइं इन्दयालाइं, इँन्दयालिणो[7] य दिज्जन्ति तम्बोलाइं, खिप्पन्ति[8] कप्पूर-कुंकुम-जल-छडा, दिज्जन्ति महा-दाणाइं, वज्जन्ति मुइंगाइ-आओज्जाइं । एवं महा-मोएण गया सत्त वासरा । आगया पुण्णिमा । पूइओ महा-विच्छड्डेणं[9] कुसुमवत्थाईहिं दोमुह-राइणा इन्दकेऊ । महा-तूर-रवेण

१—धरिओ=धृत; प्रतीक्षा की ।

२—आइट्ठा=आदिष्टा:; आज्ञा दिये गए ।

३—उब्भेह=(√उब्भेइ), उब्भ (उर्ध्व) से लोट् उत्थापय; स्थापित करो। ऊर्ध्व से उब्भ (उद्ध, उड्ढ भी) होजाता है। तवर्ग को पवर्ग आदेश का उदाहरण, द्वादश=बारस । केउ=केतु ।

४—धय=ध्वज । वडाहो=पताका । डोय=दारुहस्त ? cf पंजाबी 'डोई' ।

५—चिंधइओ=अलङ्कृत । प्राकृत धातु ।

६—गिज्जन्ति=गीयन्ते; गाए जाते हैं, § १३५ ।

७—इन्दयालिणो=ऐन्द्रजालिक; जादूगर ।

८—खिप्पन्ति=क्षिप्यन्ते; फेंके जाते हैं, § १३५ । (प्रा० धा० खिवइ) । छडा= छटा; बाहुल्य । वज्जन्ति=वाद्यन्ते; बजाए जाते हैं । मुइंग=मुरज; ढोल । आओज्ज= आतोद्य; एक वाद्य ।

९–विच्छड्ड=(वि+√छर्द्) दान; औदार्य ।

अन्नंमि दिणे पडिओ मेइणीए। दिट्ठो राइणा अमेज्झ-मुत्त-दुग्गन्धे निवडिओ जणेण परिलुप्पमाणो य[1]। दट्ठूण चिन्तियं धीरत्थु विज्जु-रेह-व्व[2] चञ्चलाणं परिणाम-विरसाणं रिद्धीणं। एयं चिन्तयन्तो संबुद्धो, पत्तेयबुद्धो[3] जाओ। पञ्च मुट्ठियं लोयं काऊण पव्वइओ[4]। उक्तं च:।

जो इन्दकेऊ सुयलंकियं तं दट्ठुं पडन्तं पविलुप्पमाणम्।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहियाणं पंचाल-राया वि समिक्ख[5] धम्मं॥

अनुवाद

अब द्विमुख का चरित्र (प्रारम्भ किया जाता है)—

भरत के इस देश में काम्पिल्य नामक नगरी थी। वहाँ हरि-कुल नाम से प्रसिद्ध वंश में जय नामक राजा था। उसके गुण-माला नाम्नी पत्नी थी। वह अपनी भार्या के साथ राज्यलक्ष्मी का उपभोग करता हुआ (सुखपूर्वक) कालयापन करता था। एक दिन सभामण्डप में बैठे हुए राजा ने दूत से पूछा—ऐसी कौन सी वस्तु है जो दूसरे राजाओं के (पास) है और मेरे (पास) नहीं है। दूत ने कहा—राजन्, आप के (यहाँ) चित्रसभा नहीं है। तब राजा ने स्थपतियों को आज्ञा दी-'शीघ्र ही चित्रसभा बनाओ'। आज्ञा होते

१—अमेज्झ=अमेध्य 'मल' मुत्त=मूत्र। परिलुप्पमाण=परिलुप्यमान, नष्ट होता हुआ।

२ — विज्जु=विद्युत्।

३—पत्तेय-बुद्धो=प्रत्येक बुद्धः, जिसको अकेले ज्ञान लाभ होता है।

४—मुट्ठिय=मुष्टि, लोय=लुञ्चन, नोचना। पव्वइओ (प्र+व्रज्) संन्यासी हो गया।

५—समुपेहियाणं=असमापिका क्रिया (सम्+उत्+प्रेक्ष)

ही वे कार्य में लग गये। भूमि खनने का कार्य्य चल रहा था कि पांचवें दिन कार्य्यकरों (कारीगरों) ने अग्नि के समान प्रकाशमान सर्वरत्न-खचित महामुकुट देखा, और (यह समाचार) जय राजा से निवेदन किया। उसने अति हर्षित होकर मङ्गलपाठानन्तर उसे पृथिवी के विवर से निकलवाया। (इसके पश्चात् राजा ने) कार्य्यकर (कारीगर) आदियों का यथोचित वस्त्रादिकों से सत्कार किया। थोड़े ही काल में ऊँचे ऊँचे शिखरोंवाली चित्रसभा तैयार हो गई। शुभ दिन में (राजा ने) चित्रसभा में प्रवेश किया। माङ्गलिक वाद्यध्वनि के साथ अपने शीर्ष पर मुकुट रखा। उस के प्रभाव से वह राजा दो मुख-वाला हो गया। लोगों ने उसका द्विमुख नाम रख दिया।

कुछ समय बीता। उस राजा के सात पुत्र उत्पन्न हुए। कन्या के अभाव से गुणमाला अधीर रहने लगी, और उसने मयण नामक यक्ष को भेंट चढ़ाने की प्रतिज्ञा की। कुछ काल के पश्चात् उसके स्वप्न में प्राप्त पारिजात मञ्जरी द्वारा सूचित कन्या उत्पन्न हुई। उसका जातकर्म किया गया। यक्ष को (प्रतिज्ञात) भेंट दी गई। (कन्या का) नाम मयणमञ्जरी रक्खा गया और वह क्रम से यौवन को प्राप्त हो गई।

उज्जयिनी में चण्डप्रद्योत नामक राजा था। उसके दूत ने सुनाया कि 'राजा द्विमुख हो गया है।' प्रद्योत ने कहा— 'कैसे?' दूत ने कहा—'उसके ऐसा ही मुकुट है। उसके धारण करने पर दो मुख हो जाते हैं।' (यह सुनकर) प्रद्योत का मन मुकुट पर ललचा गया। (उसने) द्विमुख राजा को दूत भेजा— 'इस श्रेष्ठ मुकुट को मुझे भेज दो। यदि नहीं भेजते तो युद्ध के लिए तय्यार हो जाओ।' राजा द्विमुख ने दूत से प्रद्योत के लिये सन्देश कहा—'यदि (मुझे) जो मैं मांगूँ दो तो मैं भी मुकुट देता हूँ।' दूत ने कहा—'क्या माँगते हो?' राजा ने कहा—

'करी सु नलगिरि देहु, अग्निभीरु रथ वर तथा।
शिवा देवि पटरानि, लोहजङ्घ लिपिकर सहित ॥'

यह प्रद्योत के राज्य का सारभाग था। दूत उज्जयिनी को लौट गया। (उसने) द्विमुख का सन्देश रूप उत्तर प्रद्योत को सुनाया। प्रद्योत अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने चतुरङ्गिणी सेना लेकर प्रस्थान कर दिया। (उसके साथ) दो लक्ष मस्त हाथी, दो सहस्र रथ, पचास सहस्र घोड़े, और सात कोटि पदाति थे। शीघ्रता से प्रयाण करता हुआ वह पञ्चाल देश की सीमा पर आ पहुँचा। उधर राजा द्विमुख भी चतुरङ्ग सैन्यसहित राजधानी से निकला और प्रद्योत के सम्मुख चला। पञ्चाल प्रान्त की सीमा पर प्रद्योत ने (अपनी सेना का) गरुड-व्यूह और द्विमुख ने सागर-व्यूह बनाया। तब दोनों सेनाएं युद्ध में जुट गई। श्रेष्ठ मुकुट के प्रभाव से राजा द्विमुख अजेय तो था ही। प्रद्योत की सेना नष्ट हो गई। प्रद्योत को बांधकर राजधानी में लाया गया। उसके पैर में बेड़ी डाली गई। वहाँ राजा प्रद्योत का समय आनन्द से बीतने लगा।

एक दिन उसने मदनमञ्जरी को देखा। (बस देखना था कि) गाढ़ा अनुराग उत्पन्न हो गया। इसके अनन्तर कामाग्नि से जलते हुए, तथा चिन्ता रूप व्याधि से ग्रस्त (उस प्रद्योत की वह) रात्रि बड़ी कठिनता से बीती। प्रातःकाल (वह) सभामण्डप को गया। राजा द्विमुख ने उसके मुख और देह को मुरझाया हुआ देखा। शरीर की दशा पूछने पर वह उत्तर नहीं देता था। (द्विमुख ने) डर कर अधिक बलपूर्वक पूछा। तब लम्बी सांस लेकर प्रद्योत ने कहा—

दोहा—मदन-वशग जो होहिं, व्याधि-भुक्त मद-मत्त अथ।
कुपित मृत्यु-आसन्न, लज्जा इनसे दूर रह ॥ १ ॥
कुशल यदी मम इष्ट, मदनमञ्जरी व्याह दो।
निज-दुहिता नर-चारु, नहिं तो वह्नि ममाश्रय ॥ २ ॥

इस पर द्विमुख ने (उसके) निश्चय को जान, वाग्दान कर दिया (और) शुभ दिवस तथा मुहूर्त में उसका विवाह कर दिया। (फिर उसे) कुछ दिन (और) ठहरा कर सत्कार पूर्वक बिदा कर दिया। प्रद्योत (अब) उज्जयिनी चला गया।

कुछ समय के पश्चात् इन्द्रमहोत्सव आ गया। राजा द्विमुख ने नगर-निवासियों को आदेश किया कि इन्द्रध्वजा खड़ी करो। तब माङ्गलिक स्तुति-पाठादि के महान् शब्द के साथ इन्द्र-ध्वजा खड़ी हुई। उसकी झंडियां श्वेत थीं। घुंघरू वाली घंटियों की माला से वह अलंकृत थी। उस पर सुन्दर बंदनवार लटक रहे थे। वह श्रेष्ठ मणियों की माला से विभूषित (और) नाना प्रकार के फलों के लटकते हुए समूहों से लदी हुई थी। उसके स्थापित होने पर नट लोग नाचने लगे, श्रेष्ठ कवियों की बनाई हुई कविताएं गाई जाने लगीं, मनुष्यों के झुण्ड नाचने कूदने लगे, दृष्टि को मुग्ध करनेवाले जादू के खेल होने लगे, जादूगरों को ताम्बूल (पान) दिये जाने लगे, कपूर तथा कुंकुम मिश्रित जल छिड़का जाने लगा, मुक्त हस्त होकर दान दिया जाने लगा, मुरज भेरी आदि बजने लगे। इस प्रकार बड़े राग-रंग से (चहल-पहल में) सात दिन व्यतीत हुए। पूर्णिमा आ पहुंची। राजा द्विमुख ने इन्द्र-केतु की पूजा बड़े औदार्य सहित कुसुम-वस्त्रादिक से की। दूसरे दिन (वह ध्वजा) वाद्यों के घोर शब्द के साथ पृथिवी पर गिरी। राजा ने उसे पुरीष और मूत्र से दुर्गन्धित स्थान में पड़ा हुआ और लोगों से लूटे जाते देखा। (और) देखकर सोचने लगा कि— 'बिजली की चमक के समान चञ्चल और परिणाम-विरस समृद्धियों को धिक्कार है।' इस प्रकार विचारते हुए उसे ज्ञान प्राप्त हो गया और वह स्वयं प्रत्येकबुद्ध बन गया। पञ्च मुष्ठि केश-लुञ्चन करके वह संन्यासी हो गया। कहा भी है—

शोभन-भूषित इन्द्रध्वज, गिरत लुटत तिहिं देख।
ऋद्धि असार विचारि भो, पञ्चाल नृप विवेक॥

उद्धरण नं० १७

जैनमाहाराष्ट्री

यह उद्धरण जोधपुर से लगभग २० मील उत्तर को बसे हुए घटयाल गांव के निकट उपलब्ध शिलालेख से लिया गया है। मूल और उसका अनुवाद १८६५ में रायल एशियाटिक सोसाइटी के पत्र, वाल्यूम २७, पृष्ठ ५१३, में प्रकाशित हुआ था। शिलालेख का समय संवत् ६१८ दिया गया है। उसमें लिखा है कि किसी कक्कुक नाम के सामन्त ने एक जैन मन्दिर की स्थापना की, एक बाज़ार बसाया और दो स्तम्भ खड़े किए।

ओं सग्गापवग्गमग्गं पढमं सयलाण कारणं देवं।
णीसेस-दुरिअ-दलणं परम-गुरुं णमह जिण-णाहं॥ १॥
रहु-तिलओ पडिहारो आसी सिरि लक्खणो त्ति रामस्स।
तेण पडिहार-वंसो समुण्णइं एत्थ सम्पत्तो॥ २॥
विप्पो हरिअन्दो भज्जा आसि त्ति खत्तिआ भद्दा।
ताण सुओ उप्पण्णो वीरो सिरि-रज्जिलो एत्थ॥ ३॥
अस्स वि णरहड णामो जाओ सिरि-णाहडो त्ति एअस्स।
अस्स वि तणओ ताओ, तस्स वि जस-वद्धणो जाओ॥ ४॥

श्लोक १—अपवग्ग 'अपवर्ग' (अप+वृज्), मोक्ष। णीसेस 'सब' (निःशेष) § ६३। दुरिअ 'पाप' (दुरित)।

श्लोक २–पडिहारो 'प्रतिहार', द्वारपाल, अथवा एक जाति का नाम। वन्सो बेहतर वंसो।

श्लोक ३—भज्जा 'भार्या' § ५०।

अस्स वि चन्दुअ-णामो उप्पएणो सिल्लुओ वि एअस्स ।
झोटो त्ति तस्स तणुओ अस्स वि सिरि भिल्लुओ चाई ॥ ५
सिरि भिल्लुअस्स तणुओ सिरि-कक्को गुरु-गुणेहि गारविओ ।
अस्स वि कक्कुअ-णामो दुल्लहदेवीए उप्पएणो ॥ ६ ॥
ईसिविआसं हसिअं, महुरं भणिअं, पलोइअं सोम्मं ।
णमयं जस्स ण दीणं रो (सो) थेओ थिरा मेत्ती ॥ ७ ॥
णो जम्पिअं, ण हसिअं, ण कयं, ण पलोइअं, ण संभरिअं ।
ण थिअं, ण परिब्भमिअं, जेण जणे कज्ज-परिहीणं ॥ ८ ॥
सुत्था दुत्था वि पया अहमा तह उत्तिमा वि सोक्खेण ।
जणणि व्व जेण धारिआ णिच्चं णिय-मण्डले सव्वा ॥ ९ ॥
उअरोह-राअ-मच्छर-लोहेहिं इ णाय-वज्जिअं जेण ।
ण कओ दोएह विसेसो ववहारे कंवि मणयं पि ॥ १० ॥
दिअवर-दिएणाणुज्जं जेण जणं रञ्जिऊण सयलं पि ।
णिमच्छरेण जणिअं दुट्ठाण वि दण्ड-णिट्ठवणं ॥ ११ ॥

श्लोक ५—शिलालेख में नामा शब्द है किन्तु यह नामो का, जैसा कि दूसरे श्लोक में है, गलत रूप है । चाई 'उदार' (=त्यागी), तुलना करो अर्धमागधी चत्त=त्यक्त । § ४४ । § ११६ । गारविओ का अर्थ है गौरवित, 'बहुत प्रतिष्ठित', तुलना करो माहाराष्ट्री अर्धमागधी जैन-माहाराष्ट्री गारव, माहाराष्ट्री शौरसेनी गोरव (=गौरव); पालि गरु; संस्कृत गरीयस् ।

श्लोक ७—णमयं, शायद इसको सही करके णमियं 'नम्रता' कर दिया गया है । थेओ=थेवो 'थोड़ा' ।

श्लोक ९—पया=प्रजाः, णिय=निज ।

श्लोक १०—उअरोह 'अनुग्रह' अथवा 'द्वेष, अवरोध' (उप+रुध्) । मच्छर 'मत्सर', तुलना करो वच्छ § ३९ । इ=इति । अर्धमागधी में दीर्घ स्वर के बाद 'ति' इ हो जाती है (पिशल § ९३) । जैन माहाराष्ट्री में मणियं पि अधिक प्रचलित है ।

श्लोक ११—दिअ 'द्विज' § ४२ । णिट्ठवणं 'नियन्त्रण' (निः+स्थापनम्)

धण-रिद्धि-समिद्धाण वि पउराणं णिअकरस्स अब्भहिअं।
लक्खं सयं च सरिसन्तणं च तह जेण दिट्ठाइं ॥ १२ ॥
णव-जोव्वण-रूअ-पसाहिएण सिंगार-गुण-गरुक्केण।
जणवय-णिज्जमलज्जं जेण जणे णेय संचरिअं ॥ १३ ॥
बालाण गुरू तरुणाण तह सही गयवयाण तणओ व्व।
इय-सुचरिएहि णिच्चं जेण जणो पालिओ सव्वो ॥ १४ ॥
जेण णमन्तेण सया सम्माणं गुणथुइं कुणन्तेण।
जंपन्तेण य ललिअं दिण्णं पणईण धण-णिवहं ॥ १५ ॥
मरुमाड-वल्ल-तमणी-परिअंका-अज्ज-गुज्जरत्तासु।
जणिओ जेण जणाणं सच्चरिअ-गुणेहिं अणुराओ॥ १६ ॥
गहिऊण गोहणाइं गिरिम्मि जालाउ (ला) ओ पल्लीओ।

ह्रस्व स्वर के लिए तुलना करो ठवेइ=स्थापयति § ६७।

श्लोक १२—पउर=शौरसेनी पोर (=पौर) § ६१। अब्भहिअं=अभ्यधिकं। कीलहौर्न ने सरिसत्तणञ्च=*सदृशत्वनम् च को प्रस्तुत किया;—त्तण=वैदिक त्वन-त्व के स्थान में अधिक प्रचलित है। (उनका इस श्लोक का अनुवाद विचारणीय है और उन्हों ने लिखा है कि सम्भवत: मूल का शब्द विन्यास अशुद्ध है)।

श्लोक १३—गरुक्क 'भारी' 'भरा हुआ'=*गरुक्य, तुलना करो पालि गरु; संस्कृत गुरुक (पिशल § १९९)। जणवय=जनपद। णिज्ज=नेद्य 'निन्द्य'। णेय=नैव।

श्लोक १४—गय-वय 'बूढ़ा' (=गत-वयस्); इय, जैन महाराष्ट्री अर्धमागधी=इति।

श्लोक १५—सया=सदा। पणइ=प्रणयिन्।

श्लोक १६—मरुमाड, सम्भवतः=मारवाड़। गुज्जर=गुर्जर 'गूजर'। यहाँ हमें आधुनिक 'गुजरात' का यह एक अधिक प्राचीन रूप उपलब्ध होता है। परिअङ्का अज्ज की कोई व्याख्या नहीं दी गई है।

जणिश्राश्रो जेण विसमे बडणाणय-मण्डले पयडं ॥ १७ ॥
णीलुप्पल-दल-गन्धा रम्मा मायन्द-महुअ-विन्देहिं ।
वर-इच्छु-पण्ण-च्छण्णा एसा भूमी कया जेण ॥ १८ ॥
वरिस-सएसु अ णवसुं अट्ठारसमग्गलेसु चेत्तम्मि ।
णक्खत्ते विहु-हत्थे बुहवारे धवल-बीआए ॥ १९ ॥
सिरिकक्कुएण हट्टं महाजणं विप्प-पयइ-वणि-बहुलं ।
रोहिन्सकूअ-गामे णिवेसिअं कित्ति-विद्धीए ॥ २० ॥
मड्डोअरम्मि एक्को, बीओ रोहिन्सकूअ-गामम्मि ।
जेण जसस्स व पुंजा एए त्थम्भा समुत्थविआ ॥ २१ ॥
तेण सिरिकक्कुएणं जिणस्स देवस्स दुरिअ-णिद्दलणं ।
काराविअं अचलमिमं भवणं भत्तीए सुह-जणयं ॥ २२ ॥
अप्पिअमेअं भवणं सिद्धस्स धणेसरस्स गच्छम्मि ।
तह सन्त-जम्ब-अम्बय-वणि-भाउड-पमुह-गोट्ठीए ॥ २३ ॥

———

श्लोक १७–गोहण 'गायों का समुदाय' (गो-धन)। पल्ली 'झोंपड़ियों का समुदाय'। जालाउल=ज्वालाकुल, पयडं=प्रकटम्, माहाराष्ट्री पअड अर्ध मागधी पगड।

श्लोक १८—मायन्द 'आम का पेड़' (माकन्द)।

श्लोक १९–अग्गल (=अर्गल) पारिभाषिक ढंग से तिथियों में प्रयुक्त किया जाता है देखो इंडियन एन्टिकैरी, वौल्यूम १९, पृष्ठ ६१, नोट ४२। विहु 'विधु' चन्द्रमा। हत्थ=हस्त–नक्षत्र। वीअ 'दूसरा', अर्धमागधी जैन माहाराष्ट्री बीय, बिइय।

श्लोक २०–महाजणं विशेषण के तौर पर 'सौदागरों के लिये'। पयइ 'पैदल सैनिक', पयाइ 'पदाति' भी होता है।

श्लोक २३–अप्पिअं (अर्पित)। गच्छ 'परम्परा', 'वंश', अर्थात् 'शाखा'। गोट्ठी 'गोष्ठी,' समाज।

अनुवाद

१—ओम् ! स्वर्ग और अपवर्ग के मार्ग, सकल वस्तुओं के प्रथम कारण, निःशेष दुरितों को दलन करनेवाले परम गुरु, जिननाथ को नमस्कार करो।

२—श्री लक्ष्मण रघुकुलतिलक राम के द्वारपाल थे; इससे प्रतिहार-वंश यहाँ उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है।

३—हरिचन्द्र नाम का एक ब्राह्मण था; उसकी पत्नी भद्रा नाम की क्षत्रियाणी थी। उनके रज्जिल नाम का एक वीर पुत्र उत्पन्न हुआ।

४—उसके भी नरभट्ट नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ और उसके नाहड (=नागभट); उसका पुत्र तात, और उसका पुत्र यशोवर्धन था।

५—उसके चन्दुक उत्पन्न हुआ, और उसके शिल्लुक; उसका पुत्र झोटो, और उसका त्यागशील भिल्लुक हुआ।

६—श्री भिल्लुक के कक्को नाम का अत्यन्त गौरवान्वित और उदात्त गुणों से युक्त तनय हुआ, और उस के दुर्लभ देवी से कक्कुक नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।

७—उसका हास अधखिली (कलि के समान) है, उस का भाषण मधुर, चितवन सौम्य, नम्रता अदीन, रोष क्षणिक और मैत्री स्थिर है।

८—उसने कभी कोई ऐसी बात नहीं कही, कोई ऐसी हंसी न हंसी, कोई ऐसा काम न किया, कोई ऐसी दृष्टि नहीं डाली, कोई ऐसी बात याद नहीं की जिससे मनुष्य जाति का उपकार न हुआ हो।

९—उसने जननी की भांति अपने राष्ट्र के अन्दर अपनी प्रजा के निर्धन और धनी, अधम और उत्तम सभी लोगों को सुख से रक्खा है।

१०—अनुग्रह, राग, द्वेष या लोभ के कारण कर्तव्यपथ से

विचलित होकर उसने कभी भी व्यवहार में प्रतिपक्षियों के प्रति कोई भेद-भाव नहीं दिखलाया है।

११—द्विजवरों की दी हुई शिक्षा का अनुसरण करते हुए उसने सारी प्रजा को प्रसन्न रक्खा है, और मत्सर रहित होकर दुष्टों को दण्ड दिलवाया है।

१२—धन से समृद्ध नागरिकों पर उसने अपने राजस्व से भी अधिक कर लगाया है (?), एक लाख और एक सौ और इसी तरह (?)।

१३—यद्यपि वह यौवन और सौन्दर्य के लावण्य से अलंकृत था और शृङ्गार के गुणों से गौरवान्वित था, उसने प्रजा के साथ कभी ऐसा आचरण नहीं किया जिससे उस को लोगों का निन्दा-भाजन बनना पड़ा हो अथवा लज्जा को तिलाञ्जलि देनी पड़ी हो।

१४—वह बच्चों का गुरु था, इसी प्रकार तरुणों का सखा और बूढों का पुत्र जैसा था, इस प्रकार के सदाचरण से उसने निरन्तर सबका पालन किया है।

१५—सदा विनीतता से सन्मान प्रदर्शित करते हुए, गुणों की प्रशंसा और मधुर भाषण करते हुए उसने अपने प्रणयियों को प्रचुर धन दिया है।

१६—अपने सच्चरित्र और गुणों से उसने मरुमाड, वत्स, तमणी ......और गुजरात में लोगों के हृदय को (अनुराग) जीत लिया है।

१७—विषम वटनानक मण्डल के पहाड़ पर के गांवों को उसने खुल्लमखुल्ला अग्निसात् (ज्वालाकुल) कर दिया है और गोधन को वहाँ से ले लिया है।

१४—इस भूमि को उसने नीलोत्पल के पत्तों से सुगन्धित और माकन्द (आम) और मधुक के पेड़ों के पुंजों से रमणीक बना दिया है और उसे बढ़िया ईख (इक्षु) के पत्तों से आच्छन्न कर दिया है।

१६-२०—और चैत्र में जब नौ सौ वर्षों में अठारह वर्षों की वृद्धि हो चुकी थी (६१८ में), जब चन्द्रमा का नक्षत्र हस्त था, शुक्र पक्ष की द्वितीया, बुधवार को श्रीकक्कुक ने अपने यश की वृद्धि के लिये रोहिन्सकूप गांव में एक हाट की स्थापना की जो महाजनों (सौदागरों) के लिये उपयुक्त और ब्राह्मणों, पदातियों और सौदागरों से आकीर्ण था।

२१—उसने अपने यश के पुञ्जों की भांति इन दो स्तम्भों को, एक को मड्डोअर और दूसरे को रोहिन्सकूप गांव में, खड़ा किया है।

२२—इस श्रीकक्कुक ने भक्ति-भाव से देव 'जिन' के इस दुरितों के दलन करने वाले सुख-प्रद अचल भवन को बनवाया है।

२३- और इस भवन को उसने सिद्ध धनेश्वर के गच्छ में जम्ब और अम्बय (?) सन्तों और भाकुट (?) बनिये से अधिष्ठित गोष्ठी को समर्पित कर दिया है।

उद्धरण नं० १८

जैनमाहाराष्ट्री

कालकाचार्य की कथा से। Jacobi Z. D. M. G. Vol. 34 (1880), Page 262.

उज्जैन के दुष्ट राजा गर्दभिल्ल को प्रभावान्वित करने में असफल होकर, जो संन्यासिनी सरस्वती को अपने अन्तःपुर में लिवा लाया था और जिसने फिर उसको छोड़ने से नाहीं कर दी थी, संन्यासिनी का महात्मा भाई कालकाचार्य गर्दभिल्ल को पद-च्युत करने के उद्देश्य से परदेश गया।

तं च कुओ वि नाऊण निग्गओ नयरीओ सूरी, अणवरयं च मच्छन्तो पत्तो सग-कूलं णाम कूलं। तत्थ, जे सामन्ता, ते साहिणो

१—कुवो वि=कुतोऽपि। नाऊण √ज्ञा, जैन महाराष्ट्री में साधारणतया

भरणन्ति; जो सामन्ताहिवई सयल-नरिन्द-वन्द-चूडामणी सो साहाणुसाही भरणइ[1]। तओ कालग-सूरी ठिओ एगस्स साहिणो समीवे, आवज्जिओ[2] य सो मन्त-तन्ताईहिं। इओ य अरणया कयाई[3] तस्स साहिणो सूरि-समन्नियस्स हरिस-भर-निब्भरस्स नाणाविहविणोएहिं चेट्ठमाणस्स[4] समागओ पडिहारो, विन्नत्तं च तेण, जहा-"सामि! साहाणुसाहि-दूओ दुआरे चिट्ठइ"। साहिणा भणियं-"लहुं पवेसेहि"। पवेसिओ य वयणेण अन्तरं एव निसन्नो य दिएणासणे[5]। तओ दूएण समप्पियं उवायणं तं च दट्ठूण नव-पाउस[6]-काल-नहयलं व अन्धारियं वयणं साहिणो। तओ चिन्तियं, "हन्ति, कामं अपुव्व-करणं उवलक्खिज्जइ[7], जओ सामि-पसायं आगयं दट्ठूण जलय-दंसणेणं व सिहिणो हरिस-भर-निब्भरा जायन्ति सेवया सा साम-वयणे दीसइ। ता पुच्छामि कारणं", ति। एत्थन्तरम्मि साहि-पुरिस-दंसिय-विडहरे[8] गओ दूओ। तओ पुच्छियं सूरिणा,

---

आरम्भ का न मूर्धन्य नहीं होता। सग-कूल 'शकों का तट (देश)'; इस रूप के लिये तुलना करो 'असोग'।

१—अहिवइ (अधिपति)। साहि=षाहि, अर्थात् फारसी शाह या शाही। यह शब्द, और षाहानुषाहि भी=फारसी शाहन्शाह 'सम्राट्', इलाहाबाद प्रशस्ति में मिलते हैं (Fleet Guptā Inscriptions No. 1, Samudra.) इस प्रशस्ति में इन दो शब्दों का प्रयोग भारत के पश्चिम में शकों के सम्बन्ध में लक्षित किया गया है।

२—आवज्जिओ (आ+वृज्)।

३—इतश्च-अन्यदा कदाचित्।

४—'चेष्टा करते हुए' (चेष्ट्)।

५—'दान'।

६—पाउस 'वर्षा ऋतु' (प्रावृष्)।

७—हन्ति=हन्त। उवलक्खिजइ उवलक्खेइ (उप+लक्ष्) का कर्मवाच्य।

८—विडहर प्रत्यक्षतया "बदमाशों का घर" (*विट-घर)।

"हन्त, सामि-पसाए समागए किं उव्विग्गो विय लक्खीयसि ?" तेण भणियं, "भयवं, न पसाओ, किं तु कोवो समागओ; जओ अम्ह पहू जस्स रूसइ, तस्स नामङ्कियं मुद्दियं छुरियं पट्ठवेइ[1]। तओ केणइ कारणेण अम्होवरिं[2] रूसिऊण पेसिया एसा छुरिया। एईए य अप्पा अम्हेहिं घाइयव्वो[3]; उग्ग-दण्डो त्ति काऊण न तव्वयणे वियारणा कायव्वा।" सूरिणा भणियं-"किं तुज्झ चेव रुट्ठो, उयाहु[4] अन्नस्स वि कस्स वि ?" साहिणा भणियं-"मम वज्जियाणं अण्णेसिं पि पञ्चाणउइ-राईणं, जओ दीसइ छन्नउइमी इमीए सत्थियाए अंको त्ति[5]।" सूरिणा जम्पियं-"जइ एवं, ता मा अप्पाणं विणासेहि"। तेण भणियं-"न पहुणा रुट्ठेण कुलक्खयं अन्तरेण छुट्टिज्जइ[6]; मए पुण मएण सेसकुलस्स खेमं भवइ"। सूरिणा भणियं—"जइ वि एवं तहा वि वाहरेसुं[7] निय-दूय-पेसणेण पञ्चाणउइं पि रायाणो, जेण हिन्दुग-देसं[8] वच्चामो।" तओ तेण पुच्छिओ दूओ, जहा-"भद्दा! के ते अन्ने पञ्चाणउई रायाणो, जेसिं कुविओ देवो ?" तेण वि सव्वे निवे-

---

१—पट्ठवेइ 'भेजता है' णिजन्त (प्र+स्था)।

२—उवरिं=उवरि।

३—एईए तृतीया स्त्रीलिङ्ग 'इससे'। घाइयव्व हन् के णिजन्त रूप से तव्यान्त।

४—उयाहु 'अथवा' (उताहो)।

५—छन्नउइमी छयानबेवां।

सत्थिआ 'हथियार' (शस्त्रिका), 'क्योंकि उसके शस्त्र का नम्बर ९६ वां प्रतीत होता है।'

६—छुट्टिजइ कर्म वाच्य √छुट् 'काट डालना, छोड देना।' तुलना करो हिन्दी छुटना, छुट्टी।

७—वाहरेसु 'बुलाओ' वि+आ+हृ।

८—हिन्दुग=फारसी हिन्दुक। वच्चामो 'हम जा रहे हैं।'

इया। तओ दूयं विसज्जिऊण सव्वेसिं पि पेसिया पत्तेयं[1] निय-दूया जहा-"समागच्छह मम समीवे, मा निय जीवियाइं परिच्चयह, अहं सव्वत्थ भलिस्सामि[2]"। तओ ते दुपरिच्चयणीयत्तणाओ[3] पाणाणं सव्व-सामग्गि काऊण आगया झड त्ति[4] तस्स समीवं, ते य समागए दट्ठूण तेणावि पुच्छिया सूरिणो-"भयवं किं अम्हेहिं सम्पयं कायव्वं ?" सूरीहिं भणियं-"सबल-वाहणा उत्तरिऊण सिन्धुं वच्चह हिन्दुग-देसं। तओ समारुहिऊण जाणवत्तेसुं[5] समागया सुरट्ठ-विसए। एत्थन्तरम्मि य समागओ पाउस-समओ; तओ दुग्गमा मग्ग त्ति काउं सुरट्ठ-विसओ छण्णउइ-विभागेहिं विभञ्जिऊण ठिया तत्थेव।

[फिर शरद् ऋतु आई, जिसका सविस्तर वर्णन किया गया है]

एवंविहं च सरय[6]-काल-सिरिमवलोइऊण निय-समीहिय-सिद्धि-कामेण भणिया ते कालय-सूरिणा, जहा—"भो, किं एवं निरुज्जमा चिट्ठह ?" तेहिं भणियं,-"आइसह किं पुणो करेमो।" सूरिणा भणियं, "गिण्हह उज्जेणिं, जओ तीए पडिबद्धो पभूओ मालव-देसो; तत्थ पज्जत्तीए तुम्हाणं निव्वाहो[7] भविस्सइ।" तेहिं भणियं-"एवं करेमो; परं नत्थि सम्बलयं, जम्हा[8] एयम्मि देसे अम्हाणं भोयण-मेत्तं चेव जायं"। तओ सूरिणा जोग-चुण्ण-चहुण्टिया-मेत्त-

१—पत्तेयं 'पृथक् पृथक्' प्रत्येकम्।

२—भलिस्सामि भलइ=भरइ का भविष्य का रूप, या तो=भृ 'भरण करना' से या *भ्हरइ के द्वारा स्मृ से।

३—=दुःपरित्यजनीयत्वात्।

४—झट् इति।

५—जाणवत्त=जहाज (यानपात्र), § ६२।

६—सरय 'शरद्'।

७—निव्वाहो 'प्रचुरता, जीविका' (निर्वाह)। पजत्ति 'पर्याप्ति'।

८—सम्बलयं 'गोदाम, सामान' (शम्बलं)। जम्हा पञ्चमी एकवचन (यस्मात्) क्रियाविशेषण जैसा प्रयुक्त किया गया है, 'चूंकि, क्योंकि'।

पक्खेवेण सुवण्णो-काऊण सव्वं कुम्भकारावणं भणियो—"एयं सम्बलं गिण्हह"। तओ ते तं विभंजिऊण सव्व-सामग्गीए पट्ठिया उज्जेणिं पइ। अन्तरे य जे के वि लाडय-विसय-रायाणो, ते साहेत्ता[3] पत्ता उज्जेणि-विसयसन्धि। तओ गद्दभिल्लो परबलं आगच्छन्तं सोऊण महाबल-सामग्गीए निग्गओ पत्तो य विसय-सन्धि। तओ दोण्हं पि दप्पु-द्धुर-सेन्नाणं लग्गं आओहणं[4]।

अनुवाद

जब सूरि को कहीं से इसका पता लगा तो वह नगर से विदा हुआ, और अनवरत चलता हुआ शक-कूल नाम के देश में पहुँचा। वहाँ जो सामन्त हैं उन्हें षाही कहते हैं और जो सकल नरेन्द्र-वृन्द का चूड़ामणि और सामन्ताधिपति होता है उसे षाहानुषाही कहते हैं। तब कालक सूरि एक षाही के पास टिका, और उसको उसने मन्त्र तन्त्र से आवर्जित किया (अपनी ओर आकर्षित किया)। इसके उपरान्त एक समय जब वह षाही सूरि के साथ था और हर्ष-निर्भर हृदय से नानाविध विनोदों से काल यापन कर रहा था, द्वारपाल अन्दर आया और उसने यह निवेदन किया—" स्वामिन्! षाहानुषाही का दूत द्वार पर खड़ा है।" षाही ने कहा—" शीघ्र अन्दर ले आओ।" इस बात के अनन्तर ही दूत ने प्रवेश किया और वह निर्दिष्ट आसन पर बैठ गया।

१—चुण्ण 'चूर्ण' हिन्दी चून। चहुडिया चुटकी, नास; तुलना करो हिन्दी च्यौंटी, पञ्जाबी चूंढी।

२—पइ=प्रति।

३—साहेत्ता साहेइ=साहइ (शास्ति) 'कहना, बुलाना' का पूर्वकालिक कृदन्त रूप।

४ लाडय, अर्थात् लाट=दक्षिण गुजरात। उद्धुर=उद्धुर। आओहण 'लड़ाई' (आ+युध्)।

तब दूत ने उपहार (उपायन) को समर्पित किया । इसको देखकर षाही का मुख (वदन) नये प्रावृष-काल के आरम्भ के आकाश की भांति अँधेरा हो गया। तब सूरि ने सोचा—"अहो, अवश्य ही यह कोई अपूर्व कर्म प्रतीत होता है; क्योंकि स्वामी के प्रसाद को आया हुआ देखकर सेवक इसी प्रकार हर्षनिर्भर हो जाते हैं जैसे मेघों के दर्शन से मोर (शिखी)-किन्तु यह श्याम-वदन दिखाई देता है, अतएव मैं इसका कारण पूछूँगा।" इसी बीच दूत षाही के कर्म-चारियों से बताये हुए भवन (?) में चला गया। तब सूरि ने पूछा—"क्यों, स्वामी के प्रसाद के आने पर आप उद्विग्न जैसे क्यों दिखाई देते हैं?" उसने कहा—"भगवन्, यह प्रसाद नहीं किन्तु कोप का समागम है; क्योंकि जिस किसी से हमारा प्रभु रूसता है उसके पास वह उसके नाम की मुहर की छुरी भेजता है। अतएव किसी कारण से हमारे ऊपर रूसकर उसने यह छुरी भेजी है। इसी से हमें आत्मघात करना होगा; उस-के उग्र दण्ड के भय से उस की बात पर कोई विचारणा नहीं की जा सकती।" सूरि ने कहा—"क्या तुम्हीं पर रूठा है या अन्य किसी पर भी?" षाही ने कहा—'मुझे छोड़कर अन्य पचानवे राजाओं पर भी, क्योंकि इस शस्त्र पर छयानवेवां अङ्क लगा हुआ दिखाई देता है।" सूरि ने कहा—यदि ऐसा है तो अपना विनाश न करो।" उस ने कहा—"रुष्ट हुआ प्रभु कुल-क्षय किये बिना सांस नहीं लेता; किन्तु मेरे मरने से शेष कुल का क्षेम होता है।" सूरि ने कहा—"यदि ऐसा है तो अपना दूत भेजकर सारे पचानवे राजाओं को यह सन्देश भेजो कि हम हिन्दुक देश को जा रहे हैं।" तब उसने दूत को इस प्रकार पूछा—"भद्र वे अन्य पचानवे राजा कौन हैं, जिनपर महाराज कुपित हुए हैं?" उसने उन सबके नाम बताये। तब दूत को विसर्जन करके सबके पास अलग अलग इस प्रकार सन्देश पहुँचाने के लिये उसने अपना दूत

भेजा—"मेरे पास आओ, अपने जीवन का परित्याग न करो, मैं सारी बातों को ठीक कर लूंगा।" तब वे सब अपना सारा साज सामान लेकर सीधे उस के पास आये, क्योंकि प्राणों को त्यागना मनुष्य के लिये कठिन है, और उनको आया हुआ देखकर उसने सूरि से पूछा—"भगवन्, अब हमें क्या करना चाहिये?" सूरि ने कहा—"बलवाहन सहित सिन्धु नद को पार करके हिन्दुक देश को जाओ"। तब जहाजों में चढ़कर वे सूरत देश में पहुँचे। इसी बीच वर्षाकाल भी आ गया; तब मार्गों को दुर्गम देख कर वे सुरत देश को ९६ भागों में विभक्त कर के वहीं रहने लगे। शरद्-श्री को देख कर जैसा कि उसे ऊपर वर्णन किया गया है कालकसूरि ने स्वयं अपनी लालसा को पूरा करने की इच्छा से उनसे कहा—'क्यों जी, क्यों इस प्रकार निरुद्यमी हो कर समय बिता रहे हो?' उन्हों ने कहा—'तो फिर आदेश कीजिये कि हम क्या करें?' सूरि ने कहा—'उज्जैन पर अधिकार करो, क्यों कि यही मालव देश की कुञ्जी है; वहाँ तुम्हारा यथेष्ट निर्वाह होगा'। उन्होंने कहा—'ऐसा ही करते हैं; किन्तु हमारे पास कोई सामान नहीं है, क्योंकि इस देश में हमें भोजन मात्र के लिए जौ मिले हैं।' तब सूरि ने योगचूर्ण की एक चुटकी मात्र के प्रक्षेपण (फेंकने) से सारे कुम्हारों की उपादान सामग्री को सुवर्ण बना दिया और कहा—'यह लो, सामान है।' तब उन्होंने उसको बांट कर और अपने सारे साज सामान को ले कर उज्जैन के प्रति प्रस्थान किया। इसी बीच लाट देश के जितने भी राजा थे उनको उन्होंने बुला भेजा और वे उज्जैन की सीमा पर पहुँचे। तब गर्दभिल्ल शत्रुसेना का आना सुन कर अपनी विशाल सेना को लेकर बाहर निकला और सीमान्त पर पहुँचा। तदनन्तर दर्प से फूली हुई दोनों सेनाओं के बीच युद्ध आरम्भ हुआ।

———

उद्धरण नं० १६

अर्धमागधी

उदायण

(Jacobi No. III. Portions.)

तेणं कालेणं तेणं समएणं सिन्धुसोवीरेसु जणवएसु वीय-भए नामं नयरे होत्था; उदायणे नामं राया, पभावई देवी। तीसे जेट्ठे पुत्ते अभिई नामं जुव्व-राया होत्था; नियए भाइणेज्जे केसी नामं होत्था। से नं उदायणे राया सिन्धु-सोवीर-पामोक्खाणं सोल-सण्हं जणवयाणं वीयभय-पामोक्खाणं तिण्हं तेवट्ठीणं नयर-सयानं महसेण-पामोक्खाणं दसण्हं रायाणं बद्धमउडाणं विइण्ण-सेय-चा-मर-वाय-वीयणाणं अन्नेसिं च राईसर-तलवर-पभिईणं आहेवच्चं कुणमाणे विहरइ। एवं च ताव एयं।

इसके बाद कथा जैनमाहाराष्ट्री में परिवर्तित हो जाती है

---

१ वीयभए=वीतभयो, प्रथमा एकवचन का एकारान्त होना इस प्राकृत की विशेषता है। 'होत्था' हो=भव का लुङ् एकवचन प्रथम पुरुष आत्मनेपद। अन्य पुरुषों और वचनों में भी इसका प्रयोग मिलता है।

२ 'भाइणेज्ज' भानजा, भागिनेय। नियय=निय, अपना (संस्कृत निज)।

३ पामोक्ख (प्रमुख)।

४ तेवट्ठि 'तिरसठ', तेसट्ठि भी होता है। सय, सौ (शत) § ११२। प्रत्यक्षत: इसका अर्थ है '३६३ नगरों का'।

५ 'विइण्ण' दिया (वि+तृ)। सेय 'सफेद' (श्वेत)। वीयण 'पंखा झलना' (वीज्)। अन्नेसिं, षष्ठी बहुवचन 'दूसरों का' (महाराष्ट्री में अण्णाणं)। राईसर 'राजेश्वर'। तलवर 'प्रधान'। तलारो, देशी नाममाला में=नगर-रक्षक। आहेवच्चं, आधिपत्य (आधिपत्यम्)। कुणमाणे, आत्मनेपद 'कुणइ का' वर्तमान शानच् रूप।

और पत्नीपरायण (स्त्रैण) सुनार कुमारनन्दी की चर्चा चलाती है, जिसने पांच पांच सौ मुहरें देकर ५०० पत्नियां इकट्ठी की थीं और जिसको पञ्च-शिला द्वीप की देवियों ने अपना वर चुना था। अन्त में कथा उदायण का प्रसङ्ग छेड़ती है, और अर्धमागधी (धर्म ग्रन्थों की भाषा) में हमें उस के नया धर्म ग्रहण करने की बात बतलाई जाती है।

तए नं से उदायणे राया अन्नया कयाइ पोसह-साला पोसहिए एगे अबीए पक्खियं पोसहं सम्मं पडिजागरमाणे विहरइ।[1] तओ तस्स पुव्वरत्तावरत्त-काल-समयंसि जागरियं करेमाणस्स एयारूवे अज्झत्थिए समुप्पज्जित्था।[2] धन्ना णं ते गाम-नगरा, जत्थ णं समणे वीरे विहरइ, धम्मं कहेइ; धन्ना णं ते राईसर-पभिईओ, जे समणस्स महावीरस्स अन्तिए केवलि-पन्नत्तं धम्मं निसामेन्ति,[3] एवं पञ्चाणुव्वयं सत्तसिक्खावइयं सावगधम्मं दुवाल-स-विहं[4] पडिवज्जन्ति, एवं मुण्डा भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वयन्ति[5]। तं जइ णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं दूइज्ज-

---

१ कयाइ=कदाचित् । पोसह 'व्रत' (उपवसथ) § ७४ । अ-बीए (अकेले ही) । पक्खियं 'प्रत्येक पक्ष को' । सम्मं, सम्यक् । पडिजागरमाण 'जागरण करता हुआ' ।

२ पुव्वरत्त 'रात्रि का पहिला भाग', 'अवरत्त' 'रात्रि का उत्तरार्ध' । करेमाण, आत्मनेपद करेइ का वर्तमान शानच् रूप । एयारूव 'इस रूप का' । अज्झत्थिय 'विचार' (आध्यात्मिक) । समुप्पज्जित्था, लुङ् (सम्+उद्+पद्) तुलना करो होत्था—'था' ।

३ केवलि 'पराविद्या से युक्त' । पन्नत्तं (प्रज्ञप्तम्) । निसामेन्ति 'सुनते हैं' (नि+शम्) ।

४ अणुव्वयं 'आज्ञा-विधान' अनुव्रत—गृहस्थों के लिए पांच आज्ञायें, जैन साम्प्रदायिकता । सिक्खावइय 'शिक्षा (* शिक्षापदिक) । दुवालस 'द्वादश' ।

५ भवित्ता, कृदन्त § ११२ । आगार, 'घर' ।

माणे इहेव वीयभए आगच्छेज्जा, तो णं अहम् अवि भगवओ अन्तिए मुण्डे भवित्ता जाव पव्वएज्जा। तए णं भगवं उदायणस्स एयारूवं अज्झत्थियं जाणित्ता चम्पाओ पडिनिक्खमित्ता, जेणेव वीयभए नयरे, जेणेव मियवणे उज्जाणे, तेणेव विहरइ। तओ परिसा[2] निग्गया उदायणे य। तए णं उदायणे महावीरस्स अन्तिए धम्मं सोच्चा[3] हट्ठ-तुट्ठ एवं वयासी—जं नवरं जेट्ठपुत्तं रज्जे अहिसिञ्चामि, तओ णं तुब्भं अन्तिए पव्वयामि। सामी भणइ—अहासुहं, मा पडिबन्धं करेहि! तओ णं उदायणे आभिओगियं[4] हत्थि-रयणं दुरुहित्ता सए गिहे आगए। तओ उदायणस्स एयारूवे अज्झत्थिए जाए—जइ णं अभिइं कुमारं रज्जे ठवित्ता पव्वयामि, तो अभिई रज्जे य रट्ठे य जाव जणवए य माणुस्सएसु य कामभोगेसु मुच्छिए अणाइयं अणवयग्गं संसार-कन्तारं अणुपरियट्टिस्सई[5]। तं सेयं खलु मे नियगं भाइणेज्जं केसिं कुमारं रज्जे ठवित्ता पव्विइत्तए[6]। एवं संपेहेत्ता[7] सोभणे तिहि-करण-

१ पुव्वाणुपुव्विं 'आनुपूर्व्य से'। दूइज्जमाण, भटकता हुआ (द्रु)। आगच्छेज्जा, विधिलिङ्।

२ परिसा 'परिषद्'।

३ सोच्चा 'सुन कर' (श्रुत्वा)। तुलना करो चच्चर=चत्वर। जैन महाराष्ट्री हट्ठ=हृष्ट। वयासी 'कहा' (वद्) लुङ्।

४ आभिओगिय (आभियोगिक), देवताविशेष। यहाँ जेकोबि के उद्बोधनानुसार राजसी हाथी। दुरुहित्तता 'चढ़कर' (उद्+रुह् के लिए * उद्रुह्)।

५ मुच्छिय 'लालची (मूर्छ्)। अणाइय 'अनादि'। अणवयग्ग 'अनन्त', शब्दार्थ जिसका सिरा झुका हुआ न हो, (अनमदग्र=पालि अनमतग्ग, पिशल § २५१)। अणुपरियट्टिस्सइ 'अटन करेगा' (अनु+परि+वृत्)।

६ सेयं 'बेहतर'—(श्रेयस्)। पव्वइत्तए, तुमुन्नन्त।

७ सम्पेहेत्ता, विचार कर (सम्+प्र+ईच्)। ईच् धातु में 'ह' का मिलना बहुधा अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में देखा जाता है। अणुप्पेहन्ति=अनुप्रेक्षन्ते। दाहिण='दक्षिण', माहाराष्ट्री और शौरसेनी में भी पाया जाता है।

-मुहुत्ते कोडुम्बिय-पुरिसे य सद्दावेत्ता एवं वयासि-खिप्पाम् एव केसिस्स कुमारस्स रायाभिसेयं उवट्ठवेह ! तओ महिड्ढीए अभिसित्ते केसी कुमारे राया जाए जाव पसासेमाणे विहरइ। तओ उदायणे राया केसिं रायं आपुच्छइ-अहण्णं, देवाणुप्पिया संसारभउव्विग्गो पव्वयामि। तओ केसी राया कोडुम्बिय-पुरिसे सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्याम् एव उदायणस्स रन्नो महत्थं महरिहं निक्खमणाभिसेयं उवट्ठवेह ! तओ महया विभूईए अभिसित्ते सिवियारूढे भगवओ समीवे गन्तूण पव्वइए जाव बहूणि चउत्थ-छट्ठट्ठम-दसम-दुवालस-मासद्धमासाईणि तवोकम्माणि कुव्वमाणे विहरइ।

तओ से उदायणे अणगारे बहूणि वासाणि सामण्ण-परियागं पाउणित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेएत्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्ग-

१ कोडुम्बिय कौटुम्बिक। सद्दावेत्ता, नाम धातु सद्द (शब्द) से बने हुए सद्देइ के—सद्दवेइ णिजन्त—रूप का कृदन्त।

२ खिप्पाम् एव (क्षिप्रम् एव), अर्धमागधी में एव से पहिले अन्तिम अम् का अ नियम से दीर्घ हो जाता है। जुत्ताम् एव युक्तमेव (पिशल § २८)। उवट्ठवेह, णिजन्त (उप+स्था)।

३ इड्ढि=ऋद्धि।

४ देवाणुप्पिया, सम्बोधन एकवचन देव+अणुप्पिय।

५ सिविया 'पालकी' (शिबिका)।

६ कुव्वमाणे, तुलना करो उपर्युक्त करेमाणस्स और कुणमाणे के साथ।

७ सामण्ण, समण (श्रमण) का भाववाचक। परियाग, फिरना, पर्याय, दूसरा रूप परियाय। पर्यायक से इस रूप की उत्पत्ति में पिशल को संदेह है। वे कहते हैं कि 'व' की जगह 'ग' 'परियाव' के साथ होना चाहिये। (तुलना करो अर्धमागधी जुवल=युगल), इसी तरह अर्धमागधी जैन माहाराष्ट्री पज्जव=पर्याय; जैन शौरसेनी पज्जय। पाउणित्ता 'पूरा कर के' (प्र+आप्)। अणसण 'अनशन'। छेएत्ता 'काट कर' तुलना करो छेत्तुम् माहाराष्ट्री जैनमहाराष्ट्री छेत्तूण

भावे मुण्डभावे, तं अट्ठं पत्ते जाव दुक्ख-पहीणे त्ति ।

तए णं अभिइ-कुमारस्स पुव्वरत्तावरत्त-कालसमयंसि एवं अज्झत्थिए जाए—अहं उदायणस्स जेट्ठपुत्ते पभावईए अत्तए[१]; मं रज्जे अट्ठावेत्ता केसिं रज्जे ठावेत्ता पव्वइए। इमेणं माणुसेणं दुक्खेणं अभिभूए समाणे[२] वीयभयाओ निग्गच्छित्ता चम्पाए कोणियं उवसंपज्जित्ताणं[३] विउल-भोग-समन्नागए यावि होत्था। सेणं अभिई कुमारे समणोवासए[४] अभिगय-जीवाजीवे उदायणेणं रन्ना समणुबद्ध-वेरे यावि होत्था। तओ अभिई कुमारे बहूइं वासाइं समणोवासग-परियागं पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए[५] तीसं भत्ताइं छेएत्ता तस्स ठाणस्स अणालोइय-पडिक्कन्ते[६] कालं किच्चा असुरकुमारत्ताए उववन्नो। एगं पलिओवमं[७] ठिई तस्स; महा विदेहे सिज्झिहिइ[८] त्ति

अनुवाद

उस समय सिन्धसोवीर देश में वीतभय नाम का नगर था।

(* छेत्तेत्ता छेतेत्ता)।

८ अट्ठाए ' के कारण '।

१ अत्तए 'पुत्र' (आत्मज:), ठावेत्ता क्त्वान्त णिजन्त (स्था)।

२ समाण 'होना'।

३ उवसंपज्जित्ताणं कृदन्त (उप+सम्+पद्)। समन्नागय, संयुक्त, (सम्+अनु+आ+गम्)। यावि (च+अपि)।

४ समणोवासय, गृहस्थ उपासक।

५ संलेहणा (मृत्यु से पहिले) अन्तिम यन्त्रणा (संलेखना), तीसं 'तीस'।

६ अनालोइय पडिक्कंत 'जिसका पश्चात्ताप और अङ्गीकार न किया गया हो' (अनालोचित-प्रतिक्रान्त)। किच्चा, कृदन्त (कृ)।

७ पलिओवम=पल्योपम, बहुत बड़ी संख्या। ठिइ 'अवधि' § १२।

८ सिज्झिहिइ, पूरा होगा, सिज्झइ का भविष्यत् रूप, 'सिद्ध होगा'।

उदायण वहाँ का राजा था और प्रभावती उसकी रानी थी। उस के बड़े लड़के का नाम अभिजित् था। वही युवराज था। और उसका केसी नाम का एक भतीजा था। वह उदायण सोलह प्रान्तों का, जिनमें सिन्धसोवीर प्रधान थे, तीन सौ तिरसठ नगरों का, जिनमें वीतभय प्रधान था, दस अभिषिक्त राजाओं का जिनका मुखिया महासेन था जिसको कि चँवर झुलाने का स्वत्व मिला हुआ था, प्रभु था। इसके अतिरिक्त और भी युवराज और प्रधानादि थे। और इसी तरह था।

अब एक समय उस उदायण राजा ने यथाविधि नित्यकर्म करके उपवासशाला में अकेले चतुर्दश-रात्र व्रत रक्खा। अब जब कि वह आधी रात को जागरण कर रहा था, उसको इस प्रकार विचार आया—वे गाँव और वे देश सचमुच धनाढ्य हैं जिनमें वह श्रमण 'वीर' विहार करता है और धर्म को कहता है और वे राजा और अन्य लोग भी धन्य हैं जो उस श्रमण महावीर के निकट ब्रह्म-ज्ञान से जाने गये (केवलि-प्रज्ञप्त) धर्मोपदेश को सुनते हैं और जो उसके पांच विधानों (पंचानुव्रत) और सात शासनों से युक्त द्वादशविध शिष्य-धर्म को स्वीकार करते हैं और सर्वस्व त्याग कर घर से संन्यास ले लेते हैं और घर-बार छोड़ कर 'संघ' में प्रविष्ट हो जाते हैं। यदि अब वह श्रमण भगवान् महावीर स्थान स्थान में घूमता हुआ यहाँ इस वीतभय नगर में आ जायें तो मैं भी भगवान् के सामने सर्वस्व त्याग कर 'संघ' में प्रविष्ट हो जाऊँगा। इसके अनन्तर भगवान् महावीर उदायण के इस विचार को जानते हुए चंपा से चले और उसी वीतभय नगर के निकट, जहाँ मृग-वन उद्यान था, रहने लगे। तब परिषद् आई और उदायण भी। इसके अनन्तर उदायण महावीर के निकट धर्म सुन कर हर्षगद्गद (हृष्ट-तुष्ट) होकर इस प्रकार बोला—

मैं अभी अपने ज्येष्ठ पुत्र का राज्याभिषेक किये देता हूँ और आपके सामने ही 'संघ' में प्रवेश किये देता हूँ। प्रभु ने कहा—"तो कृपया देर न करो।" तदनन्तर उदायण एक भव्य राजसी हाथी पर चढ़ा और अपने घर में गया। फिर उदायण को यह विचार आया—"यदि अब मैं युवराज अभिजित् को सिंहासन पर बिठलाता हूँ तो इस राजधानी में और इस देश में तो यह विषय वासनाओं में आसक्त होता हुआ, फिर जन्ममरण के जङ्गल में, जिसका कोई अन्त या आरम्भ नहीं, फिरता रहेगा। इसलिए यह अच्छा होगा कि संघ में प्रवेश करने से पूर्व भतीजे राजकुमार केसी को राजसिंहासन पर बिठलाया जाय। शुभ तिथि-युक्त मुहूर्त में आधे दिन और क्षण इस बात पर विचार करने के बाद उसने अपने कुटुम्ब के लोग बुलाए—और उनको इस प्रकार कहा—"शीघ्र राजकुमार केसी के अभिषेक की तैयारी करो।" तब बड़े समारोह के साथ राजकुमार केसी राजा बना और राज्य करने लगा। फिर राजा उदायण राजा केसी से विदा हुआ—"देवप्रिय! अब मैं संसार-भय से उद्विग्न हो कर संन्यास लेता हूँ।" फिर राजा केसी ने अपने कुटुम्ब के लोग बुलाए और कहा—"राजा उदायण की महती महार्घ दीक्षा-विधि की आयोजना करो"।

तब राजा उदायण पालकीमें बैठ कर बड़े समारोहसे श्रमण (महावीर) के सामने गया और संघ में प्रविष्ट हो गया और वह चौथे छठे, आठवें, दसवें और बारहवें दिन के और अर्धमास और मास के और इसी तरह के अन्य अनशन व्रत करता रहा। इस के अनन्तर उस उदायण ने गृह-संन्यास को कई वर्षों में पूरा करके और अपने अनशन व्रत में साठ भोजनों का परित्याग करके वह सिद्धि प्राप्त की जिस के लिए पुरुष नंगा रह कर और सर्वस्व त्याग कर, (अन्ततः) दुःखों से छूट जाता है।

अब आधी रात को अभिजित् को यह विचार आया कि—"मैं उदायण का बड़ा लड़का हूँ, प्रभावती का पुत्र हूं, मुझ को अलग कर, इसने केसी को राजसिंहासन पर बिठलाया है और फिर पीछे संघ में प्रविष्ट हो गया है। इस दुःख से अत्यन्त दुःखित होता हुआ वह वीतभय से निकला और उसने चम्पा में कोणिय का रास्ता लिया, जहाँ उसको विपुल सुखोपभोग उपलब्ध हुए। अब वह युवराज अभिजित् जीवन और मृत्यु विषयक ज्ञान में विश्वास करने वाला श्रमणोपासक था और उसने राजा उदायण के साथ शत्रुता बनाये रक्खी। इसके अनन्तर राजकुमार अभिजित्, कई वर्षों तक श्रमणोपासक की भाँति फिरता रहा और आर्धमासिक अन्तिम तपस्या में तीस भोजनों का परित्याग कर उसने अपने कर्मों का पश्चात्ताप किया और अपने अदृष्ट से राक्षसराज बन गया। उसकी अवधि दस हज़ार है। वह महाविदेह में सिद्धि प्राप्त करेगा।

उद्धरण नं० २०।

अर्धमागधी

उवासगदसाओ के सातवें अध्याय से

(१८०) पोलास पुरे नाम नयरे, सहस्सम्बवणे उज्जाणे जियसत्तू राया।

(१८१) तत्थ णं पोलासपुरे नयरे सद्दाल-पुत्ते नामं कुम्भकारे आजीविओवासए[1] परिवसइ। अजीविय-समयंसि[2] लद्धट्ठे

१—आजीविओवासए, 'आजीविका का अनुयायी (उपासक)'। आजीविक सम्प्रदाय की स्थापना मंखलि के पुत्र, महावीर के समकालीन, गोसाल ने की थी। गोसाल का सिद्धान्त था 'प्रयत्न या परिश्रम या शक्ति या ऊर्जस्विता या पुरुषार्थ आदि कुछ भी नहीं है, किन्तु सारे पदार्थ अपरिवर्तनीय रूप से नियत हैं'। उवासगद, ६, १६६। (देखो हार्नले का नोट, २५३)।

२—"सिद्धान्त में", सप्तमी एकवचन § ३२ v.

गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगयट्ठे अट्ठि-मिंज-पेमाणुराग-रत्ते य "अयम् आउसो, आजीविअ-समए अट्ठे अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे"त्ति आजीविय-समएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

(१८२) तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एक्का हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता, एक्का वड्ढि-पउत्ता, एक्का पवित्थर-पउत्ता, एक्के वए दस-गो-साहस्सिएणं वएणं।

(१८३) तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स अग्गिमित्ता नामं भारिया होत्था।

(१८४) तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पोलासपुरस्स नयरस्स बहिया पञ्च कुम्भकारावणसया होत्था। तत्थ णं बहवे पुरिसा दिण्ण-भइ-भत्त-वेयणा कल्लाकल्लिं बहवे करए य वारए

---

१ मिंज, 'मज्जा', पंजाबी मिंझ, मिंज्झ; सिंधी मिजु, गुजराती मीज; हिन्दी मींगी (संस्कृत मज्जा)। हौर्नले ने इसका अनुवाद किया है "उनके प्रति उत्कट प्रेम से निर्भर हो कर जैसा कोई सर्वोत्कृष्ट वस्तु के लिये होता है" अर्थात् जैसा कि उनकी टिप्पणी में है "जैसा कोई हड्डियों की मज्जा के लिये होता है।" किन्तु मज्जा वासना का भौतिक आधार है, उसका विषय नहीं।

२ आउसो 'दीर्घजीवी' सम्बोधन (संस्कृत प्रातिपादिक आयुष्मत्) जिसका प्रयोग आदर के लिये किया गया है। हौर्नले ने एक और स्थल की टीका का अनुसरण करके अयमाउसो को एक साथ ही लिया है, जिससे अध्यापक अपने शिष्य को सम्बोधन करने में प्रयुक्त करता है।

३ वए 'समूह' (व्रजः)।

४ भइ 'भाड़ा' (भृतिः), वेयण 'मजदूरी, तनख़ाह' (वेतन)। हौर्नले ने इसका अर्थ किया है "मज़दूरी के बदले भोजन पाते थे।" किन्तु भृत्यन्नम् 'भोजन और मज़दूरी" के साथ इस की तुलना करो। मालूम होता है उन्हें भोजन और मज़दूरी के रूप में वेतन मिलता था।

' कल्लाकल्लिम् (संस्कृत कल्यं कल्यम्) हर 'सुबह'। विभक्ति के लिये

य पिहडए य घडए य अद्ध-घडए य कलसए य अलिञ्जरए य जम्बूलए य उट्टियाओ य करेन्ति, अन्ने य से बहवे पुरिसा दिराण-भइ-भत्त-वेयणा कल्लाकल्लिं तेहिं बहूहिं करएहिं य जाव उट्टियाहि य रायमग्गंसि वित्तिं कप्पेमाणा विहरन्ति।

(१८५) तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ पुव्वावररहकाल-समयंसि जेणेव असोग-वणिया तेणेव उवागच्छइ;-त्ता गोसालस्स मङ्खलिपुत्तस्स अन्तियं धम्म-पराणत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

(१८६) तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवागस्स एगे देवे अन्तियं पाउब्भवित्थाँ।

(१८७) तए णं से देवे अन्तलिक्ख-पडिवराणे सखिङ्खिणियाइं जाव परिहिए सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी। "एहिइ णं, देवाणुप्पिया, कल्लं इहं महा-माहणे उप्पन्न-णाण-दंसण-धरे तीय-पच्चुपन्न-म् अणागय-जाणए अरहा जिणे केवली सव्वराणू सव्व-दरिसी ते-लोक्क-वहिय-महिय-पूइए, स-देव-मणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे वन्दणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं

तुलना करो पुव्विम् (=पूर्वीम्)।

१ करक "गडुवा" खास करके विद्यार्थी और तपस्वी जिसका प्रयोग करते थे", मोनियर विलियम्स। वारक 'एक किसम का वर्तन', पिठरक 'बटलोई', घटक हिन्दी घड़ा, कलश 'घड़ा'। अलिञ्जर ("पानी रखने का एक छोटा सा झज्झर" मोनियर विलियम्स), जम्बूलय और उट्टिया 'घड़ों की तीन बहुत बड़ी किस्में'। हौर्नले।

२ त्ता जब किसी क्रियापद के बाद आता है तो क्त्वान्त का अर्थ देता है। गच्छइ, त्ता=गच्छइ, गच्छित्ता "वह जाता है, और जाकर।"

३ उवसंपज्जइ (उप+सम्+पद्) से कृदन्त रूप।

४ पाउब्भवइ (प्रादुर्+भू) का आत्मने पद लुङ्।

५ तीय-'प्रतीत', पच्चुप्पन्न 'वर्तमान' (प्रति+उद्+पद्),-म्-सन्धिव्यञ्जन,

मङ्गलं देवयं चेइयं जाव पज्जुवासणिज्जे, तच्च-कम्म-सम्पय-सम्पउत्ते तं णं तुमं वन्देज्जाहि जाव पज्जुवासेज्जाहि, पाडिहारिएणं पीढ-फलग-सिज्जा-संथारएणं उवानिमन्तेज्जाहि"। दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयइ,-त्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए।

महावीर का आगमन सुनकर—

(१९०) तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे 'एवं खलु समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वन्दामि जाव पज्जुवासामि", एवं संपेहेइ;-त्ता ण्हाए जाव पायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं जाव

अणागय 'अनागत'। पडुप्पन्न के लिये पडुपन्न पाठ है, अर्थात् पडि+उप्पन्न।

१ चेइय 'पवित्र' शब्दार्थ=चैत्य 'पवित्र मन्दिर'। पहिय 'आनन्दनिर्भर हृदय से देखा गया' (देशी)।

२ 'आराध्य' (परि+उप+आस्।

३ तच्च 'पुण्यावह।' टीका में इस का अर्थ तथ्य दिया है और हेमचन्द्र ने भी तथ्य ही दिया है २, २१; किन्तु पालि में तच्छ होता है। अन्यथा तत्व से। पिशल (§ २८१) का कथन है कि * तात्य से * तत्व बना है। तुलना करो रोमानी तचो=तथ्य।

४ प्रातिहारिक "पारिभाषिक जैनशब्द जिसका अभिप्राय ऐसी वस्तु है जो किसी के उपयोग के लिये हमेशा तय्यार रक्खी जाय।" हौर्नेले।

५ इमीसे=माहाराष्ट्री इमीए, इमीअ जैनमाहाराष्ट्री इमीए, इमाए शौरसेनी इमाए।

६ संपेहेइ 'प्रतिबिम्बित करता है (सम्+प्र+ईक्ष्)। क्ख>ख>ह। यह परिवर्तन अर्धमागधी और जैन माहाराष्ट्री दोनों ही में होता है।

७ टीका=प्रायश्चित्त। दूसरी व्याख्या है 'पैर से छुआ गया', छित्त छिवइ (छिप्) से बनता है जिसका अर्थ 'छूना' है।

८ टीका—शुद्धात्मा-वैषिकाणि पवित्र शरीर को सजाने योग्य (वस्त्र), अथवा शुद्ध-प्रावेश्यानि 'स्वच्छ और राजदरबार में प्रवेश करने योग्य'।

अप्प-महग्घाभरणालंकिय-सरीरे मणुस्स-वग्गुरा-परिगए साओ गिहाओ पडि-णिक्खमइ, त्ता पोलासपुरं नयरं मज्झं मज्झेणं नि-ग्गच्छइ,-त्ता जेणेव सहस्सम्बवणे उज्जाणे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ,-त्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ त्ता वन्दइ नमंसइ-त्ता जाव पज्जुवासइ।

महावीर ने संघ को सम्बोधित किया और सद्दालपुत्त का आतिथ्य स्वीकार किया—

(१६५) तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ वायाहययं कोलाल-भण्डं अन्तो सालाहिंतो बहिया णिणेइ,-त्ता आयवंसि दलयइ।

(१६६) तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीवि-ओवासयं एवं वयासी। "सद्दालपुत्त, एस णं कोलाल-भण्डे कओ[६] ?"

(१६७) तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी। "एस णं भन्ते पुव्विं मट्टिया आसी, तओ पच्छा उदएणं निमिज्जइ;-त्ता छारेण य करीसेण य एगयओ मीसि-ज्जइ;-त्ता चक्के आरोहिज्जइ; तओ बहवे करगा य जाव उट्टियाओ य कज्जन्ति"।

---

१ वग्गुरा 'भीड़' (वागुरा "आयास")।

२ साओ 'स्वयं अपने से' (स्व), गिह 'गृह' (इसी प्रकार जैन महा-राष्ट्री अधिक प्रचलित गेहं)।

३ तिक्खुत्तो 'तिगुना (* त्रिष्कृत्वः अथवा त्रिःकृत्वः)। तुलना करो अर्ध-मागधी दुक्खुत्तो, दुखुत्तो दो बार।

४ आयाहिणं पयाहिणं=आदक्षिण-प्रदक्षिणम्।

५ आयवंसि 'सूरज की गरमी में (आतपे)। दलयइ टीका=ददाति, और दवइ (ददामि) 'देता है' का साधारण अर्धमागधी रूप।

६ कओ 'किससे' (कुतः, अर्थात् * क-तः), शौरसेनी कदो।

(१६८) तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओ-वासयं एवं वयासी। "सद्दालपुत्ता, एस णं कोलालभण्डे किं उट्ठा-णेणं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेणं कज्जन्ति, उदाहु अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं कज्जन्ति ?"

सद्दालपुत्त प्रतिपादन करता है कि ये बिना प्रयत्न के बनाये गये हैं, क्योंकि प्रयत्न का कोई अस्तित्व नहीं है, किन्तु उसके कथन का खण्डन किया जाता है और उसको प्रतीति दिलाई जाती है।

अनुवाद

(१८०) पोलासपुर नामक एक नगर था। उसके निकट सह-स्सम्बवण नाम का उद्यान था। जियसत्तू राजा था।

(१८१) वहाँ पोलासपुर नगर में आजीवियों का उपासक सद्दालपुत्त नाम का एक कुम्हार रहता था। आजीविकों के धर्म-शास्त्रों की चर्चा सुनकर और उनका ज्ञान प्राप्त करके और उनके अर्थ को पूछ कर उसका निश्चय करके और उसमें पारङ्गत होकर वह उन पर ऐसे उत्कट प्रेम से अनुरक्त होगया जो स्वयं उसके अस्थि मज्जा के अन्दर ओत पोत भरा हुआ था और वह आजीवियों के सिद्धान्त के अनुसार आचरण करता था। वह इसी को सत्य, परम सत्य, समझता था और अन्य सब कुछ असत्य।

(१८२) आजीवियों के उपासक उस सद्दालपुत्त ने एक करोड़ हिरण्य जमा कर रक्खा था, एक करोड़ ब्याज पर और एक करोड़ जागीर में लगा रक्खा था और उसके पास दश सहस्र गायों का व्रज था।

(१८३) आजीवियों के उपासक उस सद्दालपुत्त की अग्गि-मित्ता नाम की भार्या थी।

---

१ पुरिसक्कार पुरुषात्कार 'पुरुषार्थ'। तुलना करो बलक्कार=बलात्कार। साधारण संस्कृत शब्द पुरुषकार, पालि पुरिसकार।

(१८४) आजीवियों के उपासक उस सद्दालपुत्त के पास पोलासपुर के बाहर पाँच सौ कुम्हार की दूकानें थीं वहाँ बहुत से पुरुष अन्न वस्त्रादि के रूप में भृत्ति और वेतन ग्रहण करके रोज़ अनेकों कूजे (करक), झज्झर (वारक), पिठरक (बटलोइयां), घड़े, कलश, मटकियां (अलिंजर), जम्बूलय और उट्टियां (माट) बनाते थे; अन्य बहुत से लोग अन्न वस्त्रादिक के रूप में भृति और वेतन ग्रहण करके राजमार्ग पर उन अनेकों कूजों, माटों आदि का वनज करते थे।

(१८५) तब आजीवियों का उपासक वह सद्दालपुत्त मध्याह्न के किसी न किसी समय उस स्थान को जाया करता था जहाँ एक छोटा सा अशोक वन था; वह इस काम को करता था और उस धर्म के अनुसार आचरण करता था जिसको उसने संखलिपुत्त गोसाल के पास से प्राप्त किया था।

(१८६) फिर आजीवियों के उपासक सद्दालपुत्त के निकट एक देव आविर्भूत हुआ।

(१८७) फिर (जैसा कि ऊपर कहा गया है,—"क्षुद्रघंटिकाओं से" यहां तक) अन्तरिक्ष में स्थित और आभरणों से अलङ्कृत उस देव ने आजीवियों के उपासक सद्दालपुत्त से इस प्रकार कहा—"ऐ देवानुप्रिय, कल यहाँ महा माहण आयेगा, जो पूर्णज्ञान और अन्तर्दर्शन से युक्त है, जो अतीत, वर्तमान और अनागत को जानता है—जो अर्हत्, जिन और केवली है, जो सब कुछ जानता है और सर्वदर्शी है, जिसको लोग आनन्दनिर्भर हृदय से गद्गद होकर देखते हैं, त्रिलोकवासी जिसकी आराधना और उपासना करते हैं, जो देवताओं, मनुष्यों और असुरों के लिए पूजा स्तुति, आदर, सन्मान और सेवा का भाजन है जैसा कि कोई उत्कृष्ट मंगलमय दिव्य और पवित्र व्यक्ति होता है, जो पुण्यकर्मों की प्रचुरता से सम्पन्न है। तुम्हें उसकी स्तुति करनी चाहिये (और जैसा कि ऊपर

कहा गया है, "सेवा करना" तक) और उसको आवभगत से नियत पीढ़ा, फलक और शय्या देकर निमन्त्रित करना चाहिये।" दूसरी बार और तीसरी बार उसने यह बात कही और ऐसा कह कर वह उसी दिशा को लौट चला जहाँ से वह प्रादुर्भूत हुआ था।

(१९०) तब आजीवियों का उपासक वह सद्दालपुत्त इस समाचार को पाकर अपने मन में सोचता है—"अच्छा तो श्रमण भगवान् महावीर यहाँ पधारने वाले हैं; मैं चल कर श्रमण भगवान् महावीर की स्तुति करता हूँ और उनकी सेवा में उपस्थित होता हूँ"। यह सोच कर उसने स्नान किया और प्रायश्चित्त कर्म करके शुद्ध वस्त्र पहिने, और कतिपय महार्घ आभरणों से शरीर को अलङ्कृत कर के और परिचारकों की भीड़ से परिवारित होकर वह अपने घर से बाहर निकला। बाहर निकल कर वह पोलासपुर नगर के ठीक बीचोंबीच होकर गुज़रा। यहाँ से हो कर वह उस स्थान के निकट आया जहाँ सहस्सम्ब-वण उद्यान था, जहाँ भगवान् महावीर थे, और निकट आकर उसने बाईं ओर से दाईं ओर को तीन बार उनकी प्रदक्षिणा की। ऐसा करने के बाद वह भगवान् की आराधना करता है और उनकी सेवा में उपस्थित होता है।

(१९५) फिर आजीवियों का उपासक वह सद्दालपुत्त किसी समय अपने हवा में सुखाये हुए मिट्टी के बर्तनों को अपने कारखानों से बाहर लाया और इसके बाद उसने इनको धूप में रक्खा।

(१९६) तब श्रमण भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्त से इस प्रकार कहा—'सद्दालपुत्त, ये कुलालभाण्ड किस चीज़ के बने हैं?"

(१९७) तब आजीवियों के उपासक सद्दालपुत्त ने श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार कहा—"ये भाण्डे पहिले मिट्टी थे, और बाद को वह मिट्टी पानी से गूँदी जाती है; और वह भली भांति पोटाश

और गोबर के साथ मिलाई जाती है और फिर उस को चक्र पर रक्खा जाता है और उस से अनेक कूजे आदि बनाये जाते हैं ।"

(११८) फिर श्रमण भगवान् महावीर ने आजीवियों के उपासक सद्दालपुत्त से इस प्रकार कहा—"सद्दालपुत्त, क्या ये कुलाल-भाण्ड प्रयत्न और पुरुषार्थ से बने हैं अथवा प्रयत्न और पुरुषार्थ के बिना?"

उद्धरण नं० २१।

अर्धमागधी

जिनचरित्र

(५६) तए[1] णं सिद्धत्थे खत्तिए पच्चूस-काल-समयंसि कोडुम्बियपुरिसे सद्दावेइ; त्ता एवं वयासी—

(५७) "खिप्पां[2] एव, भो देवाणुप्पिया! अज्ज सविसेसं बाहिरियं उवट्ठाण-सालं[3] गन्धोदय-सित्तं सुइय-संमज्जिओवलित्तं[4] सुगन्धवर-पञ्च-वन्नपुप्फोवयार[5]-कलियं कालागुरु-पवर-कुन्दुरुक्क-तुरुक्क-डज्झन्त-धूव-मघमघन्तगन्धुद्धुयाभिरामं[6] सुगन्धवरगन्धियं गन्ध-

---

१ यहाँ और कुछ दूसरे स्थलों पर जेकोबि का पाठ तते है । अन्य हस्तलिखित पुस्तकों में तए है ।

२ देखो पृ० ६३ ।

३ 'सभाभवन, मण्डप' ।

४ 'साफ़ किया गया' (शुच्) 'बुहारा गया' (सम्+मृज्) और 'लेपा गया' (उप+लिप्) ।

५ उवयार 'सजावटें, मङ्गल-हार' (उप+कृ) ।

६ अगुरु 'अगरु' । कुन्दुरुक्क 'लोबान' । तुरुक्क 'सुगन्धित द्रव्य, धूप' ।

वट्टि-भूयं करेह कारवेह, करित्ता य कारवित्ता य सीहासणं रयावेह,[2]-त्ता मं एयम् आणत्तियं खिप्पाम् एव पच्चप्पिणह[3]"

(५८) तए णं ते कोडुम्बिय-पुरिसा सिद्धत्थेणं रन्ना एवं वुत्ता समाणा, हट्ठतुट्ठ-जाव-हय-हियया, करयल-जाव कट्टु[4] "एवं सामि"! त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणन्ति,-त्ता सिद्धत्थस्स खत्तियस्स अन्तियाओ पडिनिक्खमन्ति,-त्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाण-साला तेणेव उवागच्छन्ति,-त्ता खिप्पाम् एव सविसेसं बाहिरियं उवट्ठाणसालं गन्धोदय-सित्तं सुइअ-जाव सीहासणं रयाविन्ति,-त्ता जेणेव सिद्धत्थे खत्तिए तेणेव उवागच्छन्ति,-त्ता करयल-परिग्गहियं दस-नहं सिरसा वत्तं अञ्जलिं कट्टु सिद्धत्थस्स खत्तियस्स तं आणत्तियं पच्चप्पिणन्ति।

(५९) तए णं सिद्धत्थे खत्तिए कल्लं पाउ-प्पभायाए रयणीए फुल्लुप्पल-कमल-कोमलुम्मिल्लियम्मि अहपण्डुरे पभाए, रत्तासोग-प्पगास-किंसुय-सुय-मुह-गुञ्जद्ध-राग-सरिसे[5] (बन्धुजीवग-पारावण-चलण-नयण-परहुय-सुरत्त-लोयण-जासुयण-कुसुम-रासि-हिंगुलय-नियराइरेय-रेहन्त-सरिसे[6]) कमलायर-सण्ड-बोहए उट्ठियम्मि सूरे, सह-

---

मघमघंत तुलना करो पंजाबी मघणा 'जलना', हिन्दी मघन 'देदीप्यमान'। उद्धुय=उद्धूत। धूव='धूप'।

१ वट्टि (वर्ति)।

२ रयावेह 'तय्यार कराओ' णिजन्त (रच्)।

३ मध्यम पुरुष बहुवचन पच्चप्पिणाइ 'लौटता है' का लोट् रूप, प्रत्यर्पण से नामधातु।

४ कट्टु (कर्तुं० मूलतः तुमुन्नन्त, क्त्वान्त के अर्थ में प्रयुक्त, कृत्वा)।

५ -प्पगास (प्रकाश)। किंसुअ (किंशुक)। सुय 'तोता' (शुक)। गुंजद्ध। अन्वय है सिद्धत्थे······सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ; सति सप्तमी के साथ रयणीए, पभाए, सूरे, दिणयरे, अंधयारे, जीवलोए।

६ बन्धुजीवक 'दुपहरिया'। पारावण 'कबूतर' (पारावत)। परहुय 'कोयल' (परभृत)। जासुयण 'चीनी गुलाब'। हिंगुलअ 'शिंगरफ़'।

स्स-रस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलन्ते,(अहक्कमेण उइए दिवायरे,तस्स य कर-पहरापरद्धम्मि अंधयारे, बालायव-कुंकुमेणं खचिए व्व जीव-लोए) सयणिज्जाओ अब्भुट्टेइ।

(६०)-त्ता पाय-पीढाओ पच्चोरुहइ,-त्ता जेणेव अट्टण-साला, तेणेव उवागच्छइ,-त्ता अट्टणसालं अणुपविसइ,-त्ता अणेग-वायाम-जोग्ग-वग्गण-वामद्दण-मल्लजुद्ध-करणेहिं, सन्ते परिस्सन्ते सय-पाग-सहस्स-पागेहिं सुगन्ध-तिल्ल-माइएहिं पीणणिज्जेहिं दीवणिज्जेहिं मयणिज्जेहिं विंहणिज्जेहिं दप्पणिज्जेहिं सव्विंदिय-गाय-पल्हायणिज्जेहिं अब्भंगिए, तिल्ल-चम्मंसि णिउणेहिं पडिपुन्न-पाणि-पाय-सुकुमाल-कोमल-तलेहिं पुरिसेहिं अब्भङ्गण-परिमद्दणुव्वलण-करणगुण-निम्माएहिं छेएहिं दक्खेहिं पट्ठेहिं कुसलेहिं मेहावीहिं जिय-परिस्समेहिं अट्ठि-

---

निकर 'पुञ्ज'। अतिरेक 'आधिक्य'। रेहन्त 'चमकता हुआ'।

७ बोहए 'जगानेवाला' (बोधकः)।

१ अह-क्कमेण 'उचित समय पर' (यथाक्रमेण)। पहर 'घूंसे' (प्रहार)। अपरद्ध 'खदेड़ा गया' (अप+राध्)। बालायव 'बाल-रवि'। खचिए, मूल में खचिय है।

२ उतरता है (प्रति+अव+रुह्)।

३ अट्टण-साला 'व्यायामशाला', अर्थ प्रसंग से प्रगट होता है। कादम्बरी में व्यायाम-शाला है।

४ वग्गण 'कूदना फांदना'। वामद्दण (वि+आ+मर्दन)। मल्लजुद्ध, 'मल्लयुद्ध'।

५ सय-पाग—'सौ वार सोधा हुआ' (शत-पाक)।

६ अब्भंगिए 'अभ्यक्त', मागधी अब्भंगिदे। जैनमाहाराष्ट्री अब्भंगिओ में पुराना ग ज्यों का त्यों विद्यमान है। (सं० अभ्यक्त √अञ्ज्)। प्रीणनीय 'स्फूर्ति लानेवाला'। बृंहणीय 'पुष्टिकारक'। प्रह्लादनीय 'तरावट लानेवाला'।

७ निर्मात 'अनुभवी'। उद्वलन 'उबटना'।

८ छेक 'चतुर' प्रष्ठ 'अग्रणी'। मेधाविन् 'बुद्धिमान्'।

सुहाए मंससुहाए तया-सुहाए[1] रोम-सुहाए चउव्विहाए सुह-परिकम्म-णाए संवाहणाए संवाहिए समाणे अवगय-परिस्समे अट्टण-सालाओ पडिणिक्खमइ।

(६१) -त्ता जेणेव मज्जण-घरे, तेणेव उवागच्छइ,-त्ता मज्जण-घरं अणुपविसइ,-त्ता स-मुत्त-जालाकुलाभिरामे[2] विचित्त-मणि-रयण-कोट्टिम-तले[3] रमणिज्जे ण्हाण-मण्डवंसि, णाणा-मणि-रयण-भत्ति-चित्तंसि[4] ण्हाण-पीढंसि सुह-निसन्ने पुप्फोदएहि य गन्धोदएहि य उसिणो-दएहि य सुद्धोदएहि य कल्लाण-करण-पवर-मज्जण-विहीए मज्जिए, तत्थ कोउय-सएहिं[5] बहु-विहेहिं कल्लाणग-पवर-मज्जणावसाणे पम्हल-सुकुमाल- गन्ध-कासाइय-लूहियऽङ्गे[6] अहय-सुमहग्घ-दूस-रयण-सुसं-वुडे[7] सरस-सुरभि-गोसीस-चन्दणाणुलित्त-गत्ते[8] सुइ-माला-वन्नग-वि-लेवणे[9] आविद्ध-मणि-सुवण्णे कप्पिय-हारद्ध-हारं-तिसरय-पालंब-पलंबमाणे[10] कडि-सुत्तय-कय-सोभे[11] पिणिद्ध-गेविज्जे[12] अङ्गुलिज्जगल-

---

१ तया 'चर्म' (* त्वचा=त्वक्)।

२ जाल; 'पत्थर की जालीदार खिड़कियाँ'।

३ कोट्टिम 'गच का फर्श' (कुट्टिम)।

४ भत्ति (भक्ति) 'चित्र-विचित्र सजावटें'।

५ कोउय 'आनन्द' (कौतुक)।

६ पम्हल 'लम्बे बालों वाला' (पक्ष्मल)। कासाइय 'लाल रंगा हुआ'। लूहिय 'सुखाया हुआ' (लूषित ?)।

७ अहय 'नया' (अहत)। दूस 'पोशाक' (तुलना करो दूष्य, 'तंबू, कपास')।

८ गोसीस 'गाय का सिर—बहुमूल्य संदल।'

९ वन्नग 'संदल' (वर्णक)।

१० हार 'अठारह लड़ों की माला।' तिसरय 'तिलड़ा'।

११ कडि (कटि)। सुत्तय 'कटिमेखला' (सूत्रक)।

१२ पिणिद्ध 'पहना हुआ' (पिनद्ध)। गेवेज्ज 'कालर'।

लिय-कयाभरणए[1] वर-कडग तुडिय-थंभिय-भुए[2] अहिय-रूव-सस्सिरीए कुंडल-उज्जोवियाणणे[3] मउड-दित्त सिरए हारोत्थय-सुकय-रइय-वच्छे[4] मुद्दिया-पिङ्गलंगुलीए पालंब-पलंबमाण-सुकय-पड-उत्तरिज्जे नाणा-मणि-कणग-रयण-विमल-महरिह-निउणोविय-मिसिमिसिंत-विरइय-सुसिलिट्ठ-विसिट्ठ-नद्धाविद्ध-वीर-वलए[5]; किं बहुणा—कप्प-रुक्खए चेव अलङ्किय-विभूसिए नरिन्दे स-कोरिंट-मल्ल-दामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेय-वर-चामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं[6] मङ्गल-जय-सद्द-कयालोए अणेग-गणनायग-दण्डनायग-राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुम्बिय-मंति-महामंति-गणग-दोवारिय-अमच्च-चेड-पीढमद्द-नगरनिगम-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-दूय-संन्धिवाल-सद्धिं संपरिवुडे धवल-महामेह-निग्गए इव गह-गण-दिप्पन्त-रिक्ख-तारा-गणाण मज्झे

---

१ कय 'केश' (कच)।

२ कडग 'कंगन' (कटक)। तुडिय 'चूड़ी' ? (त्रुटिक), तुलना करो पंजाबी तोड़ा।

३ उज्जोविय 'प्रकाशित' (उद्+द्युत्, किन्तु पिशल् ने § २४३ इसकी व्युत्पत्ति √द्यु से बतलाई है)।

४ ओत्थय 'ढका हुआ' (अव+स्तृ), तुलना करो माहाराष्ट्री ओत्थइअ (अव+स्थग्)।

५ ओविय 'सजाया हुआ'। मिसिमिसिंत 'जाज्वल्यमान', अनुकरणात्मक नामधातु, संस्कृत में मिषमिषायते के रूप में लिया गया है। पिशल् § ५५८।

६ उद्धुव्वमाण 'हिला हुआ' (उद्+धू), धुव्वइ § १३५।

७ व्यक्तियों की इस फ़िहरिस्त की भिन्न भिन्न प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। राईसर (राजेश्वर) टीका=युवराज, जेकोबि S. B. E. 'राजा महाराजा'। दण्डनायक 'न्यायाधीश', जेकोबि 'छत्रप'। तलवर 'अङ्गरक्षक', जे० 'सुभट'। माडम्बिय 'ज़िले का अफसर जिसको कतिपय शासनाधिकार होते हैं'। पीठमर्द 'मग्गूमग्गू, सहचर', जे० 'नृत्याचार्य'।

ससि व्व पिय-दंसणे नर-वई नरिन्दे नर-वसहे नर-सीहे अब्भहिय-राय-तेय-लच्छीए दिप्पमाणे मज्जण-घराओ पडिणिक्खमइ।

(६२) -त्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाण-साला, तेणेव उवागच्छइ -त्ता सीहासणंसि पुरत्थाभिमुहे[1] निसीयइ।

(६३) -त्ता अप्पणो उत्तर-पुरत्थिमे दिसी-भाए अट्ठ भद्दासणाइं सेय-वत्थ-पच्चुत्थुयाइं[2] सिद्धत्थय-कय-मंगलोवयाराइं रयावेइ,–त्ता अप्पणो अदूर-सामन्ते नाणा-मणि-रयण-मण्डियं अहिय-पेच्छणिज्जं महग्घ-वर-पट्टणुग्गयं सण्ह-पट्ट-भत्ति-सय-चित्त-ताणं[3] ईहामिय-उसभ-तुरय-नर-मगर-विहग-वालग-किन्नर-रुरु-सरभ-चमर-कुञ्जर-वणलय-पउम-लय-भत्ति-चित्तं[4] अब्भिन्तरियं जवणियं अञ्छावेई,[5]–त्ता नाणा-मणि-रयण-भत्ति-चित्तं अत्थरय-मिउ-मसूरगोत्थयं[6] सेय-वत्थ-पच्चुत्थुयं सुमउयं अंग-सुह-फरिसगं[7] विसिट्ठं तिसलाए खत्तियाणीए भद्दासणं रयावेइ,–त्ता कोडुम्बिय-पुरिसे सद्दावेइ,-त्ता एवं वयासी।

(६४) "खिप्पामेव, भो देवाणुप्पिया! अट्ठङ्ग-महानिमित्त-सुत्तत्थ-धारए विविह-सत्थ-कुसले सुविण-लक्खण-पाढए सद्दावेह"।

अनुवाद

(५६) तब पौ फटने के समय सिद्धार्थ क्षत्रिय ने अपने कुटुम्ब के नौकर चाकर बुलाये और इस प्रकार भाषण किया—

---

१ पुरत्थ 'पूर्व' (पुरस्तात्)।

२ पच्चुत्थुय-पच्चुत्थुय 'ढका हुआ' (प्रति+अव+स्तृ)।

३ सण्ह (श्लक्ष्ण)। ताण 'तागा' (तान)।

४ ईहामृग 'भेड़िया'। व्याल (क) 'सांप'। -लय, लया=लता।

५ अंछावेइ 'खींच लिया है'।

६ अत्थरय 'ढकना' (आ+स्तृ)। मसूर (क) 'तकिया'।

७ मउय 'कोमल' (मृदुक)। फरिसग (स्पर्शक)।

(५७) "ऐ देवताओं के लाड़लो, अब आज शीघ्र बाह्य सभा भवन को विशेष प्रकार से सजा कर तय्यार कर दो, (ध्यान रक्खो कि उस पर) गन्धोदक छिड़का जाय, उसे साफ किया, बुहारा, और पोता जाय, सारे पांच रंगों के सुगन्धित और सर्वोत्कृष्ट फूलों से सजाया जाय और काले अगरु, बढ़िया से बढ़िया कुन्दुरुक्क और तुरुष्क की सुगंधित वर्तुलाकार लटाओं से और बढ़िया सुगंधियों से तर-बतर बसी हुई जलती धूप से अत्यधिक मनोहर और सुगन्ध-वर्त्तिका जैसा बनाया जाय; और यह सब कुछ कर लेने पर मेरे सिंहासन को तय्यार करो, और यह करके मुझे शीघ्र इन आज्ञाओं के पूरा किये जाने की खबर दो।"

(५८) तब राजा सिद्धार्थ से इस प्रकार सम्बोधित किये जाने पर परिवार के सेवकों ने हर्ष-निर्भर हृदय से प्रणाम किया और यह कहते हुए नम्रता से राजाज्ञा शिरोधार्य की—"बहुत अच्छा स्वामिन् !" तब वे सिद्धार्थ क्षत्रिय के पास से विदा हुए, और सभा के बाह्य भवन में गये और शीघ्र उन्होंने बाह्य सभा-भवन को सुगन्धित जल छिड़क कर और मार्जन आदि से सब तरह सजा दिया और सिंहासन को तय्यार किया। यह करके-वे उस स्थान को लौटे जहाँ क्षत्रिय सिद्धार्थ था, और फिर इस प्रकार हाथ जोड़ कर कि जिससे दसों नाखून परस्पर मिल जांय उन्होंने अञ्जलि को सिर से लगाया और सिद्धार्थ क्षत्रिय को उस आज्ञा के पूरा होने की ख़बर दी।

(५९) फिर प्रभात समय जब रात्रि का अंधकार मंद हो रहा था, जब पाण्डुर उषा ने प्रफुल्ल कमलों के कोमल पुष्पों को प्रकट किया, और सूर्य उदित हुआ; रक्ताशोक, कुसुमित किंशुक, तोते की चोंच अथवा गुञ्जार्ध जैसी अरुणिमा में जो बन्धुजीवक की भाँति, पारावत के नेत्रों और चरणों, कोयल के लोहित नेत्रों, चीनी गुलाब के पुंज या हिंगुल के डले, कमलाकर को जगानेवाले

(अंशुमाली) की भाँति देदीप्यमान थी; और सहस्ररश्मि दिनकर अपने तेज से जल रहा था; जब काल-क्रम से दिवाकर उदित हो चुका था और उसने अपने कर-प्रहार से अंधकार को भगा दिया था, और जब जीव-लोक मानो बाल-रवि से कुंकुम-निमग्न हो रहा था, —सिद्धार्थ क्षत्रिय अपनी सेज से उठा।

(६०) और (सेज से) उठ कर वह पीढ़े से नीचे उतरा और व्यायामशाला को गया और उसने उसके अन्दर प्रवेश किया। और कूदने फांदने, मर्दन और मल्लयुद्ध जैसे अनेक कष्टसाध्य व्यायामों से वह नितान्त परिश्रान्त हो गया, और उस (के शरीर) पर सौ या सहस्र बार सोधे हुए भाँति भाँति के सुगन्धित तेलों का उबटन किया गया, जिससे सारी इन्द्रियाँ और अवयव परि-पुष्ट, कमनीय, ऊर्जस्वल, आह्लादित, प्रबल और परिवर्द्धित हो गये। अभ्यञ्जन, परिमर्दन और उद्वलन के उत्तम गुणों से भली भाँति परिचित, सुशिक्षित, कुशल, श्रेष्ठ, दक्ष, चतुर और अपरिश्रान्त पुरुषों ने अपनी सुकुमार और कोमल हथेलियों और पैर के तलवों से तैलमय चर्म पर उसका उबटन किया। शरीर के इस चतुर्विध सुखकर संवाहन से राजा के अस्थि, चर्म, मांस और केशों के उपकृत हो चुकने और थकावट मिट जाने पर वह सभा-भवन से व्यायाम करने निकला।

(६१) और स्नानागार की ओर चल कर उसने उसके अन्दर प्रवेश किया। अनेकों मुक्ता-जालों से मनोभिराम, विचित्र मणि-रत्नों से खचित फर्शवाले, रमणीक स्नानागार में वह आराम से नहाने के पीढ़े पर बैठा जिसकी चित्रकारी में नाना प्रकार के मणि और रत्न जड़े हुए थे, और फिर उसने कल्याणकारी उत्तम मज्जन विधि से पुष्पोदक, गन्धोदक, उष्णोदक और शुद्धोदक से स्नान किया। सैकड़ों कौतुकों से युक्त इस बहुविध, कल्याणकारी, उत्तम स्नान के समाप्त हो जाने पर उसका शरीर लम्बे रोओं वाले

कोमल, सुरभित और रंगीन तौलियें से पोंछा गया, उसको नई और बढ़िया महार्घ पोशाक पहनाई गई, उसके अंगों पर सरस और सुरभित गोशीर्ष और चन्दन का अनुलेपन किया गया और उन्हें बढ़िया मालाओं और वर्णक से अलंकृत किया गया। उसने मणि और सुवर्ण धारण किये, अठारह-लड़ी, नौ लड़ी, तिलड़ी मालाएँ पहिनीं और एक ऐसी माला पहनी जिस पर प्रलम्ब-मणि लटक रहा था और अपने आपको कटि सूत्रक से सुसज्जित किया। उसने एक कण्ठा पहिना और अंगूठियाँ और कमनीय कचाभरण धारण किये, और अपनी बाँहों को बढ़िया कड़ों और कंगनों से भाराक्रान्त किया। उसकी रूपश्री लोकोत्तर थी। उसका मुख कुण्डलों से और सिर मुकुट से जाज्वल्यमान था। उसका वक्षःस्थल मालाओं से आच्छन्न, सुसज्जित और अलंकृत था, उसकी उँगलियाँ मुंदरियों से स्वर्णमय हो रही थीं। उसका बढ़िया उत्तरीय (चोगा) मुक्ता-प्रलम्बों से झूल रहा था। अपनी अपराजित सुभटता के उपलक्ष में उसने जगमगाते हुए, सुश्लिष्ट, मज़बूत, बढ़िया, सुन्दर बाजूबन्द (वलय) पहने हुए थे, जिन्हें निपुण कलाविदों ने विमल और महार्घ मणियों, सुवर्ण और नाना प्रकार के रत्नों से बना कर तय्यार किया था। अधिक क्या कहें, राजा अलंकृत और विभूषित कल्प-वृक्ष था। उसके ऊपर एक छत्र रक्खा हुआ था जिस पर कोरिंट के फूलों की मालाएँ और हार लटक रहे थे। उसके (सिरके) ऊपर बढ़िया चंवर झले जा रहे थे, उसके दर्शन होने पर मंगल-जय-ध्वनि होती थी। अनेक गणनायकों, दण्डनायकों, राजा-महाराजाओं, अंगरक्षकों, ज़िलों के विशेष अधिकारियों कुटुम्बों के प्रमुख पुरुषों, मंत्रियों, महामंत्रियों ज्योतिषियों, द्वारपालों, अमात्यों, चाकरों, पीठमर्दों, नागरिकों, महाजनों, सार्थवाहों, सेनापतियों, गोष्ठाग्रणियों, उष्ट्रवाहों, सन्देश-हरों और सीमान्त रक्षकों से परिवृत होकर जब नरर्षभ, नरसिंह,

नरपति, नरेन्द्र स्नानागार से निकला तो वह ऐसा सुहावना लगता था जैसे ग्रहों और देदीप्यमान नक्षत्रों और तारों की भीड़ में किसी धवल महामेघ के भीतर से चन्द्रमा निकल आया हो।

(६२) (फिर उसने) बाह्य सभा-भवन में प्रवेश किया और पूर्व की ओर मुंह करके वह अपने सिंहासन पर बैठा।

(६३) उसने उत्तर-पूर्व की ओर आठ भद्रासन बिछाने की आज्ञा दी, जो कपड़े से ढके हुए और मङ्गलमय सरसों से सजे हुए थे। अपने आपसे न बहुत दूर और न बहुत निकट महल के भीतरी भाग की ओर उसने एक यवनिका डलवाई। यह यवनिका नाना प्रकार के रत्नों और मणियों से अलंकृत, अत्यन्त दर्शनीय और महार्घ थी और एक विश्रुत नगर में बन कर तय्यार हुई थी; उसका स्निग्ध पट एक छोर से दूसरे छोर तक सर्वत्र सैकड़ों चित्र विन्यासों से आच्छन्न और भेड़ियों, बैलों, घोड़ों, मनुष्यों, मगरमच्छों, पक्षियों, सर्पों, किन्नरों, मृगों, शरभों, चमरियों, हाथियों, लता-गुल्मों और पौधों के चित्रों से अलंकृत था। उसके पीछे उसने क्षत्रियाणी त्रिशला के लिए उत्तम भद्रासन बिछाने की आज्ञा दी, जिस पर तरह तरह के मणि और रत्न जड़े हुए थे और जो एक आवरण और कोमल तकिये से सजा हुआ और बहुत मृदु और हृद्य स्पर्श वाले सफेद वस्त्र से आच्छन्न था। फिर उसने परिवार के नौकरों को बुलाया और इस प्रकार भाषण किया—

(६४) "ऐ देवताओं के लाड़लो, शीघ्र स्वप्न-व्याख्याताओं को बुलाओ, जो अष्टाङ्ग महानिमित्त शास्त्र को भली भांति जानते हों और साथ ही विविध शास्त्रों में कुशल हों!"

———

उद्धरण नं० २२

मागधी

शकुन्तला

छट्ठे अङ्क का प्रवेशक

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धं पुरुषमादाय रक्षिणौ च)

रक्षिणौ-हरडे कुम्भिलआ ! कधेहि, कहिं, तए एशे महालडण-भाशुले उक्किण्णणामक्खले लाअकीए अंगुलीअए शमाशादिदे ?[1]

पुरुषः-(भीतिनाटितकेन) पशीदन्तु भावमिश्शा ! ण हगे ईदिशश्श अकय्यश्श कालके ।[2]

प्रथमः-किं णु क्खु शोहणे बम्हणे शि त्ति कदुअ लञ्जा दे पलिग्गहे दिण्णे ?[3]

पुरुषः-शुणुध दाव । हगे क्खु शक्कावदाल-वाशी धीवले ।[4]

द्वितीयः-हरडे पाडच्चला ! किं तुमं अम्हेहिं यादिं वशदिं च पुच्छिदे ?[5]

---

१ हरडे, तुलना करो हन्त, हट परे; केवल छोटों के लिये प्रयुक्त होता है। कुंभीलअ 'चोर', आरम्भ में इसका अर्थ 'नाका' था । लदण=शौरसेनी रदण (माहाराष्ट्री रअण) § ४९ । भाशुल=भासुर । उक्किण्ण=उत्कीर्ण । अक्खल= अक्षर, वैयाकरणों के अनुसार इसे अस्कल अथवा हेमचन्द्र के अनुसार अᳵकल होना चाहिये (ᳵ=जिह्वामूलीय) । लाअकीए 'राजकीय' । पिशल ने सोचा था कि यहाँ पर हमें लाअ-केलके पढना चाहिये । शमाशादिदे (सम्+आ+सद्)।

२ अकय्य (अकार्य) 'अपराध' । पिशल के पाठ में अकज्जस्स है, उनकी अधिकांश हस्तलिखित प्रतियों में अकज्जस्स है जो शौरसेनी है । कालके=कारकः।

३ लञ्ञा 'राजा से' ।

४ शक्रावतार, धीवरः ।

५ पाडच्चर अथवा पटच्चर 'चोर' । यादिं, हस्तलिखित प्रतियों की भांति

श्यालः–सूअअ ! कधेदु सव्वं कमेण। मा णं पडिबन्धेध।[1]

उभौ–यं लाउत्ते आणवेदि। लवेहि, ले लवेहि[2] !

पुरुषः–शे हगे यालबडिश-प्पहुदीहिं मश्च-बन्धणो वाएहिं कुडुम्ब-भलणं कलेमि[3]।

श्यालः–(विहस्य) विसुद्धो दाणिं दे आजीवो !

पुरुषः–भट्टके मा एवं भण !

शहये किल ये वि णिन्दिदे न हु शे कम्म विवज्जणीअके
पशुमालि कलेदि कालणा छक्कम्मा-विदुले वि शोत्तिए[4]।

श्यालः–तदो, तदो ?

पुरुषः–अध एक्कदिअशं मए लोहिदमश्चके खण्डशो कप्पिदे[5]। याव तश्श उदलब्भन्तले एदं महा-लदण-भाशुलं अंगुलीअअं पेस्कामि। पश्चा इध विक्कअत्थं णं दंशअन्ते य्येव गहिदे भाव-

---

पाठ में जादि है। पिशल ग्रामर § २३६ से प्रगट होता है कि हर हालत में य पढ़ा जाना चाहिये। पुश्चिदे=शौरसेनी पुच्छिदो।

१ कोतवाल की बोलचाल मागधी नहीं है। सूअअ 'जासूस' (सूच्)।

२ लाउत्ते, लाअउत्ते का संक्षिप्त रूप=शौरसेनी राअउत्तो (राजपुत्रः), अथवा अपभ्रंश राअउत्तु; बिहारी राउत (राजदूत) देखो ग्रीयर्सन्, फोनोलोजी।

३ याल 'जाल'। बडिश 'कांटा'। मश्च 'मछली'। कलेमि=शौरसेनी करेमि।

४ शहय (सहज)। विवर्जनीय—मालि='मारणम्'। कालणा=कारणात्-कम्मा—छन्द के लिये दीर्घ, विदुले (षट्कर्मों में) 'कुशल'। शोत्तिए=श्रोत्रिय।

५ लोहिद–'रोहू' शौरसेनी रोहिदो, माहाराष्ट्री रोहिओ (?), अपभ्रंश रोहिउ, हिन्दी रोहू। खंडशो कप्पिदे (कल्प्) 'काटकर टुकड़े टुकड़े किया'। 'पेस्कामि' हेमचन्द्र और अन्य वैयाकरणों के अनुसार यह शुद्ध रूप है। (पिशल ग्रामर § ३२४।) एक और प्रमाण और ललितविग्रहराज-नाटकम् के अनुसार इसे पेस्कामि होना चाहिये। पाठ में पेक्खामि है।

मिश्शेहिं। एत्तिके दाव एदश्श आगमे। अधुणा मालेध कुट्टेध वा[1]।

श्यालः-(अंगुलीयकमाघ्राय) जाणुअ, मच्छोदर-संठिदं ति णत्थि संदेहो। तधा अअं से विस्सगन्धो। आगमो दाणिं एदस्स विमरिसिदव्वो। ता एध राउअलं जेव गच्छम्ह[2]।

रक्षिणौ-(पुरुषं प्रति) गच्छ ले गण्ठिछेदआ गच्छ[3]।

श्यालः-सूअअ! इध गो-उर-दुआरे अप्पमत्ता पडिवालेध मं जाव राअउलं पविसिअ णिक्कमामि।

उभौ-पविशदु लाउत्ते शामि-प्पशादत्थं।

श्यालः-तधा। (निष्क्रान्तः)

सूचकः-जाणुअ। चिलाअदि लाउत्ते[4]।

जानुकः-णं अवशलोवशप्पणीआ खु लाआणे होन्ति[5]।

सूचकः-जाणुअ! स्फुलन्ति मे अग्गहस्ता। (पुरुषं निर्दिशति) इमं गण्ठिछेदअं वावादेदुम्[6]।

पुरुषः-णालिहदि भावे अकालण-मालके भोदुं[7]।

जानुकः-(विलोक्य) एशे अम्हाणं ईशले पत्ते गेण्हिअ लाअ-शा-

---

१ विक्कअत्थं 'बिक्री के लिये'। मालेध, मालेदि=मारयति का लोट् रूप। कुट्टेध, कुट्टेदि (कुट्टयति) का लोट् रूप।

२ जाणुअ (जानुक) पुलिस के सिपाही का नाम। विस्स=विस्र 'आम-गन्धि'; टीका आमिष 'कच्चा मांस'। विमरिसिदव्वो=विमर्ष्टव्यः 'निर्णय किया जाना चाहिये'।

३ गंठि-छेदआ 'गंठकटा'।

४ चिलाअदि 'बड़ा समय हो गया है' (चिरायते)।

५ 'राजाओं के पास अवसर देख कर जाना होता है (उप+सृप्)।

६ स्फुलंति 'स्फुरित हो रहे हैं'। पाठ में फुलंति है किन्तु देखो पिशल § ३११। इसी प्रकार हस्ता (पाठ हत्था) के लिये § ३१०। वावादेदुं तुमुन्नन्त णिजन्त (वि+आ+पद्)।

७ ण+अलिहदि (अर्हति)।

शणं (पुरुषं प्रति) शउलाणं मुहं पेस्कशि, अधवा गिद्धशिआलाणं बली भविश्शशि[1]।

श्यालः-(प्रविश्य) सिग्घं सिग्घं एदं।

पुरुषः—हे हदे म्हि (सविषादम्)

श्यालः-मुञ्चेध रे मुञ्चेध जालोवजिवणं, उववण्णो से किल अंगुलीअअस्स आगमो, अम्ह सामिणा जेव मे कधिदं।

सूचकः—यधा आणवेदि लाउत्ते। यम-वशदिं गदुअ पडिणिउत्ते खु एशे (पुरुषं मुक्तबन्धनं करोति)।

पुरुषः—(श्यालं प्रणम्य) भट्टके तव केलके मम यीविदे। (पादयोः पतति)[2]।

श्यालः—उत्थेहि, उत्थेहि! एसो भट्टिणा अंगुलीअअ-मुल्ल-सम्मिदो पारिदोसिओ दे पसादीकिदो। ता गेण्ह एदं (पुरुषं केयूरं प्रयच्छति)।

पुरुषः—(सहर्षं प्रतिगृह्य) अणुगहिदे म्हि।

जानुकः—एशे खु लञ्ञा तधा णाम अणुगहिदे यं शूलादो ओदालिअ हस्तिस्कन्धं शमालोविदे।[3]

सूचकः—लाउत्ते! पालिदोशिए कधेदि महालिह-लदणेण तेण अंगुलीअएण शामिणो बहुमदेण होदव्वं ति।[4]

---

१ शउल एक प्रकार की मछली (शकुल) यहाँ भिन्न भिन्न पाठ हैं। पिशल के कथनानुसार=स्वकुलानाम्।

२ केलके=केरको, -केरो, -केर, -एर जैसी सम्बन्ध कारक की विभक्तियों का पूर्वरूप। यीविदे 'जीवन'।

३ ओदालिअ (तुलना करो ओदार § ७५)=अवतार्य। शमालोविदे णिजन्त क्रान्त (सम्+आ+रुह्)। 'हस्ति-स्कन्धारूढ' से उच्च गौरवमय पद का बोध होता है (मो॰ वि॰)। पाठ में-हत्थि-क्खन्धं है।

४ महालिह=महार्ह।

श्यालः—णं तस्सि भट्टिणो महारिह-रदणं ति ण परिदोसो। एत्तिकं उण—

उभौ—किं णाम?

श्यालः—तक्केमि तस्स दंसणेण को वि हिअअ-त्थिदो जणो भट्टिणा सुमरिदो त्ति, जदो तं पेक्खिअ मुहुत्तअं पइदि-गम्भीरो वि पज्जुस्सुअ-मणो आसि।[1]

सूचकः—तोशिदे दाणिं भट्टा लाउत्तेण।

जानुकः—णं भणामि इमश्श मश्चली-शत्तुणो किदे त्ति। (पुरुषमसूयया पश्यति)[2]।

पुरुषः—भट्टका इदो अद्धं तुम्हाणं पि शुला-मुल्लं भोदु।

जानुकः—धीवल! महत्तले शम्पदं मे पिअवअश्शके शंवुत्ते ऽशि कादम्बली-शक्खिके क्खु पढमं अम्हाणं शोहिदे इश्चीअदि। ता शुण्डिकागालं येव गश्चम्हे[3]। (निष्क्रान्ताः सर्वे)।

अनुवाद

(नगर का कोतवाल दो सिपाही और एक धीवर)

सिपाही—बता रे तस्कर! तू ने यह नाम खुदी हुई महारत्नों से देदीप्यमान अंगूठी कहाँ पाई है?

धीवर—(भय दिखलाता हुआ) दया करो, साहिब। मैं ऐसा अपराधी नहीं हूँ।

---

१ पइदि, प्रकृति। पज्जुस्सुअ (पर्युत्सुक) तुलना करो § ४१।

२ मश्चली 'मछली', तुलना करो हिन्दी मछली; सिन्धी मछुडी; मराठी मासली जिसकी व्युत्पत्ति मच्छ=मत्स्य, § ५६, से है।

३ महत्तले महत् का तरप्-प्रत्ययान्त रूप। कादम्बली, कदम्ब 'मद्य'। शक्खिके 'ज्योनार सुखोपभोग' (सग्धि)। शोहिदे=सौहृदम्। शुण्डिकागाल 'कलाल की दूकान'।

पहिला सिपाही—तो क्या तू कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण है यह सोचकर राजा ने तुझे (यह अंगूठी) दान में दी है ?

धीवर—पहिले मेरी बात सुन लो । मैं शक्रावतार तीर्थ का धीवर हूँ।

दूसरा सिपाही—अरे चरकट्टे ! क्या हम तेरी जात पाँत पूछते हैं ?

कोतवाल—सूचक ! इसे सारा ब्योरा इच्छापूर्वक कहने दो। बीच में न रोको।

दोनों सिपाही—जैसा कोतवाल जी आज्ञा करते हैं। कह रे, कह।

धीवर—मैं जाल और बडिश से मछली पकड़ कर अपने कुटुम्ब का भरण करता हूँ।

कोतवाल—(हंस कर) अजीविका तो तुम्हारी अत्यन्त शुद्ध है।

धीवर—महाराज ! ऐसा न कहें। जो अपना स्वाभाविक कर्म है वह चाहे निन्दित ही क्यों न हो, उसे नहीं छोड़ना चाहिये। श्रोत्रिय लोगों को दयार्द्र होते हुए भी पशुओं के मारने के काम में निष्ठुर होना पड़ता है।

कोतवाल—अच्छा, फिर ?

धीवर—फिर एक दिन मैंने रोहू मछली को काट कर टुकड़े टुकड़े किया । इसी बीच मैंने उसके पेट में यह महारत्नों से देदीप्यमान अंगूठी देखी। इसके बाद जब मैं इसे बेचने को दिखला रहा था, आप लोगों ने मुझे पकड़ लिया। यही इसके मिलने का ब्योरा है। इस समय (जैसा तुम्हारे धर्म में आवे) चाहे मुझे मारो चाहे छोड़दो, (कूटो)।

कोतवाल—(अंगूठी को सूंघ कर) जानुक ! इसमें सन्देह नहीं कि यह मछली के उदर में थी। इसलिए इसमें मांस की गन्ध है। अब इसकी प्राप्ति के वृत्तान्त पर विचार करना चाहिये। तो चलो

राजदरबार में चलें।

दोनों सिपाही--(धीवर से) चल रे! गण्ठकट्टे, चल।

कोतवाल—सूचक! जब तक मैं राजदरबार से न लौटूं तब तक तुम सावधान हो कर यहाँ गोपुर द्वार पर प्रतीक्षा करो।

दोनों—महाराज को प्रसन्न करने के लिये राजपुत्र जांय।

कोतवाल—अच्छा। (जाता है)

सूचक—जानुक! राजपुत्र ने (कोतवाल जी ने) देर लगा दी है।

जानुक—उचित अवसर को देख कर ही राजाओं के पास जाना होता है।

सूचक—जानुक! मेरे हाथ खुजा रहे हैं। (धीवर के प्रति इशारा करता हुआ) इस गंठकट्टे के काम तमाम करने के लिए।

धीवर—आप लोगों को मुझे अकारण ही तो नहीं मारना चाहिये।

जानुक—(चारों ओर देख कर) ये हमारे स्वामी राज-आज्ञा का पत्र लेकर आते हैं। (धीवर से) अब तू या तो कुत्तों का मुंह देखेगा या गिद्ध और सियारों का शिकार बनेगा।

कोतवाल—(प्रवेश करके) जल्दी जल्दी इसको (आवाज़ धीमी कर लेता है)।

धीवर—(विषाद से) हाय! मरा।

कोतवाल—इस धीवर को छोड़ दो जी, छोड़ दो। स्वयं महाराज ने मुझ से कहा है कि यह अंगूठी के मिलने का वृत्तान्त ठीक है।

सूचक—राजपुत्र की जैसी आज्ञा। यम के घर पहुंच कर यह फिर (जीवलोक को) लौट आया है (धीवर को छोड़ देता है)।

धीवर—(कोतवाल को प्रणाम करता है) महाराज! यह जीवन आप ही का है। (उसके चरणों पर गिरता है)।

कोतवाल—उठो जी उठो! महाराज ने तुम्हें यह अंगूठी के मूल्य के बराबर पारितोषिक देने की कृपा की है, इसे लो। (धीवर को एक कंगन देता है)।

धीवर—(हर्ष से लेकर) मैं अनुगृहीत हूँ।

जानुक—इस पर तो राजा का इतना अनुग्रह हुआ है कि इसे सूली से उतार कर हाथी की पीठ पर चढ़ा दिया है।

सूचक—कोतवाल जी! इस पारितोषिक से जान पड़ता है कि वह बहुमूल्य रत्नों से जड़ी हुई अंगूठी राजा को अत्यन्त अभीष्ट होगी।

कोतवाल-बहुमूल्य रत्नों से जड़ी हुई होने के कारण वह राजा को इतनी आनन्ददायक नहीं। किन्तु बात यह है—

दोनों—क्या बात है?

कोतवाल-मेरे विचार में उसके दर्शन से राजा को अपने किसी हृदय-स्थित जन की सुध आई है जिससे उसको देखकर प्रकृति-गम्भीर होने पर भी स्वामी का हृदय क्षणभर के लिये पर्युत्सुकता से भर आया।

सूचक—तब तो आपने महाराज को खुश कर दिया है।

जानुक—मैं तो यूं कहूंगा कि इस मत्स्यशत्रु (धीवर) के लिए ही यह सब किया है (ईर्ष्या से धीवर को देखता है)।

धीवर—महाराज! यह लो, यह आधा आपके जलपान के लिए है।

जानुक—धीवर! अब तो तू हमारा बड़ा प्यारा मित्र हुआ, अतएव मदिरा पीकर हमारा यह प्रथम सौहार्द मनाया जाना चाहिए। तो कलाल की हाट पर चलो।

———

उद्धरण नं० २३

मागधी

स्थावरक (मृच्छ० अङ्क १०)

(ततः प्रविशति प्रासादस्थो बद्धः स्थावरकः)

(स्थावरको घोषणमाकर्ण्य सवैक्लव्यम्) कधं अपावे चालुदत्ते वावादीअदि ! हगे णिअलेण शामिणा बन्धिदे । भोदु ! अक्कन्दामि । शुणाध, अय्या शुणाध । अस्ति दाणिं मए पावेण पवहण-पडिवत्तेण पुस्प-कलण्डअयिण्णुय्याणं वशन्तशेणा णीदा । तदो मम शामिणा 'मं ण कामेशि' त्ति कदुअ, बाहु-पाश-बलक्कालेण मालिदा, ण उण एदिणा अय्येण । कधं ? विदूलदाए ण को वि शुणादि । ता किं कलेमि ? अत्ताणअं पाडेमि । (विचिन्त्य) यइ एव्वं कलेमि, तदा अय्य-चालुदत्ते ण वावादीअदि । भोदु । इमादो पाशाद-बालग्ग-पदोलिकादो एदिणा यिण्ण-गवक्खेण अत्ताणअं णिक्खिवामि । बलं हगे उवलदे, ण उण एशे कुल-पुत्त-विहगाणं वाशपादवे अय्य-चालुदत्ते । एव्वं यइ विवय्यामि लद्धे मए पललोए । (इत्यात्मानं पातयित्वा) ही ही ! ण उवलदे म्हि । भग्गे मे दण्ड-णिअले । ता चण्डाल-घोशं शमण्णेशामि ।

अपावे 'अपाप' निर्दोष । वावादीअदि, कर्मवाच्य णिजन्त (वि+आ+पद्) । णिअलेण 'बेड़ी से' (निगड) । मालिदा=शौरसेनी मारिदा । —बालग्ग 'कबूतरखाना' (?) (वालाग्र) । पदोलिका (प्रतोली+का) 'फाटकमार्ग' (देखो फ़ोगल J R A S जुलाइ १६०६) गवक्ख 'गवाक्ष, गोल खिड़की' या रन्ध्र । उवलदे 'मर गया' (उपरतः) । पादवे 'पादप', वृक्ष । विवय्यामि (मूल विवज्जामि) (वि+पद्) । पल-लोए 'परलोक' ।

अनुवाद।

निर्दोष चारुदत्त को क्यों मारते हो? मुझे स्वामी ने बेड़ी से जकड़ दिया है। अस्तु, मैं चिल्लाता हूँ। सुनो, महानुभावो, सुनो। वस्तुतः मैं पापी गाड़ियों की अदला बदली से वसन्तसेना को पुराने पुष्पकरण्डक बाग़ में लेगया। इसके बाद मेरे स्वामी ने यह सोच कर कि यह मुझे नहीं चाहती बलात्कार से उसको मार डाला, इस आर्य चारुदत्त ने नहीं। क्यों? दूर होने से कोई भी नहीं सुनता। तो क्या करूं? अपने आप को गिराता हूँ। (सोच कर) यदि ऐसा करूं तो आर्य चारुदत्त नहीं मारा जायगा। अस्तु इस महल के कबूतरख़ाने की प्रतोली से इस पुराने झरोखे से अपने आप को गिराता हूँ। मेरा मरना बेहतर है, कुलपुत्र विहङ्गमों के आश्रय-वृक्ष इन चारुदत्त का नहीं। इस प्रकार यदि मर-गया तो मुझे परलोक प्राप्त है। (अपने आप को नीचे गिराता है) अहह! मैं मरा नहीं हूँ। मेरी बेड़ियां टूट गई हैं। तो अब जिधर से चाण्डालों का शब्द सुनाई देता है उधर ही चलता हूँ।

उद्धरण नं० २४

मागधी

(मृच्छकटिक अङ्क १०)

शकारः (प्रविश्य सहर्षम्)

मंशेण तिक्खामिलिकेण भत्ते
शाकेण शूपेण श-मश्चकेण।
भुत्तं मए अत्तणअश्श गेहे
शालिश्श कूलेण गुलोदणेण।

---

१ भुत्तं मए 'मैंने खा लिया है' (भुज्)। तिक्ख 'तीखा=तीक्ष्ण'। (शायद तिꭗख अथवा तिश्ख बेहतर मागधी होगी)। आमिलिक 'खट्टा' 'इमली' (अम्लिका, तुलना करो हिन्दी इमली)। भत्ते 'भोजन' 'भात', भक्त, तुलना करो हिन्दी भात। शूप, नियमानुसार शूव होना चाहिये था, तुलना करो सूप।

(कर्णं दत्वा) भिरण-कंश-खंखणाए चण्डालवाआए शलशंयोए[1]। यधा अ एशे उक्खालिदे वज्भ-डिण्डिमशद्दे पडहाणं अ शुणीअदि, तधा तक्केमि, दलिद्द-चालुदत्ताके वज्भ-ट्ठाणं णीअदि त्ति[2]।' ता पेस्किश्शम्। शत्तुविणाशे णाम मम महन्ते हळक्कश्श पलीदोशे होदि[3]। शुदं अ मए, ये वि किल शत्तुं वावादअंतं पेस्कदि, तश्श अण्णंशि जम्मन्तले अक्खि-लोगे ण होदि। मए खु विश-गण्ठि-गब्भ-पविस्टेण विअ कीडएण किं पि अंतलं मग्गमाणेण उप्पादिदे ताह दलिद्द-चालुदत्ताह विणाशे। शंपदं अत्तणकेलिकाए पाशाद-बालग्ग-पदोलिकाए अहिलुहिअ अत्तणो पलक्कमं पेस्कामि[4]। (तथा कृत्वा दृष्ट्वा च) ही, ही, एदाह दलिद्द-चालुदत्ताह वज्भं णीअमाणाह एवड्ढे यणशंमद्दे, यं वेलं अम्हालिशे पवले वल-मणुशे वज्भं णीअदि तं वेलं केलिशे भवे[6]? (निरीक्ष्य) कधं! एशे शे णवबलद्दके विअ

अत्तणअश्श, अत्तणो का उत्तरकालीन रूप, § ३६। कूल 'भोजन, उबाले हुए चावल।' गुळोदण 'मीठा भात' (हिन्दी गुड़)।

१ शलसंयोअ 'स्वर-संयोग' 'उच्चारण का आरोह अवरोह'। वाआ 'वाक्', कंश 'प्याला, कटोरा' (कांस्य, कांसा)।

२ उक्खालिदे 'चढ़ाया, उठाया'। खल् 'हरकत करना या हिलना'। वज्भ 'वध का', (वध्य)। मागधी का ठीक रूप वय्यह कहा जाता है। य्यह इस संयुक्त रूप से मालूम होता है कि मागधी के य का उच्चारण साधारण य से और भ से भिन्न था। हेमचन्द्र के अनुसार ठ्ठाण, स्ताण होना चाहिये।

३ हडक्क साधारण रूप है; हलुअ, हलुक (पद्य में) भी होता है, *हदक।

४ मूल पाठ अक्खि (पिशल § २४)। कीडअ 'कीड़ा' (कीटक)। विशगंठि? एक पौधा।

५ अहिलुहिअ (अधि+रुह्)। बालग्ग (देखो उद्धरण नं० २३)।

६ एवड्ढे 'इतना बड़ा' (जैन माहाराष्ट्री एवड्ड एवड्डग) ए एवं से नहीं, किन्तु * अयत् से (पिशल § १४६, तुलना करो अयत्+त्य * अयत्तिअ ऍत्तिअ)

मण्डिदे दक्खिणं दिशं णीअदि । अध किंणिमित्तं मम-केलिकाए पाशाद-बालग्ग-पदोलिकाए शमीवे घोशणा णिवडिदा, निवालिदा[2] अ? (विलोक्य) कधं! स्तावलके[3] चेडे वि णत्थि इध । मा णाम तेण इदो गदुअ मन्तभेदे कडे भविश्शदि[4] । ता याव णं अण्णेशामि । (इत्यवतीर्य उपसर्पति)।

चेटः—(दृष्ट्वा) भट्टालका, एशे शे आगदे!

चाण्डालौ—ओशलध, देध मग्गं, दालं ढक्केध, होध तुण्हीआ, अविणअ-तिक्ख-विशाणे दुट्टबइल्ले इदो एदि[5] ।

इस पात्र की बोली शकारी मानी गई है (देखो अगला उद्धरण)। किन्तु यह स्थल बहुत कुछ उसी प्रकार की मागधी में प्रतीत होता है जैसी अन्य पात्रों से बोली जाती है।

अनुवाद

शकार—(हर्ष से) मैंने अपने घर में भात खाया है, जिस में

वड्ढ=वृद्ध । यणग्घंमद्द 'जनसंमर्द', लोगों की भीड़ । पवले=शौरसेनी पवरो । केलिशे=कीदृशः ।

१ बलद्दके 'बैल' (तुलना करो बलीवर्द)। ? दक्खिणं ।

२ णिवडिदा (नि+पत्)। णिवालिदा (नि+वृ णिजन्त)।

३ स्तावलके (मूल पाठ ठावलके) (स्थावरक)।

४ मंतभेदे 'मन्त्रभेद', 'विश्वासघात ।' कडे=कृतः ।

५ ओशलध (अप् अथवा अव्+सृ)। दालं 'द्वार' शौरसेनी दुआर । ढक्केध 'ढक दो' ढक्केदि 'ढकता है' से, तुलना करो पालि थकेति जो * स्थक् जैसे किसी आर्षधातु से बना है, तुलना करो हिन्दी ढांकना, ढकना । विशाण 'सींग' । बइल्ले 'बैल', । अपभ्रंश बइल्लु, आधुनिक 'बैल' । चाण्डाली कभी कभी पृथक् बोली मानी जाती है और उसे अपभ्रंश की श्रेणी में रक्खा जाता है ।

मांस था, खटाई चटनी, साग शोरवा, मछली, उबले हुए चावल और मीठा भात सब कुछ था।

(कान देकर) यह जो टूटे हुए कांस्य पात्र की खनखन ध्वनि जैसी चाण्डालों की वाणी का स्वरसंयोग और वध्यस्थान के डिण्डिमों और पटहों का शब्द सुनाई देता है, इस से मालूम होता है कि दरिद्र चारुदत्त वध्य-स्थान को ले जाया जाता है। तो (चल कर) देखूं। शत्रु के विनाश से मेरे हृदय को महान् सन्तोष होता है। मैंने सुना है कि जो शत्रु को मारे जाते देखता है उसे अगले जन्म में आँख का रोग नहीं होता। कमल-ग्रन्थि के अन्दर प्रविष्ट कीड़े की भांति अवकाश ढूंढते हुए मैंने इस दरिद्र चारुदत्त के विनाश की आयोजना की है। अब अपने महल की प्रतोलिका पर चढ़कर अपने पराक्रम को देखता हूँ। (चढ़कर देखता है) अहह! इस दरिद्र चारुदत्त को वध्यस्थान में ले जाते हुए इतनी भीड़ हो रही है, जिस समय हम जैसे श्रेष्ठ मनुष्य वध्यस्थान को ले जाये जायेंगे उस समय कितनी भीड़ होगी? (देख कर) हैं! यह तरुण बैल जैसा सजाया हुआ दक्षिण दिशा को ले जाया जाता है। यह क्या? मेरे महल की प्रतोली के निकट जा कर घोषणा बन्द क्यों हो गयी है? (चारों ओर देखकर) हैं! मेरा दास स्थावरक भी यहाँ नहीं है। कहीं उसने जाकर भेद न खोल दिया हो। तो अब उसे ढूंढता हूँ। (नीचे उतर कर आगे बढ़ता है)।

स्थावरक—(देख कर) स्वामी, यह मेरा स्वामी आ पहुँचा है।

चाण्डाल—हटो जी हटो, रास्ता छोड़ो, द्वार बन्द कर लो, चुप हो जाओ; अविनय-धारी पैने सींगों वाला यह दुष्ट बैल इधर आ रहा है।

उद्धरण नं० २५

मागधी

शकारी बोली

मृच्छकटिकम्

(अ) अङ्क १, ५-१८

च्चिष्ठ, वशंतशेणिये, च्चिष्ठ,

किं याशि, धावशि, पलाअशि पस्खलन्ती

बाश्रू पशीद ण मलिश्शशि, च्चिष्ठ दाव।

कामेण दज्झदि हु मे हडके तवश्शी

अंगाललाशि-पडिदे विअ मंशखडे॥

च्चिष्ठ=तिष्ठ, पिशल ग्रामर §२४ और §२१७ में च्चिष्ठ रूप के और साधारणतया च से पहले अल्पप्राण य के लिए पृथ्वीधर टीकाकार को प्रमाण बतलाते हैं, उन्होंने मागधी और व्राचड अपभ्रंश में च और ज से पहिले अल्पप्राण य के समर्थन में मार्कण्डेय को भी उद्धृत किया है—मागधी य्चिलं=चिरम् , य्जाआ=जाया। च्चिष्ठ रूप के समाधान में यह कहा जा सकता है कि अनोखे य्च के स्थान को प्रचलित च्च ने ग्रहण करलिया है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि कोई इस बात को नहीं जानता कि च्चिष्ठ का उच्चारण कैसा होना चाहिये। हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि प्राचीन मगध में च् का उच्चारण कैसे होता था, किन्तु यदि वह किसी भी आधुनिक उच्चारण से मिलता जुलता रहा हो अथवा किसी भी ओष्ठ्य स्पर्श-वर्ण से उसका कोई सादृश्य रहा हो तो उसके बाद अल्पप्राण य का सुना जाना अधिक बोधगम्य हो सकता है। सम्भवतः य को च में कोई विशेष उच्चारण लाने के

१ इसी प्रकार एस० के० चटर्जी; 'Origin and development of Bengali Language', पृ० २४८ ग्रियर्सन के प्रतिकूल 'The Pro-

लिए प्रयुक्त किया जाता था, जो स्वयं च से पहिले या पीछे कोई स्पष्ट उच्चारण नहीं था। (इसी प्रकार इङ्गलिश wh में h w के बाद अथवा उस से पूर्व, जैसा कि पुरानी अंगरेज़ी में hw लिखा जाता था, किसी पृथक् ध्वनि का सूचक नहीं किन्तु घोष w का अघोष पर्याय है)। वररुचि के नियम ११—५ (कौवेल, पृ० १७६) का पाठ सन्दिग्ध है, किन्तु प्रत्यक्षतः यह नियम उच्चारण के ढंग से सम्बन्ध रखता है, उसके साथ किसी पृथक् ध्वनि के संयोजन से नहीं।

पस्खलंती (प्र+स्खल्)। वैयाकरणों के अनुसार स्ख् रहना चाहिए। मूल पाठ पक्खलंती। मलिश्शशि=शौरसेनी मरिस्ससि। हिन्दी और पं० मूल में चिट्ठ है, जो शौरसेनी है। दज्झदि 'जलता है', (? दय्यहदि)। हडके, गद्य रूप हडक्के है (*हृदक) पिशल् § १९४। तवश्शी=तपस्वी। लाशि=राशि। मंश=मांस।

श्लोक २१ मम मअणम् अणंगं वम्महं वड्ढअन्ती
निशि अ शअणके मे णिद्दअं अक्खिवन्ती।
पशलशि भअ-भीदा पस्खलन्ती स्खलन्ती
मम वशम् अणुयादा लावणश्शेव कुन्ती॥

वम्मह इसी प्रकार माहाराष्ट्री और मागधी श्लोकों में। शौरसेनी मम्मध, (मूल पाठ मम्मह)। णिद्दआ 'निद्रा' अस्किवन्ती=आक्षिपन्ती। क्ष् के स्थान में स्क् हो जाता है। (मूलपाठ आक्खिवन्ति, आ असम्भव है)। पशलशि=प्रसरसि। स्ख् रहता ही है। (मूल पाठ में शौरसेनी रूप अणुजादा है)। लावणश्श 'रावण का'। मागधी और उसकी बोलियों को पढ़ने में र् का ल् में परिवर्तित हो जाना विद्यार्थियों को शायद सबसे अधिक पर्याकुल करनेवाली विशेषता मालूम होगी।

---

nunciation of the *Prakrit Palatals*', J. R. A. S., 1913 पृ० ३११।

श्लोक २३ एशा णाणकमूशि-काम-कशिका मश्चाशिका लाशिका
णिण्णाशा कुल-णाशिका अवशिका कामश्श मञ्जूशिका।
एशा वेशवहू शुवेश-णिलआ वेशंगणा वेशिआ
एशे शे दश णामके मइ कले अय्यावि मं णेश्चदि॥

णाणक 'सिक्का'। मूशि=मोषि-'चुरानेवाली'। कशिका 'कोड़ा'। मश्च+अशिका 'मछली खानेवाली'। (मूल पाठ मच्छा)। लाशिका 'नाचने वाली'। णिण्णाशा 'चपटी नाक वाली' (निर्+नास), अर्थात् क्षुद्रजाति की (कामस्स=शौरसेनी।) एशे प्रथमा बहुवचन पुँल्लिङ्ग 'ये'। शे=शौरसेनी से 'उसका' (स्त्री०)। मइ 'मुझ से'। कल मागधी में कड और (शौरसेनी की भाँति) कद भी प्रयुक्त होते हैं। (मूलपाठ, उत्तर भारतीय हस्तलिखित पुस्तकों जैसा कले)। (मूलपाठ में अज्जा शौरसेनी है)। णेश्चदि (न+इच्छति) मूलपाठ में णेच्छदि है।

अनुवाद

१८–खड़ी रह वसन्तसेना, खड़ी रह,

तू गिरती-पड़ती क्यों जा रही है, क्यों दौड़ी और भागी जा रही है? ऐ बाला प्रसन्न हो जा। तू न मरेगी, ज़रा खड़ी रह। मेरा दयनीय हृदय अंगारों के ढेर में पड़े हुए मांस के टुकड़े की भाँति सचमुच काम से जलाया जा रहा है।

२१—मेरी कामाग्नि को बढ़ाती हुई और रात को मुझे निष्ठुरता से शय्या पर पटकती हुई तू गिरती पड़ती भीतचकित हुई चली जा रही है। कुन्ती जिस प्रकार रावण की वशवर्तिनी हुई थी वैसे ही तू मेरी वशवर्तिनी हुई चाहती है।

२३—यह धन को हरने वाली, काम की कशा (चाबुक), मछली खाने वाली, नृत्य करने वाली, नकटी, कुलनाशिनी, अवश-वर्तिनी, काम की पिटारी, यह वेश-वधू, सुवेश-निलया, वेशाङ्गना,

वश्या (है); ये दस नाम मैंने इसको दिये हैं, अब भी यह मुझे नहीं चाहती।

उद्धरण नं० २६

मागधी]

ललित विग्रह राज-नाटक

(इण्डियन ऐंटिकेरी, वौल्यूम XX, १८९१ में कीलहौर्न से संपादित)

(अङ्क ४) दो तुरुष्क कैदी अपने देशवासी गुप्तचर को मिलते हैं।

बन्दिनौ—एशे शे शायम्भलीशल-शिविल-णिवेशे[1]। एदश्शि अलशिकय्यमाण-पय्यन्दे कधं (ला)-उलं याणिदव्वं[2], (पुरतोऽवलोक्य) वयश्श एशे के वि चले[3] व्व दीशदि? ता इमादो एदश्श शिविलश्श शलूवं[4] लाउलं च याणिश्शम्ह।

चरः—अश्चलियं अश्चलियं। अहो विग्गहलाअ-णलेशल-शिलीएं अवय्यन्ददा[5]। (पुरोऽवलोक्य) अम्ह-देशीय व्व केवि पुलिशा पेशिकय्यन्दि, याणे वन्दीहिं एदेहिं हुविदव्वं।

वन्दिनौ-भद्द, अम्हाणं तुलुश्काणं देशीये व्व तुमं पेशिकय्यशि। ता कधेहि चाहमाण-शिविल-शलूवं लाउलं च।

चरः-शुणाध ले वन्दिनौ शुणाध। हगे तुलुश्कलाएण शाअम्भलीशलश्श शिविलं पेशिकदुं पेशिदे। तं च दूशंचलं; यदो तत्थस्तेहिं इदले पुश्चन्दे वि णि(लिश्क)न्दे वि अ पलकीये त्ति याणिय्यदि[6],

---

१ शाकम्भरीश्वर—शिविल=शिविर।

२ अलक्ष्यमाणपर्यन्ते। याणिदव्वं=शौरसेनी जाणिदव्वं।

३ चले 'जासूस' (चरः)।

४ शिलालेख में श्शलूवं (स्वरूपम्) है।

५ 'असीमता' (अपर्यन्तता)। शिलीएं 'यशों का'।

६ इदले=शिदरो; पुश्चन्दे=पुच्छन्तो। याणिय्यदि याणीअदि होना चाहिए। णिलिश्कन्दे=शौरसेनी णिरिक्खन्तो (निर्+ईच्)।

तधावि मए किंपि किंपि पच्चक्खीकदं[1]।

वन्दिनौ—अश्चलिश्रं अश्चलिश्रं! कधं भद्द, तत्थ उवस्तिदाणं चदुलिदे अणुंश्रं पि तए लश्किदं[2]।

चरः—शुणाध ले वन्दिणो यधा मए तं शिविलं णिलूविदं। हगे खु शिलि-शोमेशलदेवं पेश्किदुं वञ्जन्दश्श शश्तश्श मिलिदे, मिलिश्र श्र एत्थ पविशिऊण भिश्कं पशितदुं लग्गे[3]। तदो यं यं याणिदं तं तं तुम्हाणं यहत्तं[4] कधीयदु। मश्रवालि-णिज्झल-कलाल-कडस्तलाणं कलिन्दाणं दाव शहश्शं[5]। तुलङ्गाणं उण लश्कं। णलाणां उण युज्झ-श्कमाणं दह लश्काइं ति[6]। किं वहुणा यम्पिदेण? तश्श कडश्रश्श पाश-स्तिदे शाश्रले वि शुश्के भोदि[7]। (बाहुम् उत्क्षिप्य) एदं च तं लाउलं[8] (इति दर्शयति)।

वन्दिनौ—शाहु ले चला शाहु!

चरः—श्रले ले वन्दिणो चिलं खु मे णिश्र-स्ताणादो निश्शलिदश्श। ता हगे वञ्जामि[9]।

---

१ प्रत्यक्षीकृतम्, किन्तु तुलना करो नीचे भिश्कं लश्किदं।

२ चदुलिदे (?)=*चतुरिते चतुर से, 'अपनी चतुराई में'। लश्किदं=शौरसेनी लक्खिदं।

३ सोमेश्वरदेव शायद किसी राजकुमार का नाम है। पविशिऊण माहाराष्ट्री, जैन-महाराष्ट्री या अर्धमागधी प्रत्यय। पशितदुं=प्रार्थयितुम्।

४ यथार्थम्। नियमानुसार यधस्तं होना चाहिये।

५ मद-वारि-निर्झर। णिज्झर माहाराष्ट्री है जो मागधी में णिय्यूहल होना चाहिये।

६ युज्झ=युद्ध इस बोली के प्रतिकूल है। दश के लिए दह पिशल के अनुसार अशुद्ध है।

७ कडश्र 'दल' (कटक)। शाश्रले 'सागर'।

८ णिश्शलिद णिश्शलदि (निः+सृ) का भ्रान्त रूप।

९ 'भटकना'। *व्रज्ञामि, क्र्यादिगण।

वन्दिनौ—गश्च ले चला गश्च।......

[इति चरो निष्क्रान्तः]

वन्दिनौ—[पुरतो गत्वावलोक्य] तं णिदं लाउल-दुवालं, ता इध स्तिदा एव णिश्र-लाश्र-प्पहावं पयाशेम्ह। (पुनरवलोक्य सानन्दम्) एशे शे श्राश्रम्भलीशले अस्ताण-स्तिदे पुलदो दीसदि।

इस शिलालेख की मागधी इस कारण रोचक है कि इस में अन्य किसी भी हस्तलिखित पुस्तक की अपेक्षा हेमचन्द्र के नियमों का अनुसरण अधिक घनिष्ठता से किया गया है। चूँकि इस का रचियता सोमदेव हेमचन्द्र का समकालीन था, अतएव कहा गया है कि वह इस वैयाकरण अथवा कम से कम उसके व्याकरण से परिचित रहा होगा। स्वयं शिलालेख में कुछ अशुद्धियां ठीक की गई हैं, फिर भी कुछ ऐसे रूप रह गये हैं जो हेमचन्द्र के अनुसार शुद्ध नहीं हैं, उदाहरण के लिए—णिज्झल, युज्झ, यहस्तं, पविशिऊण। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि रङ्गमञ्च पर बारहवीं शताब्दी तक मागधी को उसके शुद्ध रूप में सुरक्षित रक्खा गया था और सम्भवतः वैयाकरणों के मागधी-विषयक परम्परागत नियमों को निभाने का यह असाधारण प्रयास तुर्की क़ैदियों और गुप्तचरों की भाषा पर बहुत कुछ विदेशीयता का रंग चढ़ाने के लिए किया गया है। यह एक अनोखी घटना है कि मागधी का सबसे अधिक अर्वाचीन लिपिबद्ध अंश रूप में अन्य उपलब्ध नमूनों की अपेक्षा सब से अधिक प्राचीन है।

———

उद्धरण नं० २७।

'आवन्ती'

और दाक्षिणात्या

वीरक और चन्दनक (मृच्छकटिक अङ्क ६)

वीरकः—अरे रे अरे जअ-जअमाण-चन्दणअ-मङ्गल-फुल्लभद्द-प्पमुहा—

किं अच्छध वीसद्धा जो सो गोवाल-दारओ बद्धो,
भेत्तूण समं वच्चइ णरवइ-हिअअं अ बन्धणं चावि॥

अले, पुरत्थिमे पदोली-दुआरे चिट्ठ तुमं। तुमं पि पच्छिमे, तुमं पि दक्खिणे, तुमं पि उत्तरे। जो वि एसो पाआर-खण्डो, एदं अहिरुहिअ चन्दणएण समं गदुअ अवलोएमि। एहि चन्दणअ, एहि। इदो दाव।[1]

चन्दनकः—अरे रे वीरअ-विसल्ल-भीमंगअ-दण्डकालअ दण्ड-सुर-प्पमुहा,

आअच्छध वीसद्धा तुरिअं जत्तेह लहु करेज्जाह
लच्छी जेण ण रण्णो पहवइ गोत्तन्तरं गन्तुं॥[2]

अवि अ,

उज्जाणेसु सहासु अ मग्गे णअरीअ आवणे घोसे।
तं तं जोहह तुरिअं संका वा जाअए जत्थ॥[3]

---

१ शौरसेनी अच्छध। माहाराष्ट्री भेत्तूण, वच्चइ। किन्तु ये पिछले शब्द श्लोक में मिलते हैं; नीचे गदुअ शौरसेनी प्रकार का है। अले मागधी का अंश प्रतीत होता है जो यहाँ असाम्प्रत है।

२ विसल्ल=वि-शल्य।

३ तुरिअं शौरसेनी तुरिदं। जत्तेह=शौरसेनी जत्तेध (यतध्वम्)। करेज्जाह आशी०, पहवइ, सब रूप में मागधी हैं। णअरीअ सप्तमी एकव० ईअ जिसके अन्त में हो ऐसा कर्तृभिन्न स्त्रीलिङ्ग एकवचन माहाराष्ट्री श्लोकों में साधारण है।

रे रे वीरअ किं किं दरिसेसि भणाहि दाव वीसद्धं
भेत्तूण अ बन्धणअं को सो गोवाल-दारअं हरइ ॥[१]
कस्सट्ठमो दिणअरो, कस्स चउत्थो अ वट्टए चन्दो,
छट्ठो अ भग्गव-गहो, भूमिसुओ पञ्चमो कस्स ? [२]
भण कस्स जम्म-छट्ठो जीवो णवमो तहेअ सूरसुओ
जीअन्ते चन्दणए को सो गोवाल-दारअं हरइ ? [३]
वीरकः—भड चन्दणअ !
अवहरइ कोवि तुरिअं, चन्दणअ, सवामि तुज्झ हिअएण
जह अद्धुइद-दिणअरे गोवालअ-दारओ खुडिदो ॥ [४]
[चेटः—याध गोणा, याध ।][५]
चन्दनकः—अरे रे, पेक्ख पेक्ख ।
ओहारिओ पवहणो वच्चइ मज्झेण राअ-मग्गस्स

जोहह (योजयत, अन्वेषयत) ? (अप०) जोएदि 'देखता है' का भविष्यत् । (ण) या √युध् 'जुटना' । जाअए=जैन शौरसेनी जायदे । जत्थ अत्थ=अत्र का सम्बन्ध द्योतक । अन्य बोलियों में साधारणतया 'जहिं' प्रयुक्त होता है ।

१ दरिसेसि "तू देखता है" ।

२ चउत्थो 'चौथा', शौरसेनी चदुत्थो । छट्ठो 'छठा' (तुलना करो हिन्दी छठा) । गहो 'ग्गहो' 'ग्रह' के लिए । भग्गव 'भृगु की पुत्री का' । भूमिसुओ 'भूमिसुत'=मंगल ।

३ तहेअ=तथैव । सूरसुओ 'सूर्य का पुत्र'=शनैश्चर ।

४ सवामि 'मैं सौगंद खाता हूँ' । अद्धुइद 'अर्द्ध उदित' शौरसेनी उदिद; माहाराष्ट्री उइअ (? उदिअ पढ़ा गया) । खुडिदो 'हटाया गया' (खण्डितः) ? खुट् धातु से। यह शब्द शौरसेनी खुडिद 'टूटा हुआ, तोड़ा गया'=पुराण-स्थानीय त्रुटित से भिन्न है । (पिशल् § ५६८)

५ चेट मागधी बोलता है । गोणो 'बैल' अर्धमागधी, मागधी में प्रचलित पुँल्लिङ्ग रूप है । व्युत्पत्ति के लिए पिशल् ने *गवण या* गूर्ण को प्रस्तुत किया है । पहिला अधिक सम्भव प्रतीत होता है ।

एदं दाव विश्रारह कस्स कहिं पवासिश्रो पवहणो" त्ति ॥[1]

वीरकः—अरे पवहण-वाहआ ! मा दाव एदं पवहणं वाहेहि। कस्स-केरकं एदं पवहणं ? को वा इध आरूढो ? कहिं वा वज्जइ ?

[चेटः—एशे क्खु पवहणे अय्य-चालुदत्ताह केलके । इध अय्यआ वशंतशेणा आलूढा । पुस्प-कलण्डअं यिण्णुय्याणं कीलिदुं चालुदत्तश्श णीअदि[2] ।]

वीरकः (चन्दनकमुपसृत्य)—एसो पवहण-वाहओ भणादि ' अज्जचारुदत्तस्स पवहणं; वसन्तसेणा आरूढा पुप्फकरण्डअं जिण्णुज्जाणं णीअदि त्ति[3] ।"

चं०—ता गच्छदु।

वी०—अणवलोइदो ज्जेव ?

चं०—अध इं ?

वी०—कस्स पच्चएण ?

चं०—अज्ज-चारुदत्तस्स ।

वी०—को अज्ज-चारुदत्तो ? का वसन्तसेणा, जेण अणवलोइदं वज्जइ ?

---

१ ओहारिअ 'ढकी हुई' (अप+वृ) । पवहण 'गाड़ी' (प्र+वह्) । वच्च 'जाती है' (तुलना करो जैन माहाराष्ट्री पृ० १३९, नो० ४) । विश्रारह 'निर्णय करो' (वि+चर्) । पवासिश्रो 'प्रस्थित' (प्र+वस्=प्रोषित) ।

२ हस्तलिखित पुस्तकों और मुद्रित संस्करणों में मागधी य य्य के स्थान में ज और ज्ज आये हैं । मागधी केलके=आ० केरको । पुस्प (हेमचन्द्र के अनुसार), हस्तलिखित पुस्तकों में भिन्न भिन्न पाठ हैं । साधारण पाठ पुप्फ । यिण्णुय्याणं 'जीर्ण उद्यान' । यहाँ हमें पास पास ही दो मागधी सम्बन्ध कारक मिलते हैं ।

३ इस अनुमान में कोई युक्ति नहीं है कि वीरक चेट की बोली का विडम्बनात्मक अनुकरण करता है, विशेष कर के जब वह उसके ठीक शब्दों को नहीं दुहराता; स्वभावतः वह अपनी ही साधारण भाषा में चन्दनक को वृत्तान्त कह सुनाता है ।

चं०—अरे, अज्ज-चारुदत्तं णं जाणासि, ण वा वसंतसेणिअं! जइ अज्ज-चारुदत्तं वसंतसेणिअं वा ण जाणासि, ता गअणे जोण्हा-सहिदं चन्दं ण जाणासि[1]।

को तं गुणारविन्दं शील-मिअंकं जणो ण जाणादि?
आवण्ण-दुक्ख-मोक्खं चउ-साअर-सारअं रअणं।
दो जेव पूअणीआ इह णअरीए तिलअ-भूदा अ,
अज्जा वसंतसेणा, धम्म-णिही चारुदत्तो अ[2]॥

टिप्पणियां—पृथ्वीधर ने दोनों पात्रों के मुख से आवन्ती कहलवाई है, जिस के विषय में उसने केवल यह अल्प ज्ञान प्रदान किया है कि उसमें दन्त्य स और र होते हैं और लोकोक्तियों की प्रचुरता होती है। मार्कण्डेय ने उसे शौरसेनी और माहाराष्ट्री का मिश्रण बतलाया है। यह मालूम होती है उस बोली की विशेषता जैसी कि वह हस्तलिखित पुस्तकों में उपलब्ध होती है। तथापि चन्दनक अपने आप को दाक्षिणात्य बतलाता है—'वअं दक्खिणत्था अव्वत्त-भासिणो'—हम दाक्षिणी लोग अस्पष्ट बोलते हैं। अतएव पिशल ने यह सम्भव नहीं समझा कि चन्दनक आवन्ती बोलता हो, किन्तु अधिक सम्भावना इस बात की है कि वह दाक्षिणात्या बोलता था (भरत १७, ४८। साहित्यदर्पण, पृ० १७३. ५)। मालूम होगा कि यह आवन्ती से बहुत भिन्न नहीं थी, और दोनों ही प्रायः शौरसेनी से सम्बद्ध थीं। फिर भी 'वअं दक्खिणत्था' शौरसेनी में 'अम्हे दक्खिणच्चा' होगा।

अनुवाद

वीरक—अरे हो रे! जय, जयमान, चन्दनक, मंगल, पुष्पभद्र आदि, विश्रब्ध क्या बैठे हो? वह जो अहीर का लड़का बंधा

---

१ जोण्हा 'ज्योत्स्ना, चांदनी'।

२ चउ-साअर-सारं 'चारों समुद्रों का सार। णिही 'निधि'।

हुआ था वह (अपने) बन्धन और राजा के हृदय (दोनों) को एक साथ ही तोड़ कर चला जा रहा है।

अरे. तू पूर्व के प्रतोली-द्वार पर खड़ा हो, तू भी पश्चिम (के द्वार) पर, तू दक्षिण के और तू उत्तर के। यह जो प्राकार-खण्ड है इस पर चढ़ कर मैं चन्दनक के साथ चल कर देखता हूँ। आओ चन्दनक, आओ। ज़रा इधर आओ।

चन्दनक—अरे हो रे ! वीरक, विशल्य, भीभाङ्गद, दण्डकाल, दण्डशूर, आदि,

विश्वस्त होकर आओ, शीघ्र यत्न करो, फुर्ती करो, जिससे राज्य-लक्ष्मी किसी अन्य वंश में न जा सके।

और

उद्यानों में, सभाओं के अन्दर, मार्ग में, नगर में, बाज़ार में, घोसियों की झोंपड़ियों में, शीघ्र उन सब की तलाशी लो जिन पर शङ्का हो।

रे वीरक, तू क्या देखता है, विश्रब्धता से बन्धन तोड़ कर कौन अहीर के लड़के को लिए जा रहा है ?

आठवां सूर्य किसका है, किस के चौथे चन्द्रमा है, छठा शुक्र और पांचवां मङ्गल किसके पड़ा है ?

कह, जन्म से पांचवां बृहस्पति किसका है और नवां शनैश्चर किसका है ? चन्दनक के जीते जी कौन है जो अहीर के लड़के को भगा कर लिये जाता है ?

वीरक—भट चन्दनक,

चन्दनक तेरे हृदय की सौगन्ध, कोई उसको जल्दी जल्दी भगा कर लिये जाता है, क्योंकि सूर्य के आधा उदय होने पर अहीर का लड़का भाग चला।

[चेट—चलो रे बैलो, चलो।]

चन्दनक—अरे, देखो देखो।

राजमार्ग के बीच ढकी हुई बहेली जा रही है। ज़रा यह विचार कर लो कि यह बहेली किसकी है और किधर प्रस्थान कर रही है।

वीरक—अरे गाड़ीवान! ज़रा इस गाड़ी को रोक ले (न चला)। यह गाड़ी किसकी है? इस पर कौन सवार है? और कहाँ जा रहा है?

[चेट-यह गाड़ी आर्य चारुदत्त की है। इस पर आर्या वसन्तसेना सवार हैं। पुष्पकरण्डक के जीर्णोद्यान में विहार करने को चारुदत्त जी के पास ले जाई जाती हैं।]

वीरक—(चन्दनक के पास जा कर) यह गाड़ीवाला कहता है, आर्य चारुदत्त की गाड़ी है, वसन्तसेना सवार है और पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान को ले जाई जाती है।

चं०—तो जावे।

वी०—विना देखे ही?

चं०—और क्या?

वी०—किसके प्रत्यय से?

चं०—आर्य चारुदत्त के।

वी०—कौन आर्य चारुदत्त? अथवा कौन वसन्तसेना, जो विना देखे चली जाय?

चं०—अरे, आर्य चारुदत्त को नहीं जानता, और न वसन्तसेना को! यदि आर्य चारुदत्त और वसन्तसेना को नहीं जानता तो गगन में ज्योत्स्ना-युक्त चन्द्र को नहीं जानता।

कौन मनुष्य उस गुणारविन्द शील-मृगाङ्क को नहीं जानता? जो विपद्ग्रस्तों के दुःखों को दूर करनेवाला और चारों समुद्रों का सारभूत रत्न है। इस नगर में दो ही पूजनीय और श्रेष्ठ (तिलकभूत) हैं, आर्या वसन्तसेना और धर्मनिधि चारुदत्त।

———

उद्धरण नं० २८

जैन शौरसेनी

प्रवचनसार

I (६९) देव-जदि-गुरु-पूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवश्रोगप्पगो श्रप्पा॥
(७०) जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो य देवो वा।
भूदो तावदकालं लहदि सुहं इन्दियं विविहं॥
(७४) जदि सन्ति हि पुण्णाणि य परिणाम-समुब्भवाणि विविहाणि
जणयन्ति विसय-तण्हं जीवाणं देवदन्ताणं॥
(७५) ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
इच्छन्ति अणुहवन्ति य आमरणं दुक्खसन्तत्ता॥
III (१३) चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि।
पयदो मूलगुणेसु य अजो सो पडिपुण्ण-सामन्नो॥
(१८) हवदि व ण हवदि बन्धो मदे हि (म्) जीवेध कायचेट्ठम्मि।
बन्धो धुवं उवधीदो इदि सवणा छड्डिया सव्वम्॥
(१९) ण हि णिरवेक्खो चाऊ ण हवदि भिक्खुस्स आसय-विसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्म-क्खयो विहिऊ॥

मूर्धन्य ण शब्दों के आरम्भ में प्रयुक्त किया गया है जब कि अर्धमागधी जैनमाहाराष्ट्री हस्तलिखित पुस्तकों में दन्त्य न को बेहतर समझा गया है। अन्य जैन हस्तलिखित पुस्तकों की भाँति यहाँ भी य अक्षर प्रयुक्त किया गया है।

इस प्राकृत में ऐसे शब्द और रूप मिलते हैं जो साधारण शौरसेनी में बिलकुल नहीं मिलते—किन्तु माहाराष्ट्री या अर्धमागधी में पाये जाते हैं। शायद शौरसेनी के कुछ पद; जिनको हेमचन्द्र ने स्वीकार किया है, किन्तु जो नाटकों में कहीं नहीं मिलते, दिगम्बर पुस्तकों से लिये गये हैं। (पिशल् § २१)

(६६) वेव। सम्पादक येव को ठीक समझते हैं। संस्कृत पाठ चैव। मालूम होता है प्रस्तुत हस्तलिखित प्रति में य और व के प्रयोग में किसी स्थिर नियम का पालन नहीं किया गया है। दाणम्मि सप्तमी, जैसा कि माहाराष्ट्री में भी होता है। सुहोवओग-प्पगो=शुभोपयोग्यात्मकः,।

(७०) आदा=आत्मा, अर्थात् * आता, तुलना करो अर्धमागधी आया; जैनमाहाराष्ट्री अत्ता। तिरियो 'पशु' (तिर्यक्)।

(७४) देवदांतानाम्।

(७५) तन्हा=तण्हा। यह केवल वर्णविचारविषयक विशेषता है; इसी प्रकार क्ख के स्थान में ख्क लिखना भी एक विशेषता है।

III (१३) णाणम्मि 'ज्ञान में'।

(१८) उवधीदो उवधि (उपधि) का पञ्चम्यन्त रूप। इदि=इति। सवण=श्रमणाः। छड्डिय को छड्डिद होना चाहिये। (पिशल § २९१) =छर्दित, तुलना करो शौरसेनी विच्छड्डिदद, माहाराष्ट्री विच्छड्डिअ, अर्धमागधी जैनमाहाराष्ट्री विच्छड्डिय।

(१९) चाऊ=त्यागः, जैन माहाराष्ट्री चाओ। अन्तिम ऊ (तुलना-करो विहिऊ) अपवादस्वरूप और सम्भवतः अशुद्ध है और इस अशुद्धि का कारण जैन हस्तलिखित पुस्तकों में उ और ओ का सादृश्य है। बम्बई-संस्करण में चायो और विहिओ पद हैं।

उद्धरण नं० २९

स्वप्नवासवदत्तम्

(अङ्क ४ पृष्ठ २१) प्रवेशकः

(ततः प्रविशति विदूषकः)

विदूषकः—(सहर्षम्) दिट्ठिआ तत्तहोदो वच्छ-राअस्स अभि-

प्पेद्-विवाहमंगल-रमणिज्जो कालो दिट्ठो। को णाम एदं जाणादि तादिसे वयं अण्णत्थसलिलावत्ते पक्खित्ता उण उम्मज्जिस्सामो त्ति[1]। इदाणिं पासादेसु वसीअदि, अन्देउर-दिग्घिआसु ह्णाईअदि, पलम-मउर-सुउमाराणि मोदअ-खज्जआणि खज्जीअन्ति त्ति अणच्छुर-संवासो उत्तरकुरु-वासो मए अणुभवीअदि[2]। एक्को खु मह-

---

१ तत्तहोदो को तत्थ होना चाहिये। § ४५। मंगल। दन्त्य ल के स्थान में सर्वत्र मूर्धन्य ल़ लिखा गया है। यह बात दक्षिण भारतीय हस्तलिखित पुस्तकों में साधारणतया पाई जाती है। वयं शौरसेनी में अम्हे, दाक्षिणात्या वअं (वररुचि और मार्कण्डेय ने शौरसेनी में भी इसे स्वीकार किया है), अर्ध-मागधी वयं, पालि वयं। उमज्जिस्सामो 'ऊपर निकल आवेंगे'।

२ अंदेउर। (जैसा कि पृष्ठ २४ पर है) अंतेउर शुद्ध रूप है किन्तु हस्तलिखित पुस्तकों में प्राय: न्त के लिए न्द दिया गया है, इसी प्रकार सउंतला के लिये "सउंदला" दिया गया है। इस में सम्भवत: अपभ्रंश का प्रभाव कारण था, जिसमें यह परिवर्तन साधारण है। ह्णाईअदि। शौरसेनी ण्हाईअदि। हस्त-लिखित पुस्तक में नियम से ण्ह के लिये ह्ण और म्ह के लिए ह्म मिलता है। आपातत: यह आर्षता का उपलक्षण प्रतीत होता है; क्योंकि ह यहाँ स के लिये आया है और ण्हा की अपेक्षा ह्णा स्ना से अधिक मिलता जुलता प्रतीत होता है। फिर भी ऐसी पुस्तकों में जहाँ ण्ह और म्ह को शुद्ध माना गया है ह्ण और ह्म पाये जाते हैं। अम्हे, नहातको (=स्नातको) जैसे पालि रूपों से यह प्रगट होता है कि यह परिवर्तन प्राचीन है। इस के अतिरिक्त उदाहरण के लिये बम्हणो और (जैसा कि भास में मिलता है) बह्मणो के बीच की भिन्नता कानों को कोई अधिक नहीं खटकती। इसी प्रकार ह्ण, ह्म भी केवल वर्णविषयक परिवर्तन होंगे। पल़म=परम। ल या ल़ के लिये यहाँ कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं है। मउर महुर (=मधुर) के लिये। यह गलती मालूम होती है, पृष्ठ छ: पर महुरा है। सुउमाराणि=०राइं। आणि जिनके अन्त में हो ऐसे नपुंसक बहुवचन अर्धमागधी, जैन माहाराष्ट्री, जैन शौरसेनी में मिलते हैं, महाराष्ट्री या शौरसेनी

न्तो दोसो, मम आहारो सुट्ठु ण परिणमदि, सुप्पच्छदणाए सय्याए[1] णिद्दं ण लभामि, जह वाद-सोणिदं अभिदो विअ वत्तदि त्ति पेक्खामि। भो! सुहं णामय-परिभूदं[2] अकल्लवत्तं च।

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी- कहिं णु खु गदो अय्य-वसन्तओ? (परिक्रम्यावलोक्य) अह्मो एसो वसन्तओ। (उपगत्य) अय्य! वसन्तअ! को कालो[3] तुमं अण्णेसामि।

विदूषकः—(दृष्ट्वा) किं णिमित्तं, भद्दे! मं अण्णेसासि?

चेटी—अह्माणं भट्टिणी भणादि—अवि ह्वादो जामादुओ[4] त्ति।

में नहीं। पालि में संस्कृत की भांति आणि हो सकता है।

१ सय्याए (=शय्यायाम्) माहाराष्ट्री अर्धमागधी जैन माहाराष्ट्री सेज्जाए, मागधी सेय्याए। यहाँ भी, जैसा कि अय्यउत्त में है, द्वित्व ज्ज के लिये द्वित्व य्य आर्षता का द्योतक हो सकता है। शौरसेनी में हेमचन्द्र ने र्यं के लिये य्य को उचित माना है। यह वर्णविन्यास कभी कभी दक्षिण भारतीय हस्तलिखित पुस्तकों में पाया जाता है। अधिकांश पुस्तकों में केवल एक वृत्त य्र ०य्र पाया जाता है, जो पिशल के कथनानुसार या तो य्य और ज्ज के बीच विकल्प का द्योतक है अथवा जिससे इन दोनों के बीच की कोई ध्वनि अभिप्रेत है। (पिशल् § २८४) शौरसेनी में संस्कृत र्य के स्थान में ज्ज के अतिरिक्त किसी अन्य परिवर्तन के लिये कोई प्रमाण नहीं है। माहाराष्ट्री में जह नियमानुकूल है (शौरसेनी जधा)।

२ णामय-आमय 'अपच' शौरसेनी में आमअ होना चाहिये। यदि यह कोई अशुद्धि नहीं है तो इसे आर्ष प्रयोग कहना चाहिये। कल्लवत्त 'कल्य-वर्त', कलेवा।

३ अय्य, ऊपर सय्याए पर का नोट देखो। अह्मो का साधारण वर्ण-विन्यास अम्मो है, ऊपर ह्णाईअदि पर का नोट देखो। तेलंग के मालतीमाधवं के संस्करण में अह्मो है। दूसरा पाठ यहां अम्मे है, पृष्ठ दस पर अम्मो है।

४ जामादुओ § ६०।

विदूषकः—किं णिमित्तं भोदी पुच्छदि ?

चेटी—किं अण्णं ? सुमण-वण्णअं आणेमि त्ति ।

विदूषकः-ह्वादो तत्तभवं। सव्वम् आणेदु भोदि वज्जिअ भोअणं ।

चेटी—किं णिमित्तं वारेसि भोअणं ?

विदूषकः—अधण्णस्स मम कोइलाणं अक्खिपरिवट्टो विअ कुक्खि-परिवट्टो संवुत्तो[1] ।

चेटी—ईदिसो एव्व होहि ।

विदूषकः—गच्छदु भोदी। जाव अहं वि तत्तहोदो सआसं गच्छामि[2] । निष्क्रान्तौ

(ततः प्रविशति सपरिवारा पद्मावती आवन्तिकावेशधारिणी वासवदत्ता च)

चेटी—किं णिमित्तं भट्टिदारिआ पमदवणं आअदा ?

पद्मावती—हला, ताणि दाव सेहालिआ-गुह्मआणि पेक्खामि कुसुमिदाणि वा ण वे त्ति[3] ।

चेटी—भट्टिदारिए ! ताणि कुसुमिदाणि णाम, पवालन्तरिदेहिं विअ मोत्तिआ-लम्बएहिं आइदाणि कुसुमेहिं ।

पद्मावती—हला ! जदि एव्वं, किं दाणिं विलम्बेसि ?

चेटी—तेण हि इमस्सिं सिलावट्टए मुहुत्तअं उपविसदु भट्टिदारिआ। जाव अहं वि कुसुमावचअं करेमि[4]।

---

१ कुक्खि 'कुक्षि' पेट ।

२ जाव साधारण रूप है । यहाँ य नहीं आया है । अहंपि अधिक अच्छा होता ।

३ गुह्मअ (गुल्मक) अर्धमागधी शौरसेनी मागधी गुम्म § ४८ । ह्म के लिये कोई कारण नहीं दीखता । पिछले अंक में गुह्मद गुंफद के लिये आया है, जहाँ परिवर्तन आर्ष नहीं है ।

४ शिलापट्टक 'पाषाणफलक' । (पृष्ठ १६ पर सिला-पट्टक) । उपविसदु

पद्मावती—अय्ये ! किं एत्थ उपविसामो ?

वासवदत्ता—एव्वं होदु ।

(उभे उपविशतः)

(रेखाङ्कित शब्द नियमानुकूल शौरसेनी नहीं हैं) ।

अनुवाद

विदूषक—(खुशी से) अहोभाग्य ! आज महाराज वत्सराज के मङ्गलमय विवाह का आनन्द प्राप्त हो ही गया है। इसका पूर्व-ज्ञान किसको था कि हम दुःख के अगाध जल में प्रविष्ट होकर फिर उसके बाहर आ निकलेंगे। इस समय मैं राजमहलों में सोता हूँ, अन्तःपुर के सरोवरों में स्नान करता हूँ और बड़ी मधुर तथा प्रिय मिठाइयों को खाता हूँ। मैं अप्सराओं के संगम के विना उत्तरकुरु में वास कर रहा हूँ। तथापि एक बहुत बड़ा दोष है कि मैं भोजन को अच्छी तरह नहीं पचा सकता। मुझे अच्छी अच्छी रजाइयों वाले बिछौने पर भी नींद नहीं आती, इसलिये मुझे वातशोणित की पीड़ा का जैसा अनुभव हो रहा है । सत्य है कि तन्दुरुस्ति और स्वादु भोजन के विना दुनिया में वास्तविक सुख नहीं है।

(चेटी आती है)

चेटी—आर्य वसन्तक कहाँ गया होगा ! [घूम कर देखती है] अहो ! आर्य वसन्तक यह है। (आगे बढ़ कर) आर्य वसन्तक ! मैं तुमको किस समय से ढूँढ रही हूँ।

विदूषक-(कटाक्ष करके) भद्रे ! किस निमित्त से तू मुझे ढूँढ रही है !

शुद्ध शौरसेनी है। इसी प्रकार उवरदा शुद्ध रूप होना चाहिये। पृष्ठ ४० अवचम्भ, यहां कोई य नहीं है।

चेटी—हमारी स्वामिनी पूछती हैं क्या जामाता स्नान कर चुके ?

विदूषक—तुम यह किस लिये पूछ रही हो ?

चेटी—और किस लिये ! केवल इस कारण कि फूल तथा सुगंधित द्रव्य ले आऊं।

विदूषक—महाराज नहा चुके हैं। भोजन के अलावा सब चीज़ें ला सकती हो !

चेटी—भोजन (लाने को) क्यों रोक रहे हो ?

विदूषक-इसलिये कि मेरा पेट कोकिल की आँख की भाँति चक्कर लगा रहा है।

चेटी—सदा इसी तरह ही रहो।

विदूषक—तुम जाओ। मैं भी महाराज को मिलने जाता हूँ।

(दोनों जाते हैं)

[सहेलियों सहित पद्मावती और आवन्ती-वेष में वासवदत्ता प्रवेश करती हैं]

चेटी—राजकुमारी प्रमोद-वन में कैसे आई ?

पद्मावती-अरी मैं देखती हूँ कि शेफालिका के गुल्म विकसित हो गये हैं कि नहीं।

चेटी-राजकुमारी ! वे खिल गये हैं। फूलों सहित वे इस प्रकार शोभायमान हो रहे हैं जैसे प्रवाल में मोती पिरोये हों।

पद्मावती—प्रिये ! यदि यह सत्य है तो विलम्ब क्यों कर रही हो?

चेटी-जब तक मैं पुष्पों को चुनती हूँ तब तक राजकुमारी इस पाषाण-शिला पर बैठें।

पद्मावती-आर्ये, क्या हम यहाँ पर बैठ जांय ?

वासवदत्ता-जैसी आपकी इच्छा है।

(दोनों बैठती हैं)

प्रारम्भिक प्राकृत

उद्धरण नं० ३०

चौथा चट्टान शासन

नोट—गिरनार शासन की भाषा पश्चिमी और धौली की पूर्वी प्राकृत है। अशोक की धर्मलिपियों का भाषाओं के सम्बन्ध में वूलनर कृत अशोक ग्लासरी (Aśoka Glossary) देखनी चाहिए। मूल चट्टानों पर व्यञ्जन का द्विर्भाव नहीं दिखाया गया।

गिरनार-अतिकातं अंतरं बहूनि वाससतानि वढितो एव प्राणारंभो विहिंसा च भूतानं ञातिसु असंप्रतिपत् ब्राह्मणस्रमणानं असंप्रतिपती।

धौली—अतिकंतं अंतलं बहूनि वस-सतानि वढिते व पानालंभे विहिसा च भूतानं नातीसु असंपटिपति समनबाभनेसु असंपटिपति।

प्राचीनकाल में सैकड़ों वर्षों तक सदा पशुओं के वध और जीवहिंसा, सम्बन्धियों के प्रति अशिष्टता और ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति अशिष्टता की बढ़ती होती रही।

अतिकातं=अतिक्रान्तम्। वढितो=वर्धितो, तुलना करो वड्ढितो। नाति=ज्ञाति। पालि ञाति। संप्रतिपत्ति 'उचित प्रतिष्ठा'।

गिरनार—त अज देवानंप्रियस प्रियदसिनो राञो धंमचरणेन भेरीघोसो अहो धंमघोसो विमानदसणा च हस्तिदसणा च अगिखंधानि च अञानि च दिव्यानि रूपानि दसयित्पा जनं।

धौली—से अज देवानं पियस पियदसिने लाजिने धंमचलनेन भेलिघोसं अहो धंमघोसं विमानदसनं हथीनि अगिकंधानि अंनानि च दिवियानि लूपानि दसयितु मुनिसानं।

किन्तु अब देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से भेरघोष (ध्वनि) धर्मघोष हो गया है, जिसमें लोगों को विमानदर्शन, हस्तिदर्शन, अग्निस्तम्भ और अन्य दिव्य रूपों का दर्शन कराया जाता है।

अहो लुङ *अभोत् (अभवत्) से। अन्य विद्वानों ने इसे अथवा' के अर्थ में लिया है, तुलना करो अथवा

अपभ्रंश अहवइ। -त्पा,-तु=संस्कृत त्वा, दर्शयित्वा। हथीनि द्वितीया का बहुवचन पुल्लिङ्ग जो नपुंसक रूप से लिया गया है। अग्नि-स्कन्ध का अर्थ अलाव या दिव्य प्राणी हो सकता है।

गिरनार—यारिसे बहूहि वाससतेहि न भूतपुवे तारिसे अज वढिते देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो धंमानुसष्टिया अनारंभो प्राणानं अविहिसा भूतानं आतीनं संपटिपती ब्रह्मणसमणानं संपटिपती मातरि पितरि सुस्रुसा थइरसुस्रुसा।

धौली—आदिसे बहूहि वससतेहि नो हूतपुलुवे तादिसे अज वढिते देवानं पियस पियदसिने लाजिने धंमानुसथिया अनालंभे पानानं अविहिसा भूतानं नातिसु संपटिपति समन-बंभनेसु संपटिपति मातिपितुसुसूसा वुढ-सुसूसा।

जैसा कि पहिले सैकड़ों वर्षों से इन बातों का अस्तित्व नहीं था, देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से पशुओं और जीवों की अहिंसा, सम्बन्धियों के प्रति शिष्टता, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति शिष्टता, माता और पिता की आज्ञा का पालन, और बड़े बूढ़ों के आज्ञापालन की वृद्धि की गई है।

थइर=स्थविर, पालि थेर। वुढ=वृद्ध, पालि वुड्ढ अथवा वुद्ध।

गिरनार—एस अञे च बहुविधे धंमचरणे वढिते वढयसति चेव देवानं प्रियो प्रियदसी राजा धंमचरणं इदं।

धौली—एस अंने च बहुविधे धंमचलने वढिते वढयिसति चेव देवानं पिये पियदसी लाजा धंमचलनं इदं।

इस प्रकार और अनेकों तरीकों से धर्माचरण की वृद्धि की गई है। और देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा सदा इस धर्माचरण की वृद्धि करेगा।

गिरनार—पुत्रा च पोत्रा च प्रपोत्रा च देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो वधयिसंति इदं धंमचरणं आव संवटकपा।

धौली—पुता पि च नतिपनति च देवानं पियस पियदसिने

लाजिने पवढयिसंति येव धंमचलनं इमं आकपं।

और देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के पुत्र और पौत्र और प्रपौत्र कल्पान्त तक इस धर्माचरण की वृद्धि करेंगे।

आव संवट-कपा=यावत् संवत्कल्पात्। आकपं=आकल्पम्। नति-पनति (नप्तृ-प्रणप्तृ)।

गिरनार—धंमम्हि सीलम्हि तिष्टंतो धंमं अनुसासिसंति।

धौली—धंमसि सीलसि च चिठितु धंमं अनुसासिसंति।

धर्म और शील में स्थिर रह कर वे (लोगों को) धर्माचरण की शिक्षा देंगे।

चिठितु * चिठति—से क्त्वान्त रूप।

गिरनार—एस हि सेस्टे कंमे य धंमानुसासनं।

धौली—एस हि सेठे कंमे या धंमानुसासना।

क्योंकि यही—अर्थात् धर्मानुशासन श्रेष्ठ काम है।

गिरनार—धंमचरणे पि न भवति असीलस। त इमम्हि अथम्हि वधी च अहीनी च साधु।

धौली—धंमचलणे पि चु नो होति असीलस। से इमस अठस वढी अहीनी च साधु।

और धर्माचरण शीलहीन के लिये नहीं है। इसलिये इस अर्थ की वृद्धि और उसमें प्रमाद न करना पुण्यकार्य है।

गिरनार—एताय अथाय इदं लेखापितं इमस अथस वधि युजंतु हीनि च मा लोचेतव्या। दुवादसवासाभिसितेन देवानं प्रियेन प्रियदसिना राञा इदं लेखापितं।

धौली—एताये अठाये इयं लिखिते इमस अठस वढी युजंतू हीनि च मा अलोचयिसू। दुवादसवसानि अभिसितस देवानं पियस पियदसिने लाजिने यं इध लिखिते।

निम्नलिखित उद्देश्य से यह लिखवाया गया है कि वे अपने

आप को इस आचरण की वृद्धि में लगावें और उसकी उपेक्षा का अनुमोदन न करें। इसे देवानां प्रिय प्रियदर्शि राजा ने लिखवाया था जब उसका अभिषेक हुए बारह वर्ष हो गये थे।

युजंतु लोट् 'अपने आपको लगावें'। मा आलोचयिसु प्रथम पुरुष बहुवचन आलोचयति का लुङ्रूप 'वे इसका अनुमोदन न करें', लोचेतव्या (गिरनार) तव्यान्तरूप है, शब्द-योजना कुछ मिश्रित सी प्रतीत होती है। दूबादस 'द्वादश' तुलना करो त्व के लिये त्प। उच्चारण अभिनिहित होने से द् अन्ततः लुप्त हो गया और केवल व शेष रह गया। इसी प्रकार प्राकृत बारस, बारह, हिन्दी बारह इत्यादि की उत्पत्ति है।

उद्धरण नं० ३१

पालि

जातक ३०८।

अतीते बाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो हिमवन्त-पदेसे रुक्ख-कोट्ट-सकुणो हुत्वा निब्बत्ति। अथेकस्स सीहस्स मंसं खादन्तस्स अट्ठि गले लग्गि, गलो उद्धुमायि, गोचरं गण्हितुं न सक्कोति, खरा वेदना वत्तन्ति।

टिप्पण—बाराणसियं=वाराणस्याम्=अर्धमागधी वाणारसीए। ब्रह्म, प्राकृत बम्ह। कारेन्ते णिजन्त शत्रन्तरूप, शौरसेनी करेन्ते कर्तृ-वाच्य है। रुक्ख०'कठफोड़ा'। रुक्ख इसी प्रकार माहाराष्ट्री शौर-सेनी इत्यादि में=वैदिक रुक्ष 'वृक्ष' जिसका सम्बन्ध निःसन्देह वृक्ष से है, जिससे माहाराष्ट्री जैन माहाराष्ट्री वच्छ निकला है (पिशल § ३२०)। हुत्वा=शौरसेनी भविअ, अर्धमागधी होत्ता। निब्बत्ति 'फिर पैदा हुआ' निब्बत्तति=शौरसेनी णिव्वट्टदि से लुङ (निर्+

वृत्)। अथ=शौरसेनी अध। सीह, यही रूप माहाराष्ट्री में (§ ६५)। लग्गि 'लग गया, फंस गया' लग्गति से लुङ्। उद्धुमायि 'फुलाया गया', उद्धुमायति=उद्ध्मायते से कर्मवाच्य लुङ् रूप। गण्हितुं=शौरसेनी गेण्हिदुं। सक्कोति=शौरसेनी सक्कुणोति। जैन माहाराष्ट्री सक्कइ, सक्केइ। वत्तन्ति=शौरसेनी वट्टंति।

अथ नं सो सकुणो गोचर-पसुतो दिस्वा साखाय निलीनो "किं ते सम्म दुक्खतीति" पुच्छि। सो तम् अत्थं आचिक्खि "अहन् ते सम्म एतं अट्ठिं अपनेय्यं, भयेन ते मुखं पविसितुं न विसहामि, खादेय्यासि पि मन्" ति "मा भायि सम्म, नाहन् तं खादामि, जीवितं मे देहीति"।

टिप्पण—नं 'उसको'। (भोजन) ढूंढने में लगा हुआ= प्रसित। दिस्वा=दृष्ट्वा, अर्धमागधी दिस्सा, दिस्स, दिस्सं। साखाय, तुलना करो माहाराष्ट्री सप्तमी मालाअ। निलीनो 'अड्डे पर बैठा हुआ' निलीयति का क्तान्त रूप कर्मवाच्य, तुलना करो शौरसेनी णिलीअमाण। सम्म 'मित्र, भद्र'? सम्यक् से। आचिक्खि 'कहा' आचिक्खति (आ+ख्या)=अर्धमागधी आइक्खइ। अपनेय्यं 'मैं हटा देता' शौरसेनी में अवणेअं, अर्धमागधी अवणेज्जा। विसहामि (वि+सह्) 'साहस करता'।

सो "साधु" ति तं पस्सेन निपज्जापेत्वा "को जानाति किं पेस करिस्सतीति" चिन्तेत्वा यथा मुखं पिदहितुं न सक्कोति तथा तस्स अधरोट्ठे च उत्तरोट्ठे च दण्डकं ठपेत्वा मुखं पविसित्वा अट्ठिकोटिं तुण्डेन पहरि। अट्ठि पतित्वा गतं। सो अट्ठिं पातेत्वा सीहस्स मुखतो निक्खमन्तो दण्डकं तुण्डेन पहरित्वा निक्खमित्वा साखग्गे निलीयि।

टिप्पण—पस्स=शौरसेनी पास। निपज्जापेत्वा निपज्जति (नि+पद्) का णिजन्त क्त्वान्त रूप। पिदहितुं पिदहति 'ढकता है'

[(अ) पि+धा] का तुमुन्नन्त रूप। निलीयि 'अड्डा किया' देखो ऊपर निलीनो।

सीहो नीरोगो हुत्वा एकदिवसं वनमहिसं वधित्वा खादति। सकुणो "वीमंसिस्सामि नन्" ति तस्स उपरिभागे साखाय निलीयित्वा तेन सद्धिं सल्लपन्तो पठमं गाथं आह—

अकरम्हसे ते किच्चं यं बलं आहुवम्हसे,
मिगराज नमो त्यत्थु, अपि किञ्चि लभामसे।

टिप्पण—वीमंसिस्सामि वीमंसति का भविष्यत् रूप 'परखना, जांचना' (मीमांसते)। पठम=प्राकृत पढम। अकरम्हसे लुङ् आत्मनेपद। अहुवम्हसे भवति का आत्मनेपद लुङ्। त्यत्थु=(इति+अस्तु)। लभामसे आत्मनेपद लोट्।

तं सुत्वा सीहो दुतियं गाथं आह—
मम लोहित-भक्खस्स निच्चं लुद्दानि कुब्बतो
दन्तन्तर-गतो सन्तो तं बहुं यं हि जीवसीति॥

तं सुत्वा सकुणो इतरा द्वे गाथा अभासि—
अकतञ्ञुं अकत्तारं कतस्स अप्पतिकारकं
यस्मि कतञ्ञुता नत्थि निरत्था तस्स सेवना।
यस्स सम्मुख-चिण्णेन मित्तधम्मो न लब्भति
अनुसुय्यम् अनक्कोसं सनिकं तम्हा अपक्कमे ति।
एवं वत्वा सो सकुणो पक्कामि।

टिप्पण—भक्ख 'भक्षण'। कुब्बन्तो करोति का शत्रन्त। लुद्दानि 'रौद्र काम' (रुद्र-)। अभासि 'कहा' भासति का लुङ् रूप। कतञ्ञु 'कृतज्ञ'। चिण्ण 'पूरा किया' (*चीर्ण) चरति का क्तान्त रूप, 'कोई काम जो किसी मनुष्य के सामने किया गया हो, अत एव वैयक्तिक अनुग्रह'। सनिकं 'शीघ्रता से'। कभी कभी इसका अर्थ शनैः की भांति धीरे धीरे होता है, मूल अर्थ

'नरमी से, धीरे से।' तम्हा (तस्मात्) शौरसेनी में क्रिया-विशेषण की भांति प्रयुक्त होता है।

उद्धरण नं० ३२

पालि

जातक ३३६।

बावेरुजातकम्

अतीते बाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्त्वो मोर-योनियं निब्बत्तित्वा वुद्धिं अन्वाय सोभग्ग-पत्तो अरञ्ञे विचरि। तदा एकच्चे वाणिजा दिसा-काकं गहेत्वा नावाय बावेरुरट्ठं अगमंसु। तस्मिं किर काले बावेरुरट्ठे सकुणा नाम नत्थि। आगतागता रट्ठ-वासिनो तं कूपग्गे निसिन्नं दिस्वा "पस्सथिमस्स छविवण्णं गल-परियोसानं मुखतुण्डकं मणि-गुलक-सदिसानि अक्खीनीति" काकम् एव पसंसित्वा ते वाणिजके आहंसु—"इमं अय्यो सकुणं अम्हाकं देथ, अम्हाकं हि इमिना अत्थो, तुम्हे अत्तणो रट्ठे अञ्ञं लभिस्सथा" ति। "तेन हि मूलेन गण्हथा" ति। "कहापणेन नो देथा" ति। "न देमा" ति। अनुपुब्बेन वड्ढेत्वा "सतेन देथा" ति वुत्ते "अम्हाकं एस बहूपकारो, तुम्हेहि पन सद्धिं मेत्ती होतू" ति कहापण-सतं गहेत्वा अदंसु।

वुद्धिम् अन्वाय "वृद्धि को प्राप्त होकर, पूर्णतया बढ़ कर" क्त्वान्त (अनु+इ) जिस प्रकार मि से माय् बनता है उसी के सादृश्य पर * अन्वेत्वा के स्थान में प्रस्तुत रूप बना है। एकच्चे 'निश्चित' (* एक-त्य-)। दिसा-काकं 'परदेशी कौवा'। अगमंसु प्रथम पुरुष बहुवचन लुङ् 'गये'। किर=किल। प्रत्यक्षतः बावेरु-राज्य समुद्र में किसी ऐसे मुल्क में था जहाँ पक्षियों का होना

दुर्लभ समझा जाता था, सम्भवतः यह देश कहीं फारस की खाड़ी में स्थित होगा। आगतागता "बटोही, दर्शक"। कूप 'मस्तूल'। निसिन्न 'अड्डे पर स्थित'=जैन माहाराष्ट्री निसिण्ण। पस्सथ, मध्यम-पुरुष बहुवचन लोट्, "देखो"। परियोसानं "अन्त में" (पर्यवसान)। अय्यो, शायद शुद्धरूप अय्या "साहिबान"=शौरसेनी अज्जा, है। कहापण "एक प्रकार का सिक्का, यहाँ सम्भवतः चांदी का सिक्का"। मेत्ती "मैत्री"। अदंसु, लुङ् "उन्होंने दिया"।

ते तं गहेत्वा सुवण्ण-पञ्जरे पक्खिपित्वा नानप्पकारेन मच्छमंसेन चेव फलाफलेन च पटिजग्गिंसु। अञ्ञेसं सकुणानं अविज्जमानट्ठाने दसहि असद्धम्मेहि समन्नागतो काको लाभग्ग-यसग्ग-प्पत्तो अहोसि। पुनवारे ते वाणिजा एकं मयूर-राजानं गहेत्वा यथा अच्छरासद्देन वस्सति पाणिप्पहारसद्देन नच्चति एवं सिक्खापेत्वा बावेरु-रट्ठं अगमंसु। सो महाजने सन्निपतिते नावाय धुरे ठत्वा पक्खे विधूनित्वा मधुर-स्सरं निच्छारेत्वा नच्चि।

फलाफल "जंगली फल"। जब किसी समास में कोई शब्द दोहराया जाता है तो पालि में एक स्वर दीर्घ हो जाता है। इसी प्रकार खंडाखंडं 'टुकड़े टुकड़े,' किच्चाकिच्चानि "सब प्रकार के कृत्य"। पटिजग्गिंसु, लुङ् पटि-जग्गति "निगरानी रखना, देखभाल करना" (प्रति+जागृ)। समन्नागतो "युक्त" (सम्+अनु+आ+गम्)—इसका पर्याय बौद्ध संस्कृत में पाया जाता है। यसग्ग "यश की चरम सीमा"। पुन-वारे "अगली बार"। अच्छरा "उंगलियों को चटकाना"। वस्सति "चीखता है" √वाश्। उन्होंने उसको उंगलियों के चटकाने पर चीखना और हाथों से ताली बजाने पर नाचना सिखा रक्खा था। धुरे "धुरे पर"। ठत्वा, माहाराष्ट्री जैन माहाराष्ट्री ठाइऊण, अर्धमागधी जैनशौरसेनी ठिच्चा। निच्छारेति "निकाल डालना, उच्चारना" निच्छरति (निश्+चर्) का णिजन्त रूप।

मनुस्सा तं दिस्वा सोमनस्स- जाता "एतं अय्यो सोभग्ग-पत्तं सुसिक्खित-सकुण-राजानं अम्हाकं देथा" ति आहंसु। "अम्हेहि पठमं काको आनीतो, तं गण्हित्थ, इदानि एतं मोर-राजानं आनायिम्ह, एतं पि याचथ, तुम्हाकं रट्ठे सकुणं नाम गहेत्वा आगंतुं न सक्का" ति। "होतु अय्यो, अत्तनो रट्ठे अञ्ञं लभिस्सथ, इमं नो देथा" ति मूलं वड्ढेत्वा सहस्सेन गण्हिंसु। अथ नं सत्त-रतन-विचित्ते पंजरे ठपेत्वा मच्छमंस-फलाफलेहि चेव मधु-लाज-सक्खरा-पानकादीहि च पटिजग्गिंसु। मयूरराजा लाभग्ग-यसग्ग-पत्तो जातो। तस्सागतकालतो पट्ठाय काकस्स लाभसक्कारो परिहायि, कोचि नं ओलोकेतुं पि न इच्छति। काको खादनिय-भोजनियं अलभमानो 'काका' ति वस्संतो गंत्वा उक्कारभूमियं ओतरि।

आहंसु-लुङ् "उन्होंने कहा"। गण्हित्थ-मध्यमपुरुष बहुवचन "तुमने लिया"। आनायिम्ह "हम लाये हैं"। सक्का "सम्भव है"। कभी कभी इसकी व्याख्या सक्को 'समर्थ' (=शक्यः) का बहुवचन मान कर भी की जाती है, किन्तु यह प्रायः अव्यय होता है, और पिशल ने इसकी व्युत्पत्ति शक्यात् से बतलायी है § १३३। "वस्तुतः किसी पक्षी को लेकर आपके देश में आना असम्भव है"। ठपेत्वा=अर्धमागधी ठवेत्ता, जैन माहाराष्ट्री ठवित्ता, ठविऊण, ठविय, शौरसेनी ठाविअ, ठविअ। लाज "खील; लाजा"। पट्ठाय "से" शब्दार्थ 'से रवाना होकर" (प्र+स्था)। इसी प्रकार अज्जपट्ठाय "आज से लेकर"। परिहायि "अलग जा गिरा"। खादनियं "खाद्य"। भोजनियं "मृदु भोजन"। पद्य में खज्जभोज्जं पद मिलता है। 'काका' ति वस्संतो "कांय कांय करता हुआ।" उक्कारभूमि "विष्ठा या मल का ढेर", अर्धमागधी उच्चार। ओतरि "उतरा"।

उद्धरण नं० ३३

पाली

महावंश, सर्ग ७

लङ्काविजय

(डाइन्ज़ ऐराडरसन की रीडर, पृष्ठ ११०। गाइगर का अनुवाद पृष्ठ ५५)

निर्वाण समय बुद्ध ने इन्द्र को बतलाया कि सीहबाहु का पुत्र विजय सात सौ अनुयायियों के साथ लङ्का को गया है और प्रार्थना की कि उसकी और उसके अनुयायियों की सावधानी से रक्षा की जाय। इन्द्र ने लंका की रक्षा का भार विष्णु को सौंपा।

सक्केन वुत्तमत्तो सो लङ्कम् आगम्म सज्जुकम्।
परिब्बाजक-वेसेन रुक्खमूलम् उपाविसि ॥ ६ ॥

विजय-प्पमुखा सब्बे तं उपेच्च अपुच्छिसु,
"अयं भो को नु दीपो ?" ति। "लंकादीपो" ति अब्रुवि ॥ ७ ॥

श्लोक ६—'वुत्त' वत्ति 'वह बोलता है' का क्रान्त रूप। इसी प्रकार जैन माहाराष्ट्री अर्धमागधी में भी। मत्त (मात्र), प्राकृत भाषाओं में अधिक प्रचलित रूप मेत्त है। अर्धमागधी-मित्त। आगम्म आगच्छति का कृदन्त रूप। सज्जकं 'शीघ्रता से', यह शब्द सद्यः से निकला है। वेसेन (परिव्राजक के) 'वेश में'।

श्लोक ७—प्पमुखा 'प्रमुखा', इत्यादि, अर्थात् विजय और उस के अनुयायी।

"न सन्ति मनुजा एत्थ, न च हेस्सति वो भयं"-
इति वत्वा कुण्डिकायं ते जलेन निसिञ्चिय ॥ ८ ॥
सुत्तञ्च तेसं हत्थेसु लग्गेत्वा नभसागमा,
दस्सेसि सोणिरूपेन परिचारिक-यक्खिनी ॥ ९ ॥

एको तं वारियन्तो पि राजपुत्तेन अन्वगा।
"गामम्हि विज्जमानम्हि भवन्ति सुनखा" इति ॥ १० ॥
तस्सा च सामिनी तत्थ कुवेणी नाम यक्खिनी।
निसीदि रुक्ख-मूलम्हि कन्तन्ती तापसी विय ॥ ११ ॥
दिस्वान सो पोक्खरणिं निसिन्नं तञ्च तापसिं।
तत्थ नहात्वा पिवित्वा चादाय च मुळालयो–
वारिञ्च पोक्खरे हेव सो वुट्ठासि, तम् अब्रवि–
"भक्खो सि मम, तिट्ठ" ति, आलद्धावद्धो व सो नरो ॥ १३ ॥
परित्तसुत्ततेजेन भक्खेतुं सा न सक्कुणि।
याचियन्तो पि तं सुत्तं नादा यक्खिनिया नरो ॥ १४ ॥
तं गहेत्वा सुरुङ्गायं रुदन्तं यक्खिनी खिपि,
एवं एकेकसो तत्थ खिपि सत्तसतानि पि ॥ १५ ॥

श्लोक ८ हेस्सति 'भवति' (*हविस्सति) का भविष्यत् रूप, भविस्सदि भी प्रचलित रूप है।

श्लोक ९ सुत्तं, उदाहरण के लिए भूत प्रेतों के विरुद्ध रक्षा का एक साधन। अगमा, लुङ् 'अन्तर्हित होगया' इसी प्रकार अगमि अगच्छि, अगमासि इत्यादि रूप भी होते हैं। दस्सेसि 'दिखाई दिया', लुङ्। तुलना करो दस्सेति=दर्शयति। सोणि 'शुनी'।

श्लोक १० वारियन्तो, वारेति 'निषेध करता है' के वारियति इस कर्मवाच्य रूप का शत्रन्त, जो वृणाति का णिजन्त रूप है। अन्वगा 'अनुगमन किया'। सुनखा 'कुत्ते' (शुनकाः)—'केवल वहाँ जहाँ कोई गाँव हो।'

श्लोक ११ कन्तन्ती 'कातती हुई'।

श्लोक १२ दिस्वान, क्त्वान्त=दिस्वा, इसी प्रकार पस्सित्वान रूप भी होता है। मुळालयो, द्वितीया बहुवचन 'कमलनाल' (मृणाली)।

श्लोक १३ सो। रीडर में 'सा' है किन्तु तडाग से बाहर पुरुष

आया था न कि यक्खिनी। आल्हाबद्धो 'दृढता से बन्धा हुआ'। आल्हक पशुओं को बान्धने की कीली (आधक) होती है।

श्लोक १४ सक्कुणि लुङ्। सक्कुणाति 'शक्नोति', इसी प्रकार सकति से असक्खि भी बनता है। परित्त-सुत्त 'रक्षासूत्र', अर्थात् 'गण्डा' अथवा 'जादू का तागा'। नादा=न अदा 'उसने नहीं दिया'।

श्लोक १५ खिपि 'फेंका'।

अनायन्तेसु सब्बेसु विजयो भयसङ्कितो ॥ १६॥
नद्धपञ्चायुधो गन्त्वा दिस्वा पोक्खरणिं सुभं ॥
अपस्समुत्तिण्णपदं हसन्तिञ्चेव तापसिं।
"इमाय खलु भक्खा मे गहीता नू" ति चिन्तिय;
"किं न पसिस्स भत्ते मे भोति त्वम्" इति आह तं,
"किम् राजपुत्त भत्तेहि, पिव नहाया" त्याह सा ॥ १८ ॥
"यक्खिनी ताव जानाति मम जातिन्" ति निच्छितो
सीघं सनामं सावेत्वा धनुं सन्धायुपागतो ॥ १९ ॥
यक्खिम् आदाय गीवाय नाराच-वलयेन सो
वामहत्थेन केसेसु गहेत्वा दक्खिनेन तु—
उक्खिपित्वा असिं आह "भक्खे मे देहि दासि, तं
मारेमीति" भयट्ठा सा जीवितं याचि यक्खिनी-
"जीवितं देहि मे सामि, रज्जं दस्सामि ते अहं—
करिस्सामित्थिकिच्चञ्च अञ्ञं किञ्च यथिच्छितं"
अदूभत्थाय सपथं सो तं यक्खिम् अकारयि,
"आनेहि भत्ते सीघन्" ति वुत्तमत्ता व सा नयि ॥ २३ ॥
"इमे छाता" ति वुत्ता सा तण्डुलादि विनिद्दिसि
भक्खितानं वाणिजानं नावट्ठं विविधं बहुं
भक्खा ते साधयित्वान भत्तानि व्यञ्जनानि च
राजपुत्तं भोजयित्वा सब्बे चापि अभुञ्जिंसु ॥ २५ ॥

श्लोक १६ अनायन्त 'न आता हुआ'। नद्ध 'बन्धा हुआ, सजा हुआ'। अपस्स०-'जहाँ उसने किसी आते हुए व्यक्ति के पदचिन्हों को नहीं देखा,'-म्-सन्धिव्यञ्जन है। भच्चा 'नौकर', (भृत्याः)। भोति 'हे भद्रे'।

श्लोक १६ स-नामं 'उसका नाम'। सावेत्वा, (सुणोति) का क्त्वान्त णिजन्त। संधाय 'तय्यार होकर' खींच कर, इसी प्रकार संदहाति, संधेति (सम्+धा) से सन्धेत्वा, सन्दहित्वा, रूप भी बनते हैं।

श्लोक २० नाराच 'एक हथियार'। वलय-'पाश'।

श्लोक २१ भयट्ठा=भय-स्था।

श्लोक २२ किच्च (कृत्यम्), इसी प्रकार शौरसेनी में भी।

श्लोक २३ अदूभत्थाय। 'जिस से उसके साथ विश्वासघात न हो'। सपथं 'शपथ'।

श्लोक २४ छाता 'भूखा' (प्सात) § ३१। विनिद्दिसि 'दिखलाया' (वि+निर्+दिश्)।

उद्धरण नं० ३४

प्राचीन प्राकृत

हाथीगुम्फा शिलालेख

यह शिलालेख उदयगिरि गुफाओं के, जो कटक से उन्नीस मील दूर हैं, शिलालेखों में से एक है। इसका एक शुद्धपाठ लीडन की ओरियन्टलिस की छट्ठी अन्तर्जातीय कांग्रेस की कार्यवाही में १८८३, पार्ट ३, पृष्ठ १३५, भगवान् लाल इन्द्रजी ने प्रकाशित किया था। तब से नये ठप्पों के आधार पर, जिनमें पटना अजायबघर के सांचे और ठप्पे भी शामिल हैं, मूलपाठ श्रीयुत जयस्वाल द्वारा सम्पादित किया गया है। यह संशोधित पाठ बिहार

और उड़ीसा रिसर्च सोसायटी के पत्र में, १९१७, १९१८ और १९२७, मिलेगा। इस में दिया सम्वत् मौर्य काल का नहीं यह सिद्ध हो चुका है। यह प्राचीन ब्राह्मी लिपि में लिखा हुआ है और इसका समय सन् ईसवी की दूसरी शताब्दी रक्खा गया है। शिलालेख में खारवेल के राज्य का वर्ष वर्ष का संक्षिप्त ब्योरा दिया हुआ है। दुर्भाग्य से यह शिलालेख बहुत विशीर्ण और टूटी फूटी दशा में है। जैसा कि अशोक के शिलालेखों में देखा जाता है, व्यञ्जनों का द्विर्भाव प्रकट नहीं किया गया।

नमो अरहन्तानम्। नमो सब्ब-सिद्धानम्। वेरेन (अथवा ऐरेन)
महाराजेन महा-मेघ-वाहनेन चेति-राज-वंस-वधनेन
पसथ-सुभ-लखनेन चतुरन्त-ल लुंठित-गुनोपगतेन
कलिङ्गाधिपतिना सिरि- खारवेलेन पन्दरस- बस्सानि
सिरि-कडार-सरीर-वता कीडिता कुमार-कीडका।

अर्हतों को नमस्कार। सब सिद्धों को नमस्कार। कलिङ्गा-धिपति श्रीखारवेल वीरमहीपति महामेघवाहन, चेदिराजवंश शिरोमणि ने, जो प्रशंसित और शुभ लक्षणों से युक्त था और चारों दिशाओं को लूटपाट करने के गुणों से समलङ्कृत था, श्री कडार के जैसे शरीर से पन्द्रह वर्ष तक राजक्रीडा की।

व्यक्तिवाचक नामों के विवेचन के लिये जयस्वाल के उल्लिखित लेखों को देखें। पसथ=प्रशस्त। जयस्वाल का अन्तिम पाठ लुठित है किन्तु यहाँ अनुस्वार का होना सम्भव है, अतएव=लुण्ठित लुटा गया। पंदरस तुलना करो पाली पन्नरस, पालि अर्धमागधी जैन माहाराष्ट्री पण्णरस, अपभ्रंश पण्णरह, हिन्दी पन्द्रह इत्यादि। यह बात उल्लेखनीय है कि इसमें द इतने प्राचीन काल में पाया जाता है। 'कडार' कुमार पढ़ा जाता था।

(२) ततो लेख-रूप गणना-ववहार-विधि-विसारदेन सव-विजा-वदातेन नव-वसानि योवराजं पसासितं।

इसके उपरान्त उस लेख रूप (सिक्के ?) गणना और व्यवहार-विधि में कुशल और सब विद्याओं में पारङ्गत कुमार ने नौ वर्ष तक युवराज की हैसियत से शासन किया।

रूपका अर्थ सन्दिग्ध है, सम्भवतः उसका अर्थ "चित्रकारी नहीं है" जयस्वाल ने व्यवहार और विधि को "म्युनिसिपल कानून और धर्मविधान" के अर्थ में अलग अलग लिया है। सर्वविद्यावदात, विद्याओं की चार से चौसठ तक भिन्न भिन्न-संख्यायें दी गयी हैं। योवराजं=यौवराज्यम्। प्रशासितं।

(३) संपुण-चतुवीसति-वसो तदानि वधमान-सेसयो वेनभि विजयो ततिये कलिङ्ग-राज-वंस-पुरिस-युगे महाराजाभिसेचनं पापुनाति।

बढ़ते हुए शैशव के अनन्तर चौबीस वर्ष (की आयु के) पूरे हो जाने पर वेन जैसा विजेता कलिङ्ग राजवंश की तीसरी पीढ़ी में महाराज के पद पर अभिषिक्त हुआ।

पाठ बिल्कुल स्पष्ट नहीं हैं। वर्धमानशैशवः।

(४) अभिसित-मतो च पधम-वसे वात-विहत-गोपुर-पाकार-निवेसनं पटिसंखारयति कलिङ्ग-नगरि (म्), खिबीर-इसि-ताल-तडाग- पाडियो च बंधापयति सवूय्यान-पटिसंठपनं च कारयति, पनतीसाहि सत-सहसेहि पकतियो रंजयाति।

अभिषिक्त होते ही उसने प्रथम वर्ष कलिङ्ग नगर का प्रति-संस्कार किया जिसका फाटक, प्राकार और भवन तूफ़ान से छिन्न भिन्न हो गये थे और उसने "खिबीर-रिशि" तडाग का बांध बन्धवाया और सारे उद्यानों का प्रतिसंस्थापन करवाया। पैंतीस लाख से उसने प्रजा का अनुरञ्जन किया।

पधम, पालि पठम, शौ० एते पढम। खिबीर का अर्थ पहले शिबिर लिया जाता था। "खिबीर रिशि" का उद्बोधन श्रीयुत जयस्वाल ने कराया है। पाडि (पालि) 'बांध'। पैंतीस लाख को

जयस्वाल ने जनता की संख्या माना है, किन्तु इससे अधिक संभव यह है कि उसका सम्बन्ध 'व्यय' से है।

(५) दुतिये च वसे अचितयिता सातकणिं पछिमदिसं हय-गज-नर-रध-बहुलं दंडं पठापयति । कन्ह-बेंना गताय च सेनाय वितासितं मुसिक-नगरं।

और दूसरे वर्ष शातकर्णि की उपेक्षा करके उसने पश्चिम में हाथी घोड़े पदाति और रथों की एक बड़ी भारी सेना भेजी। और सेना के कृष्णवेणा में पहुँच जाने पर उसने मुसिक नगर को वित्रस्त किया।

अचिंतयिता पढ़ें। चट्टान की हालत से प्रायः यह अनिश्चित हो जाता है कि अनुस्वार लिखा गया था या नहीं। ?-बेंना की जगह -वेनां पढ़ें।

(६) ततिये च पुन वसे गन्धव-वेद-बुधो दंप-नत-गीत-वादित-संदंसनाहि उसव-समाज-कारापनाहि च कीडापयति नगरिं।

तीसरे वर्ष गन्धर्व-वेद में निष्णात होने से उसने दंप (?) नाच और गीत-वाद्य के प्रदर्शनों और उत्सवों और खेलों के द्वारा नगर का मनोविनोद किया।

दंप का अर्थ सन्दिग्ध है। नत=नर्त। वादित=वादित्र। उसव अर्थात् उस्सव=उत्सव।

शिलालेख शासन-काल के तेरहवें वर्ष तक चला गया है। किन्तु पाठ के बीच बीच में इतने शब्द टूटे हुए हैं कि शेष शब्दों या अक्षरों की व्याख्या करना प्रायः कठिन है। आठवें वर्ष उसने राजगृह के राजा को क्लेश पहुँचाया—(राज-गह-नपं पीडापयति)[1]—जो, मालूम होता है, अपनी सेना को छोड़ कर मथुरा को भाग गया। बारहवें वर्ष उसने मगध के लोगों में बड़ा आतङ्क फैलाया—(मगधानं च विपुलं भयं जनेतो)-

---

१ जयस्वाल अब 'राजगहं उपपीडयति' पढ़ते हैं।

अपने हाथियों को गंगा का जल पिलाया और मगध-राज को अपने चरणों में सिर झुकाने के लिए विवश किया—(मगधं च राजानं पादे व(न्)दापयति)।

उत्तरकालीन प्राकृत

अपभ्रंश

उद्धरण नं० ३५

यह उद्धरण धनपालकृत "भविसत्त-कह" से लिया गया है, जिस का सम्पादन १९१८ में जकोबि ने किया था। सन्धि ३, ५२। बन्धुदत्त यात्रा के लिये प्रस्थान करता है। कुरुजङ्गल को छोड़ कर वह दक्षिण-पूर्व की ओर समुद्र को जाता है, वहाँ जहाज़ बनाता है, और कई सौ बैलों और भैंसों को छोड़ कर पांच सौ चुने हुए सौदागरों के साथ जहाज़ पर रवाना होता है।

१ अग्गेय-दिसएँ मलहन्ति जन्ति। कुरुजङ्गलु महि-मंडलु मुअन्ति।

२ लङ्घन्ति विसम काणण पलंब। पुर-गाम-खेड कव्वड-मडंब।

३ जउणा-नइ-सलिलु समुत्तरेवि। जल-दुग्गइँ थल-दुग्गइँ सरेवि।

४ अमुणन्त-देस- भासइँ नियन्त। रयणायरे वेलाउलइँ पत्त।

५ लक्खिउ समुद्दु जल-लव-गहीरु। सप्पुरिसु व थिरु गम्भीरु धीरु।

६ आसीविसो व्व विस-विसम-सीलु। वेला-महल्ल-कल्लोल-लीलु।

७ दिट्ठइँ विउलइँ वेलाउलाइँ। कय-विक्कय-रय-वयणाउलाइँ।

८ धम्मत्थ-काम-कंखिर-सुहाइँ । सुवियड्ढ-वयण-विलया-मुहाइँ ।

९ तहि ठाइवि जलजन्तइँ कियाइँ । परिहरिवि वसह-महिसय-सयाइँ ।

१० जलजन्ता कम्मन्तरु करेवि । करणइँ पिय-पयणहिं संवरेवि ।

११ वहणहिं आरूढ महापहाण । वणिवरहँ सयहिं पञ्चहिं समाण ।

१ आग्नेय-दिशा । मल्हन्त 'खेलना' पढ़ें, यह देसी शब्द है । मुश्रन्ति मुञ्चन्ति के लिए *मुचन्ति से :

२ विजन-, प्रलम्ब, खेट 'गांव' कर्वट । *मडम्ब या *मटम्ब (?)

३ समुत्तरेवि 'पार करके लिखो कृदन्त ।

४ नियन्त 'निरीक्षण करते हुए' । रत्नाकरे, वेलाकुल 'तट' ।

६ आशीविष 'साँप' । महल्ल=मह+अल्ल ।

७ विपुलानि । क्रय-विक्रय-रत-वचनाकुलानि ।

८ कङ्खिर=काङ्क्षिन् । सुविदग्ध । विलया (वनिता) देशी ।

९ ठाइवि, स्थित्वा के लिए । जल-यन्त्र 'जहाज़' ।

११ महाप्रधानाः ।

अन्तिम व्यञ्जनों की अल्पप्राणता, द्वितीया के प्रथमा के साथ मिल जाने और असंस्कृत शब्दों की बहुलता पर ध्यान दें ।

———

प्राकृतशब्दानुक्रमणिका

[प्रथम भाग के उदाहरणों एवं द्वितीय भाग के फुटनोटों में विवृत ।]

अस्स, (१) 'अस्त', § ११० ।
(२) 'अश्व', § ४६, तु०माहा०आस ।
अस्सु, अश्रु, § ६४, तु० अंसु ।
अह, अथ, § १४, शौ० अध ।
अहकं, पुरानी अमा०, पृ १००। अहम
अहर, अधर,पृ१८१,छं० ६३।
अहिघाअ,(अभि+ √हन्,पृ)१८०,छं०६१
अभिघातं
अहिणव, अभिनव, § १३ ।
अहिएणाण, अभिज्ञान, पृ १३६,नो१२।

आ

आअद आगत, § २ ।
आ य् अव, आतप, पृ २२८, नो ५ ।
आआस (१) 'आयास',पृ० १५७,नो४।
(२) 'आकाश', पृ १७६ (ब)।
आआरेदि, आकारयति आ+ √कृ, पृ १५७, नो ६।
आइट्ठा, जैमाहा० आदिष्टा, पृ१६६नो२
आइहिं, अप० आदौ, § ६३ ।
आउसो,अमा०, आयुष्मत्,पृ२२५, नो२
आओज, जैमाहा०, आतोद्य,पृ१६६नो८
आगद, शौ०=आअद, § २ ।
आगन्तुं, जैमाहा०, पृ १६०, नो ५।
आगार, अमा०, पृ०११८, नो ५ ।
आगास,अमा०, जैमाहा०=आआस,§११
आयारिअ, आचार्य,§५८ ।
आढत्त, § १२५ ।
आढप्पइ, § १३५ ग
आणत्त, आज्ञप्त § १२५ ।
आणवेदि, आज्ञापयति, § ३६ ।
आणिअ, आनीत, §१२५ ।
आणीद, शौ०, आनीत § १२५ ।
आणेसु, §११६ । आनयस्व
आणे, जाने, पृ १६८ (स)
आभिओइअ, आभिओगिय, अमा०, पृ २१६, नो ४ ।
आमॉरिस, अमर्ष, § ५७ ।
आरद्ध, आरब्ध, § १२ ।
आरब्भइ, आरम्भदि, §१२५ ।
आरुहइ, आरोहति, § १२५ ।
आलिद्ध, पृ १८०, छं० ६१।
आलेक्ख, आलेख्य, पृ १२८ । नो ६
आवज्जिअ, जैमाहा०,पृ २११, नो २ ।
आवर्जित
आवत्त, पृ १७६, छं० ६ ।आवर्त्त
आविइअ, आवेदित, पृ १६२, नो ८ ।
आस=अस्स, अश्व ।
आस, द्वितीया बहुव०, अमा०, §६२।
आसी, आसीत् § १३३ ।
आसीददि, शौ०, आसीत् §१२५।
आहउ, अप०, आहव, पृ १०३ ।
आहंसु, अमा०, §१३३ । 'आहु' भी होता है।
आहेवच्च,अमा०,आधिपत्य,पृ २१७,नो५

इ

इ=इति, पृ २०५, छं० १० ।
इअ=इति, पृ १७३ (इ)

घ

शुद्धिपत्र।

पृष्ठ	पंक्ति	फुटनोट	अशुद्ध	शुद्ध
१७	१	१ ९	पाठ छूट गया	स्वरमध्यवर्ती प्, ब्, व् का कभी लोप हो जाता है। माहा० रूअ=रूप, विउह=विबुध, दिअह--दिवस। स्वरमध्यवर्ती "य्"